नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

चौथा भाग—संवत् १९८०

(१) सोमेश्वरदेव और कीर्तिकौमुदी।

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

सोमेश्वरदेव का रचा हुआ कीर्तिकौमुदी नाम का एक ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें प्रधान रूप से धोलका के चौलुक्य (बघेल) वंशी सामंत लावण्यप्रसाद (लवणप्रसाद) और वीरधवल के मंत्री वस्तुपाल का तथा प्रारंभ में अणहिलवाड़े (पाटण) में राज्य करनेवाले चौलुक्य (सोलंकी) वंश के राजा मूलराज से लेकर भीमदेव (दूसरे) तक का, एवं धोलका में राज्य करनेवाले अर्णोराज से वीरधवल तक के बघेल शाखा के सोलंकी राजाओं का वृत्तांत लिखा हुआ है। इस ग्रंथ का संपादन श्रीमान् आबाजी विष्णु काथवटे ने किया और बंबई सरकार ने सन् १८८३ ई० में इसकी ३०० प्रतियाँ छपवाकर संस्कृत साहित्य के सेवकों को अतुलनीय लाभ पहुँचाया। इस समय यह ग्रंथ दुष्प्राप्य है। हिंदी भाषा के प्रेमियों को इस ग्रंथ का सार तथा ग्रंथकार का परिचय देने के लिए पंडित गौरीशंकर

ओझाजी की प्रेरणा तथा सहायता से यह निबंध लिखा जाता है। यह बात सुप्रसिद्ध है कि संस्कृत के ग्रंथकार अपने आप अपना परिचय देने में अत्यंत संकुचित-चित्त रहे हैं, यहाँ तक कि अनेकों ने तो अपना नाम भी अपने ग्रंथों में नहीं लिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि आज दिन बहुत देखभाल करने पर भी जैसी चाहिए वैसी किसी भी प्राचीन ग्रंथकार की जीवनी तैयार नहीं हो सकी है। यह हर्ष की बात है कि सोमेश्वरदेव के विषय में हमको इतना भग्नमनोरथ नहीं होना पड़ा। यद्यपि कीर्तिकौमुदी में तो "इति श्रीगुर्जरेश्वरपुरोहितश्रीसोमेश्वरदेवविरचिते कीर्तिकौमुदीनाम्नि महाकाव्ये......वर्णनोनाम...सर्गः" लिखकर इस ग्रंथकार ने इतना ही परिचय दिया है कि वह गुर्जरेश्वर का पुरोहित था और एक दो सर्ग में अपना थोड़ा सा संकेत कर दिया है, परंतु उसने अपने रचे हुए "सुरथोत्सव काव्य" के अंत में कवि-प्रशस्ति-वर्णन नाम का एक सर्ग लिख कर अपने १० पूर्वजों का पर्याप्त चरित्र वर्णन किया है जिसका सार निम्नलिखित है।

द्विजों का "नगर" (आनंदपुर = बड़नगर, गुजरात में) नाम का एक स्थान है जहाँ पर विहित आचारों की प्रधानता है। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नियों द्वारा पवित्र होने से उस स्थान में कलि किसी भी प्रकार का कलंक उत्पन्न करने में असमर्थ है। वह वास्तव में एक सच्चा तीर्थ है। वहाँ पर सब लोग वेदपाठी हैं और वृद्ध तो क्या कोई बालक भी आचारहीन नहीं है। सचमुच ऐसा जँचता है कि उस स्थान के ऐश्वर्य और पवित्रता से आकर्षित होकर देवता लोग स्वर्ग को त्याग ब्राह्मणों का स्वरूप धारण कर वहाँ निवास कर रहे हैं। वहाँ पर वशिष्ठ गोत्रोत्पन्न ब्राह्मणों का "गुलेचा" नाम का एक कुल था जिसमें "सोल" नाम का एक पंडितरत्न उत्पन्न हुआ। जैसे भगवान् वशिष्ठ ने सूर्य्यवंश में प्रतिष्ठा प्राप्त की वैसे ही उसने पाटण के चौलुक्यवंश के स्थापक भूपाल मूलराज का पुरोहित बनकर महती प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसने प्रयाग में सोमयज्ञ करके स्वर्ग में

गए हुए पितरों को प्रसन्न किया और इस कलिकाल में भी विधिवत् वाजपेय यज्ञ किया। उसके चरित्रों का कहाँ तक वर्णन करें, इतना ही कहकर समाप्त करते हैं कि वह ऋग्वेदपाठी, अनेक यज्ञ करनेवाला, अन्नदाता तथा जितेंद्रिय था। उसके पुत्र का नाम "लल्लशर्मा" था जो चामुंडराज का पुरोहित रहा। उसके पुत्र का नाम "मुंज" था और वह दुर्लभराज का पुरोहित रहा। वह इतना गुणवान् था कि उसके होते हुए दुर्लभराज को इस संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहा। उसके पुत्र का नाम "सोम" था जिसकी कृपा से भी भूपाल ने सर्वत्र विजयश्री प्राप्त की। उसके पुत्र का नाम "आमशर्मा" था। उसने सात प्रकार का ज्योतिष्टोम यज्ञ किया और वह "सम्राट्" नाम की पदवी से विभूषित हुआ। वह कर्ण नाम के नृपति का पुरोहित था और उसने उस राजा से धन प्राप्त करके शिवालय तथा अच्छे अच्छे जलाशय बनवाए और ब्राह्मणों को दान दिया। एक समय कर्ण ने धाराधीश पर चढ़ाई की तो उसके पुरोहित ने अपने राजा की सेना को अति आकुल व्याकुल देख एक "कृत्या" उत्पन्न कर दी, परंतु आमशर्मा ने अपने मंत्रों के प्रभाव से न केवल अपने पक्ष की रक्षा की किंतु उस ही कृत्या द्वारा उस पुरोहित का वध कर दिया। आमशर्मा के "कुमार" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह भी अपने पूर्वजों के अनुसार चरित्रशाली हुआ। उसके ही आशीर्वाद से सिद्धराज ने अति प्रौढ़प्रताप सिंधुदेशाधिपति को भी पकड़ लिया, बलवान् मालवपति को उसकी स्त्रियों सहित कारावास में रख दिया और घमंडी सपादलक्ष के नृपति को सिर झुकाना सिखाया। उसने अनेक यज्ञ किए और तड़ाग बनवाए। कुमार के "सर्वदेव" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका मानव धर्मशास्त्र में असीम पांडित्य था। वह विष्णु का उपासक था। अपने पूर्वजों के अनुसार उसने भी यज्ञ किए, दान देकर मनुष्यों को तृप्त किया परंतु उसने अपना हाथ दान लेने के लिये कभी नहीं फैलाया। उसके पुत्र का नाम "आमिग" था जिसने मुख्यतया वैदिक विधियों का

अनुसरण किया। उस सत्कर्म करने में प्रीति रखनेवाले को दो बातें संकोचप्रद थीं, एक तो श्रेष्ठों से अपनी बड़ाई सुनना और दूसरी संसाररूपी बंधनागार में स्थिति। जैसे ब्रह्मा से चार वेद उत्पन्न हुए वैसे ही उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सबसे बड़ा और विद्वानों में श्रेष्ठ "सर्वदेव" था। उसके दूसरे पुत्र का नाम कुमार, तीसरे का मुंज और चौथे का आह्लड था। सर्वदेव ने राजा कुमारपाल के फूल (हड्डियाँ) गंगाजी में डाले और दान द्वारा गया और प्रयाग के ब्राह्मणों को तृप्त किया। स्थान स्थान पर उसने जलाशय बनवाए। वह प्रति दिन शंकर की पूजा करता, प्रत्येक ब्राह्मण का सत्कार करता, और घर घर में उसकी प्रशंसा होती थी। उसका भ्राता "कुमार" भी बहुत यशस्वी था। एक समय सूर्यग्रहण के अवसर पर महाराज कुमारपाल के पुत्र (उत्तराधिकारी) अजयपाल ने उसको अमूल्य रत्नराशि देने का आग्रह किया परंतु उसने लेना अंगीकार न किया। वह "कटुकेश्वर" नामक महादेव की आराधना किया करता था और उसने युद्ध* में लगे हुए अजयपाल के शरीर के दारुण घावों की व्यथा को दूर किया। एक समय अकाल के कारण लोगों को अस्थिपंजर-रूप दुर्बल देखकर उसने पदार्थवादी होकर मूलराज से उनका कर छुड़वाया। प्रतापमल्ल ने, जो कि राष्ट्रकूट, (राठोड) वंश में उत्पन्न हुआ था, उसको अपना "प्रधान" (महामंत्री) बनाया। चुलुक्य राजा ने एक अवसर पर उसको सेनापति नियत किया और इस काम में भी उसने अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर अपने आपको योग्य सिद्ध किया। एक और अवसर पर वह धाराधीश यशोवर्मा के पौत्र विंध्यवर्मा से लड़ा और उसने न केवल

---

* यह युद्ध मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के साथ हुआ जिसमें अजयपाल बुरी तरह से घायल हुआ था। उसके राज्य और प्राणों की रक्षा गुजरात के सामंत आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रह्लादनदेव (पालनसी) ने अपनी वीरता से की थी।

उसको भगा दिया किंतु उसका गोग स्थान नाम का नगर उजाड़कर उसके राजमहल की जगह पर एक कूप खुदवा दिया। यद्यपि उस युद्ध में सोना तो हाथ न लगा परंतु वह और बहुत सा धन ले आया। उसने गयाजी में जाकर श्राद्ध किया और वहाँ पर सोने चाँदी का दान दिया। उसने म्लेच्छराजा की अतुलित सेना को राणीसर के समीप जीता, गंगाजी के जल से विधिवत् तर्पण कर पितरों को तृप्त किया और निर्जल स्थानों में जलाशय बनवाकर बहुत यश प्राप्त किया। वह "भूर्भुवः स्वः" इन तीन महा व्याहृतियों का उच्चारण किया करता था और दोनों प्रकार के षट्कर्मों (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह तथा संधि, विग्रह आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव) में निपुण था। उसने यज्ञ में शास्त्र और युद्ध में शस्त्र-कौशल को बहुत कुछ प्रकट किया। उसके सुशोभित शरीर पर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) और हाथ में राजसूत्र सर्वदा विराजमान रहे। अरुंधती के समान सदा आज्ञाकारिणी तथा इस पृथ्वी पर साक्षात् लक्ष्मी के समान "लक्ष्मी" नाम की उसकी स्त्री थी। उसके महादेव, सोमेश्वरदेव और विजय नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। यहाँ तक सोमेश्वरदेव की ही लेखनी से उसके वंश का परिचय मिलता है। यद्यपि सोमेश्वरदेव ने संवत् नहीं लिखे हैं परंतु उसका जो जो पूर्वज जिस जिस राजा का पुरोहित रहा उसका उल्लेख किया है। उन राजाओं के समय ही, जो कि अन्य साधनों से विदित हैं, उन उन पुरोहितों के भी समय माने जा सकते हैं। आधुनिक शोध के अनुसार हम नीचे गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजाओं की नामावली उनके राजत्वकाल के निश्चित संवतों के साथ देते हैं जिसमें उन राजाओं का तथा उनके पुरोहितों का समय भी ज्ञात होगा—

पुरोहितों के नाम	गुजरात के राजाओं के नाम	राजाओं का राज्य काल (विक्रम संवत् में)
सोल	मूलराज (प्रथम)	१०१७—१०५२
लल्लशर्मा	चामुंडराज	१०५२—१०६६
	वल्लभराज	१०६६ (६ मास)
मुंज	दुर्लभराज	१०६६—१०७८
सोम	भीम (प्रथम)	१०७८—११२०
आम शर्मा	कर्ण	११२०—११५०
कुमार (प्रथम)	जयसिंह सिद्धराज	११५०—११९९
सर्वदेव (प्रथम)		
आमिग		
	कुमारपाल	११९९—१२३०
कुमार (दूसरा)	अजयपाल	१२३०—१२३३
	मूलराज (द्वितीय)	१२३३—१२३५
सोमेश्वर	भीम (द्वितीय)	१२३५—१२९८

ऊपर लिखे हुए वर्णन से पाठकों को विदित होगा कि जिस ब्राह्मण वंश में सोमेश्वरदेव ने जन्म लिया उसमें उसके पूर्व २५० वर्ष तक निरंतर वैदिक क्रियाएँ होती रहीं। ये सबके सब पुरोहित थे। इनमें से कई एक के यज्ञ करने और युद्ध करने का वर्णन देख आज-कल यह समझकर कि ब्राह्मणों का काम केवल लिखना पढ़ना और क्षत्रियों का युद्ध करना है, कदाचित् किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो कि इन लोगों में ब्रह्म और क्षात्र कर्म का अनुचित मिश्रण कैसा? इसके समाधान के लिए कुछ पंक्तियाँ "पुरोहित" के विषय में लिखना

आवश्यक जान पड़ता है। निरुक्त में दी हुई एक ऋचा का, जिसमें पुरोहित का वर्णन है, व्याख्यान करते हुए टीकाकार दुर्गाचार्य लिखते हैं "पुरोहितः शांतिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु पुर एवं दधति राजानः पुरस्कुर्वन्तीत्यर्थः" इससे सिद्ध है कि पुरोहित का राजा के साथ संबंध होना अत्यंत प्राचीन है परंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विनयाधिकार के "मंत्रिपुरोहितोत्पत्तिः" नामक नवम अध्याय के निम्नलिखित शब्दों से पुरोहित की आवश्यकता तथा उसके गौरव और नियोग (कर्तव्य) का सम्यक् रूप से पता लग जाता है—

"पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्य स्वामिनमिव चानुवर्तेत।

ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगम (गत) शस्त्रितम्॥

अर्थ—जो सुप्रसिद्ध कुल और शील वाला हो, वेद वेदांग का पूर्ण ज्ञाता हो, दैवी और मानुषी निमित्तों के प्रतिफलों का बोध कर सकता हो, दंडनीति (राजविद्या) में कुशल हो, विनयशील हो, दैवी और मानुषी आपत्तियों को अथर्ववेद में बताए हुए उपचारों द्वारा दूर कर सकता हो, उसको पुरोहित पद पर नियुक्त करे और जैसे शिष्य आचार्य के, पुत्र पिता के, सेवक स्वामी के साथ बर्ताव करते हैं वैसे ही राजा उसके साथ करे। वह राजा (या राज्य), जो ब्राह्मणों से प्रभावित किया हुआ, अच्छे अच्छे मंत्रियों की सलाह में रंजित तथा शास्त्रों के नियमों के अनुसार बर्ताव करने वाला हो, बिना शस्त्र के भी अत्यंत अधृष्य को दबा लेता है और आप निरंतर अदम्य रहता है।

इतना बताया जा चुका है कि सोमेश्वरदेव के पिता का नाम कुमार, माता का लक्ष्मी, बड़े भाई का महादेव और छोटे का विजय था। सोमेश्वर के पूर्वज पुरोहित पद के विषय में ऊपर वर्णन किए हुए कर्तव्यों के संपादन में कितने सफल हुए यह भी पाठकों को

भली भांति विदित हो गया होगा। सोमेश्वरदेव ने अपनी विद्या और बुद्धि का परिचय बहुत कुछ दिया है। इसने संस्कृत साहित्य के कई विषयों का अध्ययन किया ऐसा उसकी रचना से ही पाया जाता है। इसके पूर्वज विशेषतया वैदिक पंडित थे और ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने किसी ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, क्योंकि यदि किया होता तो सोमेश्वर उनके गुणों का वर्णन करता हुआ ग्रंथ-निर्माण के वर्णन करने को कभी नहीं भूलता। इसलिए इस बात की बड़ाई सोमेश्वर को ही है कि उसने अपने कुल में प्रथम ग्रंथकार बनकर अपनी, अपने पूर्वजों की और उन लोगों की, जिनका वर्णन उसने अपने ग्रंथों में किया है, ख्याति अब तक संसार में जीवित रक्खी। उसने अपने सुरथोत्सव काव्य में अपनी कविता की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वस्तुपाल, हरिहर, सुभट आदि कविप्रवर इसकी कविता की बहुत प्रशंसा किया करते थे। यह सर्वथा सत्य है। ये ही क्या, सुभाषित संग्रहों तथा अन्य प्रबंधादि ग्रंथों में सोमेश्वर की कविता को बड़े आदर के साथ स्थान दिए जाने से यह सिद्ध है कि उसकी कविता के उसके जीते जी और पीछे अनेक प्रशंसक हुए। सुरथोत्सव में उसने अपनी कवित्व-शक्ति के विषय में लिखा है कि—

काव्येन नव्यपदपाकरसास्पदेन।
यामार्धमात्रघटितेन च नाटकेन॥
श्रीभीम भूमिपतिसंसदि सभ्यलोक-
मस्तोकसंमदवशंवदमादधेयः॥

आशय—(सोमेश्वर ने डेढ़ घंटे के समय में एक नाटक और एक सुंदर भावपूर्ण काव्य की रचना करके श्रीभीम राजा की सभा के सभ्यों के हृदयों को अत्यंत परितोष दिया।) इस नाटक और काव्य का क्या नाम था और उनमें क्या बात थी इसका तो पता नहीं परंतु इस समय जो सोमेश्वरदेव के अन्य ग्रंथ तथा प्रशस्तियाँ प्राप्त हैं वे निम्नलिखित हैं—

(१) सुरथोत्सव—इस महाकाव्य में १५ सर्ग हैं और श्लोक संख्या

११८७ है। यह मार्कंडेय पुराण के देवीमाहात्म्य या सप्तशती की शैली पर लिखा गया है और निर्णय-सागर की "काव्य-माला" में छप चुका है।

(२) रामशतक—इसकी एक प्रति जिसमें १२ पत्रे हैं और प्रत्येक पत्र पर लगभग ३० अक्षरों की १२ पंक्तियाँ हैं डा० भंडारकर को मिली थी।

(३) काव्यादर्श
(४) काव्यप्रकाश टीका } सुरथोत्सव की भूमिका में Catalogus Catalogorum के आधार पर ये पुस्तकें भी इसी कवि की बनाई हुई लिखी हैं। वास्तव में "सोमेश्वर" ने जो काव्यप्रकाश की टीका की है उसी का नाम "काव्यादर्श" है परंतु उस टीकाकार ने—"इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते चतुर्थ उल्लासः" ऐसा लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि वह गुर्जरेश्वर के पुरोहित सोमेश्वरदेव से भिन्न व्यक्ति था। अतः परं बहुज्ञाः प्रमाणम्।

(५) उल्लाघराघव—यह एक नाटक है। इसके प्रत्येक अंक के अंत में सोमेश्वर ने एक श्लोक वस्तुपाल की प्रशंसा का लिखा है।

(६) कीर्तिकौमुदी—इसके विषय में आगे लिखेंगे।

(७) आबू के देलवाड़ा गाँव के सुप्रसिद्ध तेजपाल के बनाए हुए "लूणवसही" मंदिर की प्रशस्ति—यह प्रशस्ति विक्रम संवत् १२८७ में उक्त मंदिर में लगाई गई थी। इसमें ७४ श्लोक हैं, जिनमें वस्तुपाल तेजपाल के कुल, मंदिर के बनने आदि का बहुत उपयोगी वृत्तांत लिखा हुआ है।

(८) गिरनार के पर्वत पर वस्तुपाल तेजपाल के जीर्णोद्धृत मंदिर पर लगी हुई दो प्रशस्तियाँ—ये प्रशस्तियाँ गद्य और पद्य में लिखी हुई हैं और विक्रम संवत् १२८८ में लगाई गई थीं।

(९) वीरनारायण नाम के प्रासाद की प्रशस्ति—यह मंदिर वीरधवल ने पाटण में बनवाया था और सोमेश्वरदेव ने १०८

श्लोकों में उसकी प्रशस्ति लिखी थी ऐसा जैन राजशेखर विरचित प्रबंधकोश में हरिहर के विषय के प्रबंध से ज्ञात होता है। अब यह प्रशस्ति उपलब्ध नहीं है, एवं अन्य प्रशस्तियाँ और संभवतः अन्य ग्रंथ भी इस कवि के बनाए हुए होंगे ऐसा माना जा सकता है।

सोमेश्वरदेव के जीवन की कतिपय घटनाएँ

अपने पूर्वजों के अनुसार सोमेश्वर भी राजपुरोहित रहा, परंतु इस स्थिति में उसके किसी सैनिक कार्य्य का उदाहरण हमको नहीं मिलता। तो भी उसका प्रभाव राजकुल पर बहुत कुछ सबल रहा। सोमेश्वरदेव ने ही राणा लावण्यप्रसाद से प्राग्वाटवंशी वस्तुपाल और तेजपाल की प्रशंसा करके उनको मंत्रीपद पर नियुक्त करवाया था। ये दोनों भाई बड़े ही नीतिकुशल, गुणी, वीर, परोपकारी और विद्वानों का सत्कार करनेवाले हुए। सोमेश्वर ने इन्हीं मंत्रियों के उत्तम गुणों से रंजित होकर कीर्तिकौमुदी और गौणरूप से सुरथोत्सव तथा उल्लाघराघव में, उनकी जीवनी या प्रशंसा लिखी है। अन्य अनेक विद्वानों ने भी इन पुरुषरत्नों के विषय में कई एक ग्रंथ लिखे हैं। सोमेश्वरदेव का संबंध इन दोनों भाइयों से बहुत घनिष्ठ रहा, इसलिए उनके संबंध के अन्य ग्रंथों में भी सोमेश्वर का वर्णन मिलता है और उन्हीं साधनों के आधार पर हम सोमेश्वर की शेष जीवनी की कतिपय घटनाएँ नीचे लिखते हैं।

एक समय गौड़देशी हरिहर नाम का एक पंडित बड़े ठाट के साथ गुजरात में आया और पाटण में आकर उसने अपने एक चतुर शिष्य के हाथ राणा वीरधवल, मंत्री वस्तुपाल और पुरोहित पंडित सोमेश्वरदेव के लिए पृथक् पृथक् आशीर्वाद भेजे। शिष्य पहले वस्तुपाल से मिला, उसको आशीर्वाद सुनाया और वह उससे प्रसन्न होकर उसे राजा के पास ले गया। शिष्य ने राजा को भी आशीर्वाद सुनाया। राजा ने मंत्री से पूछा कि इस विषय में क्या करना उचित है। उसने उत्तर दिया कि दूसरे दिन प्रातःकाल धूम-

धाम से पंडितजी का प्रवेशोत्सव और समुचित सत्कार करना चाहिए।

राजा ने मंत्री के कहने को स्वीकार किया। वह शिष्य मंत्री और राजा से मिलकर सोमेश्वरदेव के पास गया और तीसरा आशीर्वाद जिसकी कविता में व्याज-स्तुति से कुछ उसका मात्सर्य द्योतित किया हुआ था उसको दिखाया। उसने उसे ले लिया परंतु उसका चित्त अप्रसन्न हो गया जिसके कारण वह दूसरे दिन उस सभा में नहीं आया। फिर एक समय राजसभा लगी हुई थी और दैवयोग से सोमेश्वर और हरिहर, जिनमें वैमनस्य हो चुका था, दोनों ही वहाँ विद्यमान थे। राजा ने हरिहर से कहा कि हमने इस नगर में वीरनारायण नाम का मंदिर बनवाया है और सोमेश्वरदेव से उसकी १०८ श्लोकों में प्रशस्ति लिखवाई है। आप भी तनिक उस काव्य को देख लो जिससे उसका निर्दोष होना निश्चय हो जाय। हरिहर ने कहा अच्छा! श्लोक सुनवाइए। सोमेश्वर ने अथ से इति तक अपनी रचना पढ़ सुनाई। सब सुनकर हरिहर कहने लगा कि श्लोक बहुत अच्छे हैं। हमारे जाने हुए हैं। हम मालवे में उज्जैन गए थे। वहाँ सरस्वती-कंठाभरण पाठशाला में एक पट्टी पर श्रीभोजदेव का वर्णनात्मक काव्य लिखा हुआ है उसमें से ये श्लोक उतारे गए हैं। यदि हमारे कहने में आपको विश्वास न हो तो आप इनको हमसे क्रमशः कंठस्थ सुन लीजिए और यों कहकर उसने वे सुना भी डाले। इस घटना से राजा खिन्न हो गया, दुष्ट लोग प्रसन्न हुए, वस्तुपाल आदि सज्जनों के हृदयों में दारुण संताप हुआ और सोमेश्वर तो लज्जा के कारण मृतवत् हो गया। यह उसके साथ बड़ा भारी छल किया गया। वह वस्तुपाल के पास गया और कहने लगा कि ये श्लोक मेरे ही बनाए हुए हैं। मेरी कवित्वशक्ति आपको विदित ही है। हरिहर ने जानकर मेरी निंदा करवाई है। वस्तुपाल सोमेश्वर को हरिहर के पास ले गया और वह इसको देखते ही उठ खड़ा हुआ और उसने इसका अतिशय सत्कार किया। अंत में सत्य बात

प्रकट हो गई और उसका वर्णन यह लिखा है कि दूसरे दिन जब हरिहर राजसभा में गया तो प्रस्तावना में बोला "जयति परमेश्वरी भारती, यत्प्रसादादेवं मम शक्तिः" अर्थात् श्री सरस्वतीजी की जय हो जिनकी कृपा से मुझ में ऐसी शक्ति है। राजा सुनते ही बोला—क्या कहा, क्या कहा ? आपमें क्या शक्ति है। हरिहर ने उत्तर दिया कि मैंने कावेरी नदी के तट पर सारस्वत मंत्र सिद्ध किया जिसके प्रभाव से १०८ श्लोक तक एक ही बार सुनकर कंठ कर लेता हूँ। उसने इस विषय की परीक्षा भी दे डाली, फिर क्या था राणा को यह निर्भ्रांत विश्वास हो गया कि उक्त प्रशस्ति के श्लोक सोमेश्वर के निज निर्मित थे, और हरिहर ने भी अपना छल स्वीकार कर लिया। राजा के यह पूछने पर की तुमने सोमेश्वर को क्यों दूषित किया, हरिहर ने उत्तर दिया कि यह मेरा निरादर किया करता था अतः अवसर पाकर मैंने यों बदला लिया। राजा ने कहा खैर ! जो हो गया सो तो हो गया। आप दोनों सरस्वती के पुत्र हैं, आपका आपस में स्नेह होना ही उचित है। यों कहकर उसने दोनों को गले लगा दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे इन दोनों विद्वानों में मेल रहा क्योंकि सोमेश्वर ने लिखा है कि हरिहर उसकी प्रशंसा करता था।

एक समय का वृत्तांत है कि वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियों ने सोमेश्वरादि कवियों की भूमि आदि के दान द्वारा पुष्कल आजीविका कर दी जिसकी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए सोमेश्वर-देव ने कहा—

सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता।
विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मंत्रिणा॥

आशय—पूर्व काल में बुद्धिमान् दुर्गसिंह ने सूत्रों में (व्याकरण के सूत्रों में) वृत्ति (व्याख्या) की परंतु अद्भुत तो यह है कि वस्तुपाल ने विसूत्रों (बिना सूत्रों की रचना पर भी) में वृत्ति (जीविका) कर दी।

एक समय मंत्री वस्तुपाल धोलका से स्तंभपुर (खंभात) गया।

जब वह वहाँ पहुँचा तो उस समय कुछ घोड़े भी नावों में आए हुए थे, जो वहाँ उतारे जा रहे थे। उसने उस समय उन घोड़ों की और समुद्र की ओर देखा और एक समस्या दी।

"प्रावृट्काले पयोराशिः कथं गर्जितवर्जितः ?

अर्थात्—वर्षाऋतु में यह समुद्र बिना गर्जना के क्यों है। सोमेश्वर उस समय पास ही था उसने शीघ्र ही—

"अंतःसुप्तजगन्नाथनिद्राभंगभयादिव" कहकर श्लोक की पूर्त्ति कर दी। सोमेश्वर के उत्तरार्ध का आशय है कि समुद्र अपने भीतर शयन करते हुए विष्णु भगवान् की नींद उचट जाने के भय से वर्षाकाल में भी बिना गर्जना के हो रहा है। वस्तुपाल ने प्रसन्न होकर उसी समय वे अतुल्य १६ घोड़े सोमेश्वर को भेंट किए।

फिर एक समय कई एक कवि बैठे हुए थे और परस्पर में मनोहर संभाषण कर रहे थे। वस्तुपाल और तेजपाल भी उस मंडली में विद्यमान थे। उस समय तेजपाल ने एक समस्या दी "काकः किंवा क्रमेलकः" अर्थात् कौवा या ऊँट। इन असंगत शब्दों से तुरंत युक्तियुक्त श्लोक बना डालना जन्मसिद्ध कवि का ही काम है। इस अवसर पर भी सोमेश्वर ही बाजी ले गया। उसने कहा—

येनागच्छन्ममाख्यातो येनानीतश्च मे पतिः।
प्रथमं सखि ! कः पूज्यः काकः किंवा क्रमेलकः ॥

आशय—कोई स्त्री अपनी सहेली से पूछ रही है कि हे सखी ! जिस (काक) ने परदेश से आते हुए मेरे पति की मुझे सूचना दी और जिस (ऊँट) ने अपनी पीठ पर बिठाकर उसे मेरे समीप ला दिया इन दोनों उपकारियों अर्थात् कौवे और ऊँट में से कौन प्रथम सत्कार करने के योग्य है, समस्या की इस उत्कृष्ट पूर्ति से मंत्री बहुत प्रसन्न हुआ। और उसने सोलह सहस्र द्रम्म सोमेश्वर के भेंट किए।

एक समय जब कि मंत्री वस्तुपाल किसी गूढ़ विचार में संलग्न होकर नीचे भूमि की ओर दृष्टि किए हुए बैठा था सोमेश्वर उसके पास आया और उस अवसर के योग्य निम्नलिखित श्लोक बोला—

एकस्त्वं भुवनोपकारक इति श्रुत्वा सतां जल्पितं
लज्जानम्रशिराः स्थिरातलपदं यद्वीक्षसे वेद्मि तत् ।
वाग्देवीवदनारविंदतिलकं श्री वस्तुपाल ! स्वयं
पातालाद्बलिमुद्दिधीर्षुरसकृन्मार्गं भवान्मार्गति ॥

आशय—"आप ही एक लोकोपकारक हैं—ऐसा श्रेष्ठों को कहते हुए सुनकर लज्जा (विनय) से सिर झुकाए भूमि के तल को जो आप देख रहे हैं उसका तात्पर्य मुझको ज्ञात है और वह यह है कि हे शारदादेवी के मुखारविंद के तिलक श्री वस्तुपाल! आप स्वयं पाताल से बलि का उद्धार करने के लिये (अर्थात् ऊपर लाने के लिये) बारंबार मार्ग ढूँढ़ रहे हैं।" मंत्री ने इस काव्य के पारितोषिक में आठ* सहस्र द्रम्म दिए।

इसी प्रकार वस्तुपाल के बनवाए हुए ललिता सरोवर का वर्णन सोमेश्वर ने नीचे लिखे हुए श्लोक में किया—

हंसैर्लब्धप्रशंसैस्तरलितकमलप्रत्तरङ्गैस्तरङ्गैः
नीरैरन्तर्गभीरैश्चटुलबककुलग्रासलीनैश्च मीनैः ।
पालीरूढद्रुमालीतलसुखशयितस्त्रीप्रणीतैश्च गीतै—
र्भाति प्रक्रीडदाऽतिस्तव सचिव चलच्चक्रवाकस्तटाकः ॥

आशय—"हे वस्तुपाल! प्रशंसा को प्राप्त हुए हंसों से हिलते हुए कमलों के रंगों से रँगे हुए भँवरों से, भीतर गहरे जलों से चंचल बगुलों के समुदाय के ग्रास में लीन हुई मीनों से, पाल पर लगे हुए वृक्षों की कतारों के नीचे सुख से विश्राम करती हुई स्त्रियों के गाए हुए गीतों से, चंचल लहरों और घूमते हुए चक्रवाक (एक

---

* यह श्लोक उपदेशतरंगिणी, प्रबंधचिंतामणि तथा जिनहर्षकृत वस्तुपालचरित्र में है। पहली पुस्तक में "नानाख्यकविः प्राह" और दान में "सुवर्ण जिह्वा दत्ता" ऐसा लिखा है। दूसरी में सोमेश्वर का कहा हुआ और आठ सहस्र का दान, तीसरी में भी उसी का कहा हुआ परंतु भेंट में लक्ष द्रम्म दिए ऐसा लिखा है। इस प्रकार का हेरफेर सामान्य बात है।

प्रकार का पक्षी) वाला आपका सरोवर सुशोभित हो रहा है।" इस संबंध में उसको सोलह सहस्र द्रम्मों का उपहार मिला।

एक दिन सोमेश्वर वस्तुपाल के धवल गृह पर गया परंतु श्रेष्ठ आसन सामने किए जाने पर भी वह नहीं बैठा। मंत्री ने न बैठने का कारण पूछा तो कवि ने कहा—

अन्नदानैः पयःपानैर्धर्मस्थानैश्च भूतलम्।
यशसा वस्तुपालेन रुद्धमाकाशमण्डलम्॥

अर्थात्—"अन्नदान, जलदान, धर्मस्थानों के बनवाने से पृथ्वी, और आपके यश से आकाशमंडल तक पहले ही रुक चुका है अब जगह कहाँ रही जहाँ पर मैं बैठूँ ?"

इसको सुनकर मंत्री ने उसे नव सहस्र द्रम्म दिए।

एक अवसर पर मंत्री नेमिनाथ के मंदिर में पूजा कर रहा था। वहाँ पर उसने नाना प्रकार के दान भी दिए। आरति करने के समय अर्थी लोग एकदम उसके ऊपर झपट पड़े। उस अवसर पर सोमेश्वर ने कहा—

इच्छासिद्धिसमुन्नते सुरगणे कल्पद्रुमैः स्थीयते
पाताले पवमानभोजनजने कष्टं प्रणष्टो बलिः।
नीरागानगमन्मुनीन्सुरभयः चिन्तामणिः क्वाप्यगात्
तस्मादर्थिकदर्थनां विषहतां श्रीवस्तुपालः क्षितौ॥

आशय—"जिनके मनोभिलाष अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ऐसे देवताओं के पास तो कल्पवृक्ष चले गए और पाताल में सर्पों के बीच में बलि फँस गया, कामधेनु निष्काम मुनियों के पास चली गई, रहा चिंतामणि वह भी न जाने कहाँ गया, इसलिये क्या करें, अब इस संसार में अर्थी जनों की आकांक्षाएँ पूर्ण करने को वस्तुपाल ही रह गया है।"

इस पर मंत्री ने सोमेश्वर को सवा लाख द्रम्म दिए।

सोमेश्वर देव की श्री कीर्त्ति और प्रत्युत्पन्नमति को प्रकट करने के लिये यहाँ तक उद्धृत किए हुए श्लोक पर्याप्त हैं। इन सब श्लोकों

में वस्तुपाल से संबंध होने का वर्णन पढ़कर कदाचित् ऐसी शंका उठ सकती है कि इस कवि का राजा से संबंध इतना अच्छा न रहा हो कि जो स्मरण के योग्य समझा जावे। यह बात नहीं है। उदाहरण के लिये हरिहर के प्रसंग में हम सोमेश्वर का वीरधवल के यहाँ आना जाना बता ही चुके हैं। और भी एक अवसर पर जब कि घूघुल मंडलीक को पराजित करके तेजपाल को सम्मानित करने को वीरधवल ने बहुत बड़ी सभा कराई तब उसने सोमेश्वर की ओर दृष्टि फैलाई और उस अवसर पर कवि ने निम्नलिखित श्लोक कहा—

मार्गे कर्दमसङ्कुले जलभृते गर्त्ताशतैराकुले।
खिन्ने शाकटिके भरेऽतिविषमे दूरं गते रोधसि।
शब्देनैतदहं ब्रवीमि सततं कुत्वोच्छ्रितां तर्जनी।
मीद्दृशे विषमे विहाय धवलं वोढुं भरं कः क्षमः॥

आशय—ऐसी कठिन अवस्था आ पड़े कि मार्ग में सैंकड़ों गढ़े हों, जल भरा हो, कीचड़ हो, सवारी भी टूट गई हो, बोझा बहुत सा हो और किनारा भी दूर हो तो मैं दावा करके कहता हूँ कि सिवाय धवल (राजा वीरधवल) और बलिष्ट बैल के कौन भार उठा सकता है।

महाराजा वीरधवल के दो पुत्र थे। एक वीरम और दूसरा वीसल। वीरधवल के स्वर्गवास होने पर यद्यपि ज्येष्ठ होने के कारण वीरम सिंहासन का अधिकारी था परंतु किसी कारण विशेष से वीसल सिंहासनासीन हुआ। इसके राजा होने पर भी सोमेश्वर का प्रभाव अन्यून रहा। इस राजा ने "नागड़" नाम के एक ब्राह्मण को प्रधान बना दिया और वस्तुपाल के अधिकार न्यून कर दिए। इतना ही नहीं किंतु एक मुँह लगे समराक नाम के प्रतीहार के कहने पर इन दोनों भाइयों से वह बलात्कार धन माँगने लगा। उन्होंने कहा कि हमारे पास जो धन था वह हम शत्रुंजय आदि तीर्थस्थानों पर लगा चुके और अब कुछ नहीं रहा है। वस्तुपाल ने समराक को पहले किसी अपराध पर दंड दिया था। उसने अपने अनुकूल हुए राजा

को ऐसा सिखा पढ़ा दिया था कि उसने तनिक भी न माना और वह यह कहने लगा कि अच्छा, यदि तुम्हारे पास धन नहीं है तो तुम "दिव्य" हो। इन्होंने राजा से पूछा आप क्या दिव्य चाहते हैं ? उसने एक घड़े में साँप रखवाकर सामने किया और कहा कि यह दिव्य है। यदि तुम सच कहते हो कि तुम्हारे पास अब धन नहीं है तो तुम इस घड़े में हाथ डालो, साँप नहीं काटेगा। बड़ी कठिन अवस्था आ पड़ी। राजा यमराज से भी भयंकर हो गया। उसको कौन न्याय मार्ग पर लावे ? जब यह अनर्थ हो रहा था उस समय सोमेश्वर भी वहाँ विद्यमान था। उसके लिये भी यह बड़े संकट की अवस्था थी। एक ओर तो उसका इन उपकारी भाइयों के प्रति प्रेम, दूसरी ओर अविनीत राजा की अप्रसन्नता का विचार, हैरान कर रहा था। वह विचार करता रहा और तुरंत निम्नलिखित अन्योक्ति द्वारा उसने राजा को उपदेश देकर अनर्थ करने से बचाया और इन दोनों भाइयों का, जिन्होंने उसे अनेक बार द्रव्यादि से सम्मानित किया था, प्रत्युपकार किया।

मासान्मांसलपाटलापरिमलव्यालोलरोलम्बतः
प्राप्य प्रौढिमिमां समीर ! महतीं हन्त त्वया किं कृतम्।
सूर्याचन्द्रमसौ निरस्ततमसौ दूरं तिरस्कृत्य य-
त्पादस्पर्शसहं विहायसि रजः स्थाने तयोः स्थापितम् ॥

आशय—"हे वायु ! एक अरसे तक गुलाब की सुगंधि में घूमने के बाद अब इस प्रवृद्ध अवस्था को प्राप्त होकर तू ने यह क्या अनर्थ कर डाला ! अरे जिन सूर्य और चंद्रमा ने अंधकार को दूर किया उन्हींका निरादर करके आज तू आकाश में उनके स्थान पर पैरों के स्पर्श करनेवाली धूलि को स्थापित कर रहा है।"

सोमेश्वर का इन दोनों भाइयों को सहायता देने का यह अंतिम अवसर नहीं था। एक और भी दुर्घटना एक समय समुपस्थित हुई। जब वस्तुपाल धोलके में ठहरा था वहाँ पर उसकी पौषध-शाला से उसके एक सेवक ने कूड़ा फेंका जो दैववशात् उसी मार्ग

से पालकी में बैठकर जाते हुए महाराजा वीसलदेव के मामा "सिंह" के सिर पर जा गिरा। उसको बहुत क्रोध आया। पालकी में से उतर वह तुरंत उस स्थान में घुस गया और उसने उस सेवक को खूब पीटा और कहा कि तुझे दिखता नहीं मैं कौन हूँ ? इधर यह अपने घर गया और उधर वह सेवक बुरी तरह से रोता चिल्लाता मंत्री वस्तुपाल के पास गया जो उस समय भोजन करने के लिए बैठा ही था। मंत्री भोजन को त्यागकर उठ खड़ा हुआ। उसने उस सेवक को सांत्वना दी परंतु गर्व में चूर होकर राजा के मामा सिंह ने सेवक के अल्प अपराध पर कठोर दंड दिया यह उसके लिये असहनीय हुआ। उसने अपने सिपाहियों से कहा क्या तुममें से कोई ऐसा है कि जो मेरे मनोदाह को दूर कर सके ? इसको सुनकर एक "भूण-पाल" नाम का क्षत्रिय बोला कि आप आदेश दीजिए, मैं सेवा करने को तत्पर हूँ। वस्तुपाल ने कहा कि बस आदेश यही है कि तुम जेठूया (जेठवा) वंशी सिंह का दाहिना हाथ काट कर ले आओ। उस वीर ने ऐसा ही किया। मंत्री ने उस हाथ को अपने मकान पर लटकवा दिया। इस भयंकर कार्य के दुष्परिणाम से वस्तुपाल अन-भिज्ञ नहीं था। उसने अपने आश्रितों से कहा कि हमने बलवान् से महा वैर उत्पन्न कर लिया है, अब हमारी मृत्यु में कोई संदेह नहीं है। अतः हमारे साथ रहनेवालों में से जिनको अवश्यंभावी हानि से भय हो उनको चाहिए कि वे पहले ही से यहाँ से चले जावें। उधर सिंह ने भी अपना दल जमाया और वस्तुपाल को सकुटुंब मारने का विचार कर प्रस्थान किया। राजा को भी यह समाचार विदित हो गया। उसने तुरंत सोमेश्वर को बुलाया और उसकी सलाह ली। सोमेश्वर वस्तुपाल के पास गया और अपनी बुद्धि-मत्ता से उसने सिंह के साथ मेल करा दिया और राजा को भी शांत कर दिया। इसके पीछे विक्रम संवत् १२९८ में वस्तुपाल बीमार हो गया। उसने अपने जैनी भाइयों को नागड ब्राह्मण के सिपुर्द करके कहा कि आपको इनकी रक्षा करनी चाहिए और

उससे तथा राजा से अंतिम बिदा मांग शत्रुंजय को प्रस्थान किया परंतु वहाँ तक वह पहुँच नहीं सका, मार्ग ही में उसका शरीरांत हो गया। ये घटनाएँ प्रबंधकोष, वस्तुपालचरित, सुकृतसंकीर्तन आदि ग्रंथों में लिखी हुई मिलती हैं। बहुधा जिन जिन ग्रंथों में वस्तुपाल का चरित अंकित किया गया है उन सब में सोमेश्वर का कुछ न कुछ वृत्तांत मिल ही जाता है। जगडू चरित में भी सोमेश्वर का उल्लेख मिलता है।

सोमेश्वरदेव का समय

इस कवि का गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे) और उसके सामंत धोलका के वीसलदेव के राज्य में होना पाया जाता है। भीमदेव का राज्यकाल वि० सं० १२३५ से १२६८ तक रहा और वीसलदेव ने गुजरात का राज्य भीमदेव (दूसरे) के उत्तराधिकारी त्रिभुवनपाल से छीनकर वि० सं० १३०० के आस पास से लगाकर १३१८ तक अनहिलवाड़ा (पाटण) में राज्य किया। अतः सोमेश्वर का वि० सं० १२३५ और १३१८ के बीच में होना सिद्ध है। सोमेश्वर की संतान आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। वास्तव में उसके ग्रंथ ही उसकी सच्ची संतान हैं, जो उसके यश को स्थापित कर रहे हैं।

कीर्तिकौमुदी का सारांश

इस महाकाव्य में ६ सर्ग हैं और सारे श्लोकों की संख्या ७२२ हैं परंतु ये सब के सब श्लोक ऐतिहासिक अंश के अभिधायक नहीं हैं, क्योंकि कवि को इनमें से बहुत से तो महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह करने के लिये, प्रातःकाल, सायंकाल, ऋतु, चंद्रोदय, क्रीड़ा आदि के वर्णन करने तथा छंदरचना में अपनी बुद्धि का वैभव दिखाने के लिये ही रचने पड़े। ऐसा होने पर भी जैसा कि निम्न-लिखित प्रत्येक सर्ग के सार से प्रतीत होगा उसका ऐतिहासिक अंश भी बड़े महत्व का है।

प्रथम सर्ग—नगर वर्णन, श्लोक ८१। श्रीविष्णुभगवान्, शंकर

और सरस्वती के विषय के मंगलाचरण के श्लोक लिखकर कवि ने सत्काव्य की प्रशंसा की है। तदनंतर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ, भारवि, बाण, धनपाल, विल्हण, हेमसूरि, नीलकंठ, प्रह्लादनदेव, नरचंद्र, विजयसिंह, सुभट, यशोवीर, और वस्तुपाल की प्रशंसा में चमत्कृत श्लोक लिखे हैं। फिर सज्जनों के स्वभाव की स्तुति और दुर्जनों के दोषों की निंदा को कुछ श्लोकों में बताकर लिखा है कि वस्तुपाल की कुलीनता, दानशीलता, परसत्कार-परायणता, सदाचार, प्रज्ञा, दया, न्याय तथा अपने में भक्ति देखकर उसके स्वरूप का निरूपक काव्य लिखने को मैं प्रस्तुत हुआ हूँ। यों भूमिका समाप्त कर अणहिल्लपुर (पाटण) का वर्णन करना प्रारंभ किया है। उसके विषय में लिखा है कि वह परकोटे से युक्त बहुत श्रेष्ठ नगर है जिसमें कहीं वेद मंत्रों की ध्वनि, कहीं मंगल गीत और कहीं भाटों के प्रशंसा के शब्द गूँज रहे हैं। वहाँ बड़े बड़े राजमहल हैं और अनेक सम्पन्न पुरुषों के लंबे चौड़े निवास-स्थान ऐसे अच्छे लगते हैं कि मानों वे चाँदी के बने हुए हों। जैसे यमुना मधूपघ्न (मथुरा) को, सरयू साकेत को और गंगा गजाह्वयपुर (हस्तिनापुर) को सेवती है वैसे ही सरस्वती नदी उस पुर को सेवती है। उस नगर के समीप ही नाना प्रकार के कमल आदि पुष्पों से सुशोभित, हंस, शङ्ख, चक्र (घड़ियाल) आदि से युक्त एक बहुत गंभीर तथा विस्तृत सर (झील) है जिसके किनारे पर एक बहुत ऊँचा उज्ज्वल कीर्तिस्तंभ स्थापित किया हुआ है। वहाँ अनेक बड़े बड़े देवालय हैं। उनमें शंकर का एक मंदिर तो बड़ा ही सुंदर है। यज्ञों का धुआँ आकाश में फैलता है। इधर उधर कहीं भी देखो अप्रतिम सुंदर स्त्रियाँ विहार करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। उस नगर की शोभा का कहाँ तक वर्णन लिखें; न लंका, न चंपा, न विदिशा, न काशी, न मिथिला, न त्रिपुरी, न मथुरा, न धारा उसकी बराबरी कर सकती हैं।

द्वितीय सर्ग—नरेन्द्रवंश वर्णन, श्लोक ११५। अनेक राजाओं को जीतनेवाला चौलुक्य कुलोत्पन्न "मूलराज" जिसको गूर्जरेश्वर की

राज्यश्री ने स्वयम् अपनी इच्छा से वरा था उपरोक्त अणहिल्लपुर में राज्य करता था। उस असामान्य पराक्रमी ने लाटेश्वर के सेनापति बारप को युद्ध में मारा और उसके हाथियों को छीन लिया। कच्छ के लक्ष (लाखा फुलार) को भी मारा। उसने अपने दान से प्रजा के दारिद्र्य को और शौर्य से दुर्जनों को दूर करते हुए चिर काल तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी इस महीमंडल का मंडन "चामुंडराज" हुआ जिसके पास शत्रुओं को भय दिलानेवाली सेना तथा कोश बहुत था। उसके पीछे "वल्लभराज" नाम का राजा हुआ। वह इतना उग्र था कि एक समय उसके डर के मारे मालवा के राजा के हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ी। अपने शत्रुओं को बुरी तरह रौंधने से उसका नाम "जगत्कंपन" पड़ गया। उसका उत्तराधिकारी उसका भ्राता "दुर्लभराज" हुआ जिसकी विद्यमानता में शत्रु लोग उसके राज्य को कुछ भी हानि न पहुँचा सके। उस सौभाग्यशाली का हाथ कभी भी दूसरे की स्त्री और ब्राह्मणों के धन पर नहीं पड़ा। उसके स्वर्गवास होने पर उसके भाई का पुत्र "भीम" नाम का राजा हुआ। उसने संग्राम में धारापति (भोज) को जीता परंतु उसको गुणवान जानकर उसके घोड़े ही छीने, प्राण नहीं। उसके पीछे "कर्ण" नाम का राजा हुआ जो पराक्रम में तो अपने पिता के समान था परंतु आकृति में साक्षात् कामदेव था। उसका भी यश दूर दूर तक फैला। उसके अपूर्व-गुण-धाम जगज्जयी "जयसिंह" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बाल्यावस्था से ही अपना पौरुष दिखाने लगा। उसने युद्ध में सौराष्ट्र (जूनागढ़, गिरनार) के शूर वीर "खंगार" को बुरी तरह पछाड़ा, अति-सेना-संपन्न सिंधराज को कैद किया और अर्णोराज (अजमेर का चौहान राजा आना) को भी मथ डाला। उसमें और विष्णु में इतना ही भेद था कि उन्होंने अर्णोराज (समुद्र) को मथ कर उसकी पुत्री (लक्ष्मी) को ले लिया परंतु उस (जयसिंह) ने अर्णोराज (आनाक, आना) को मथने पर भी अपनी पुत्री (कांचन देवि) उसे ब्याह दी और उस शाकंभरीश्वर (अर्णोराज)

ने अपना सिर उसके आगे नमा दिया। उसने परमार राजा को हराया और धारापति नरवर्मा को पिंजरे में कैद कर उसकी धारा नगरी छीन ली। नरवर्मा की ऐसी दुर्गति देखकर महोबक (महोबा) के राजा मदनवर्मा बुंदेल ने अतिथि के बहाने उसका समुचित पुरस्कार कर आत्मरक्षा की। जयसिंह ने गौड़ देश को भी, जो भृत के लिए सुप्रसिद्ध था, विजय किया और यातुधानेंद्र "वर्बर" को पराजित कर "सिद्धराज" की पदवी प्राप्त की। निदान न कोई ऐसा राजा रहा जिसे उसने न जीता हो और न कोई ऐसी दिशा थी कि जो उसके यश से सुशोभित न हो। उसके स्वर्गवासी होने पर "कुमारपाल" ने प्रजा का रंजन किया। यह इतना अच्छा राजा था कि इसने न शस्त्रों द्वारा केवल समरांगणों में राजाओं को किंतु अपने सद्गुणों से अपने पूर्वजों को भी पराजित किया। उसने मृतकों (लावारिसों) की पूँजी ग्रहण करने के विषय में राजनियमों को शिथिल कर दिया। उसने जांगल देश के राजा (अर्णोराज, आनाक, आना) तथा मालवा के बल्लाल और कुंकुण देश के मल्लिकार्जुन को जीता। उसने पैरों पड़े महीपालों और मुख में तृण धरे पशुओं से अतिशय प्रार्थना किए जाने पर अहिंसा व्रत ग्रहण कर लिया अर्थात् जैन धर्म को अंगीकार किया। उसके पीछे "अजयपाल" नाम का राजा हुआ जिसने देश की आर्थिक दशा की बहुत उन्नति की। उसने जांगल देश के राजा से मत्त हाथियों के साथ एक सुवर्ण मंडपिका (अंबाबाड़ी) भी दंड में ली। वह वैदिक धर्म का अनुयायी था। उसने अनेक राजाओं को दंड दिया और अनेक विवाह किए। उसके पीछे उसका पुत्र "मूलराज" राजा बना जिसने बालक होते हुए भी तुरुष्काधिपति (मुहम्मद शहाबुद्दीन गोरी) को हराया। विधाता ने उस कल्पद्रुमांकुर को जल्दी ही इस पृथ्वी पर से उखाड़ लिया और सारा राजभार उसके पुत्र "भीम" पर डाल दिया। इस बालराज (बालक, भोला) के राज्य को बलवान् मंत्रियों और मांडलीकों ने शनैः शनैः दबा लिया। इस अन्याय को चौलुक्य वंश

की ही एक (बघेल) शाखा में उत्पन्न राजर्षि "अर्णोराज" सहन न कर सका। उसने अपने वीरपुत्र धवल तथा अन्य सुभटों को लेकर राष्ट्र को निष्कंटक करना प्रारंभ किया और अपने बुद्धि तथा भुजबल से शांति स्थापित की। उस धवल का शूरवीर पुत्र "लावण्यप्रसाद" है जिसके कारण वह राजकुल ऐसा सुशोभित तथा अजेय हो रहा है कि जैसे आकाश चंद्रमा से। उसने अपनी तलवार से नडुल (नाडौल) के स्वामी को मार डाला। उसके उग्र निदर्शन से राजा लोग अभी तक काँपते हैं। उसके राज्य में कोई चोर या डाकू किसी प्रकार का भी बिगाड़ नहीं करता और उसकी सेना जहाँ जाती है वहाँ विजय प्राप्त करती है। धारा के (परमार) राजा ने उसके विरुद्ध आक्रमण करने का साहस किया परंतु उसको सुस्थिर देखकर वह वापिस लौट गया। इसी प्रकार से दक्षिण देश का भी राजा जिसके पास सेना तो बहुत थी परंतु जो स्वयं पराक्रमी नहीं था इस अल्प-सैन्य और अति पराक्रमी के सामने से भाग गया। उस लावण्य-प्रसाद का पुत्र वीरशिरोमणि वीरधवल है जो गुणों में अपने पिता से किसी भी तरह कम नहीं है। उसका वंश ऐसे सद्गुणसंपन्न पिता पुत्रों से अधृष्य (वैरियों से अजेय) हो गया है। एक समय लावण्यप्रसाद ने शय्या से उठते ही रात्रि में देखे हुए स्वप्न को निवेदन करने तथा उसका फल जानने के लिये अपने शिष्ट पुरोहित सोमेश्वरदेव को बुलवाया और उसके आने पर सत्कारपूर्वक नमस्कार किया। पुरोहित ने आशीर्वाद देकर आसन ग्रहण किया। राजा (लावण्यप्रसाद) ने जिसके समीप उसका पुत्र वीरधवल भी उपस्थित था सादर यों अपना स्वप्न वर्णन करना प्रारंभ किया। "भगवन्! आज स्वप्न में मैंने क्या देखा कि मैं कैलास पर्वत पर गया और वहाँ जाकर साक्षात् श्रीशंकर भगवान् का अर्चन किया और अर्चन करके ज्योंही समाधिमुद्रा लगाकर ध्यानावस्थित हुआ त्योंही राका (पूर्णमासी अथवा वह स्त्री जिसे पहले पहल रजोदर्शन हुआ हो) के समान आकारवाली एक सुंदरी दिखाई पड़ी। श्वेत चंद्रमा

के समान वदनवाली, श्वेत वस्त्र पहिने हुए, श्वेत चंदनादि लगाए हुए, हाथों में श्वेत माला लिए हुए उस बाला को देखकर मैं अति विस्मित हो गया। मैंने उससे पूछा कि तू किसकी है, कौन है, यहाँ क्यों खड़ी है? तो वह बोली कि हे वीर! तू मुझको गुर्जरराजलक्ष्मी जान! मैं आज शत्रुओं से संतापित हूँ। हाय! वे गुर्जरेंद्र तथा कुंजरेंद्र (बड़े हाथी) आज नहीं हैं जिनकी भुजा और दाँतों में मेरा निवासस्थान था। जो आजकल भूपाल है वह दुर्बल बालक है, रहे मंत्री तथा मांडलीक, उनमें न क्रम (ढंग, बुद्धि) है, न पराक्रम। देखो मैं उनके अन्नदाता की अर्द्धांगिनी हूँ। जब वे मुझको ही कामदृष्टि से देखने लग गए तब उनसे राज्य-प्रतिपादन में क्या प्रतिकार की संभावना हो सकती है। आज वह धर्मात्मा पुरोहित आमशर्मा विद्यमान नहीं है जिसने मेरी रक्षा की थी। आज वह (कर्णराज के मंत्री) मुंजाल का पुत्र भी नहीं है जिसने अपने मंत्रों से प्रतिपक्षी क्षत्रियों का क्षय किया था! आज वह युद्धवीर राठोड़ प्रतापमल्ल नहीं है जो गंधद्विप के समान वैरियों के गजों की मंद गंध भी नहीं सहन करता था! क्या कहूँ एक जगद्देव के, जिसके होते हुए शत्रु लोग गुजरात के राजा की राजधानी में प्रवेश नहीं कर सकते थे, न होने से घरकों ही ने मुझको इस दीन दशा को पहुँचा दिया है। आज वह पुरोहित-कुमार भी न रहा कि जिसने चेदी देश की राज्यलक्ष्मी को लाकर मेरी सपत्नी बनाया था। जो राजधानी मूलराज के वंशज राजाओं के तेज से देदीप्यमान थी आज उसमें सूर्य्य के अस्त होने पर दीपक भी नहीं जलता। जो निरंतर इधर उधर घूमते हुए गजों की घंटियों की गूँज गूँजती थी वह निरानंद नगरी आज गीदड़ों के नादों का प्रतिनाद कर रही है। अरे क्या कहूँ आज उसकी फुलवारी लुट गई, उसके वृक्षों के खंडित खंड मुंड के समान पड़े हैं तथा गूर्जरधराधिपों की राजधानी दूर ही से सौभाग्यहीन दीन विधवा की नाईं दीख पड़ती है! अतएव मैं तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तू और अपने वीर पुत्र वीरधवल को साथ लेकर मेरा

निस्तार कर और राज्य का उद्धार कर। फिर मुझे क्या करना चाहिए उसका आदेश देकर उसने सहसा एक पुष्पमाला मेरे गले में पहिना दी और मेरी नींद के साथ साथ वह भी अंतर्धान हो गई। अब आप कृपा करके बताइए कि यह क्या बात है।" सोमेश्वर ने उत्तर दिया कि श्रीमान् आप धन्य हैं। आपने जो स्वप्न वर्णन किया है उसका सार यही है कि लक्ष्मी ने जैसे विष्णु भगवान् को वरा था वैसे ही जयश्री आपको स्वयम् वरती है। अब आप शीघ्र उद्योग प्रारंभ करिए और सबसे पहले चतुर मंत्री स्थापित करिए क्योंकि—

> इत्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति,
> नीत्या समुन्नयति मन्त्रिजनः पुनस्ताम्।
> रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किं नु,
> संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥२।११३॥

आशय—यद्यपि राजा की वीर्य्यवान् भुजाएँ विजय प्राप्त कर लेती हैं यह सही है तथापि विजय किए हुए देश की नीति द्वारा उन्नति करना नितांत मन्त्रिमंडल का ही काम है। देखिये महासागर नाना प्रकार के रत्न उत्पन्न करते हैं परंतु उनको सुधार कर ठीक बना देना जौहरियों का ही काम है।

तृतीय सर्ग—मंत्रिस्थापना, श्लोक ७६। वैश्य जाति में एक प्राग्वाट (पोरवाड़) वंश चला जिसमें अनेक सुप्रसिद्ध पुरुष हुए और अधिकतर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनका विद्वान् होना हुआ। उनमें सब से पहला पुरुष चंडप हुआ। यह चातुर्य में चाणक्य के, विद्या में अंगिरा के पुत्र बृहस्पति के और गंभीरता में समुद्र के समान था। उसके चंडप्रसाद नाम का मृदुभाषी और कुशाग्रबुद्धि पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने मंत्री-पद पर ऐसी योग्यता के साथ काम किया कि राजा उसको क्षण भर भी अलग न होने देता था। उसके पुत्र का नाम सोम था। वह एक साधु,

त्यागी और निर्व्यसनी पुरुष था। राजा सिद्धराज ने अपना रत्नों का भांडार उसके सुपुर्द कर दिया। उसका विवाह सीता नाम की कन्या के साथ हुआ और उनसे अश्वराज नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अश्वराज अपनी माता का पूर्ण भक्त था। वह न केवल मंत्री के कार्य में प्रवीण था किंतु व्यवसाय में बहुत उद्योगी होने से उसने न्याय मार्ग से बहुत धन उपार्जित किया और उसे धर्म-कार्यों में लगा कर अखंड यश प्राप्त किया। उसकी स्त्री का नाम कुमारदेवी था जिससे उसको तीन पुत्र उत्पन्न हुए इनमें सबसे बड़ा श्रीमल्लदेव था, दूसरा वस्तुपाल और तीसरा तेजपाल। ये बालक बचपन से ही विद्यानुरागी और असामान्य प्रतिभा-संपन्न थे। मल्लदेव की जैन धर्म में अनन्य भक्ति थी और वह इस ही बात के लिये विशेष प्रसिद्ध था। वस्तुपाल विविध गुण संपन्न था। उसका विवाह लीला देवी से हुआ और उनसे जयसिंह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। तेजपाल अपने बड़े भाइयों का आज्ञाकारी और उनके सदृश ही गुणवान् था। वह जैसा अपने मुख से कहता वैसा ही करता और जो उपकार करता उसको कभी अपने मुख से नहीं कहता था। उसकी स्त्री का नाम अनुपमा था जिससे लावण्यसिंह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

राजा लावण्यप्रसाद को योग्य मंत्रियों के नियत करने की चिंता पहले ही से लग रही थी। ज्योंही उसे वस्तुपाल और तेजपाल का स्मरण आया त्योंही उसने उन दोनों को तुरंत बुलवा लिया। इन दोनों ने आकर राजा को सत्कारपूर्वक प्रणाम किया और समुचित प्रारंभिक कथन करके विनय के साथ वे बैठ गए। राजा ने विचार-पूर्वक इनकी ओर दृष्टी डाली और वह कहने लगा कि तुम्हारी आकृति तुम्हारी गुणसमृद्धि को, तुम्हारी नम्रता तुम्हारे कुल की पवित्रता को और तुम्हारा भाषण तुम्हारे शास्त्र-ज्ञान को प्रकट करता है। युवा होते हुए भी तुम निर्व्यसनी हो, धनवान् होते हुए भी तुम विनीत हो, और तुम्हारा बर्ताव सब के साथ सरल है। यहाँ तक ही नहीं तुम्हारी अवस्था को देखते हुए तुम्हारा संयम और भी अधिक

सराहने योग्य है। वास्तव में जिस राजा के पास ऐसे गुणसंपन्न कर्मचारी होते हैं वह संपत्ति के साथ साथ सुयश भी प्राप्त करता है।

हमारा कई राजाओं के साथ विरोध हो रहा है अतः हम राज्य को सुधारने की इच्छा से तुम दोनों को मंत्रीपद पर नियुक्त करना चाहते हैं। तुम अपनी अकुंठित बुद्धि से राज्य के ऐश्वर्य को बढ़ाओ और प्रजा में सुख शांति फैलाओ।

राजा के यह कहने पर वस्तुपाल ने कहा कि राजन्! यह तो आपका बड़ा अनुग्रह है कि आपने हमको इस योग्य समझा। राजा की कृपादृष्टि जहाँ जहाँ पड़ती है वहाँ वहाँ पवित्रता, कुलीनता, दक्षता और सुभगता विद्यमान हो जाती है। संसार में राजा के दर्शन से ही बड़े पातक नष्ट हो जाते हैं और इष्ट संपत्ति प्राप्त होती है तो राजा से बढ़कर कौन सा तीर्थ है? तिस पर भी आप जैसे सत् असत् का विवेक करनेवाले राजा का मिलना तो भाग्य से ही होता है, परंतु भगवन्! आपसे कुछ नम्र निवेदन करना है जिसको विचार-पूर्वक सुनने की कृपा कीजिए। हे देव! वह शुभमयी युगत्रयी तो बीत गई, अब कलियुग विद्यमान है जिसमें न तो सेवकों में कार्य-परायणता है और न स्वामियों में कृतज्ञता। दुष्ट मंत्री राजाओं को बुरे मार्ग पर चलाते हैं जिससे दोनों का नाश हो जाता है और यों तो महाराज यह सत्य है कि संसार में ऐसा कोई नहीं जिसको लोभ न हो परंतु काम वह होना चाहिए जिससे इस लोक में निंदा और परलोक में बाधा न हो। इसलिये यह भी निवेदन है कि—

पुरस्कृत्य न्यायं खलजनमनादृत्य सहजा-
नरीन्निर्जित्य श्रीपतिचरितमाश्रित्य च यदि।
समुद्धर्तुं धात्रीमभिलषसि तत्सैष शिरसा
धृतो देवादेशः स्फुटमपरथा स्वस्ति भवते ॥३।७७॥

आशय—यदि न्याय मार्ग का अवलंब करते हुए, दुष्टों को मुँह न लगाते हुए, सहज शत्रुओं (काम क्रोधादि) को दबाते हुए, धर्म-परायण रहते हुए आप अपने साम्राज्य का उद्धार करना चाहते हैं

तो सेवा करने के लिये ये मस्तक आपके चरणों में उपस्थित हैं अन्यथा आपको नमस्कार। गुणग्राहक राजा ने विवेकी वस्तुपाल के ये वचन बड़े उत्साह के साथ सुने और प्रसन्न होकर दोनों भाइयों को राजमुद्रा देकर मंत्रीपद पर नियुक्त किया।

चौथा सर्ग—दूत समागम, श्लोक ६१। राजा ने दोनों भाइयों को अधिकार देकर वस्तुपाल को स्तंभ तीर्थ भेज दिया। वहाँ के लोगों ने उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया और उसने भी पूर्व अधिकारियों ने प्रजा को जो कष्ट दिए थे उनको क्रमशः दूर किया और सदाचार की यहाँ तक वृद्धि की कि गणिकाओं ने भी धन की कामना से रात्रि में संभोग की कामना त्याग दी। सज्जन लोग दुर्जनों के दमन हो जाने से निर्विघ्न होकर नाना प्रकार का व्यापार करने लगे और धनधान्य से संपन्न हुए। यह समुद्र का तट, जो लुटेरों और हत्यारों के विषय में बहुत काल से बदनाम था, उसके समय में धर्माचरण का उदाहरण बन गया। छूतछात अथवा पवित्रता की रक्षा के लिये उसने तक्र (दही, छाछ) की दूकानों के आगे चबूतरे बनवा दिए। वह आर्थिक सहायता देने में उदार था। उसने लोक के हितकारी प्राचीन स्थानों तथा देवालयों की मरम्मत करवाई, नए नए अनेक मंदिर और तालाब बनवाए, बाग लगवाए, कुएँ, बावड़ियाँ खुदवाईं, प्याऊ लगवाए, जैन उपाश्रय खोले और एक ब्रह्मपुरी नाम का मुहल्ला बसाया। कहाँ तक लिखें—

यद्न्यूनं यत्र यन्नष्टं यस्तत्र तदचीकरत्।
उत्पत्तिरुत्तमानां हि रिक्तपूरणहेतवे॥

आशय—जहाँ जहाँ उसने किसी बात की न्यूनता देखी उसको पूर्ण किया। वास्तव में उत्तम लोगों का जन्म कमी को पूरा करने के लिये ही हुआ करता है। उसके जीवन का ढंग ऐसा था कि वह सब मतवालों को अनुकूल था। उसके जैन होने पर भी वह वैष्णवों और शैवों का भी सम्मान करता था।

यों गुर्जर देश में सर्वत्र सुख और शांति की उन्नति हो रही थी

जो दक्षिण देश के राजा सिंहन के लिए संतापकारी हुई। उसने अचानक आक्रमण करने के लिए अपनी सेना रवाना कर दी। इस दुर्घटना से सारी प्रजा में सहसा त्रास उत्पन्न हो गया। ज्यों ज्यों शत्रु की सेना आगे बढ़ती गई त्यों त्यों आस-पास के दुर्बल लोग अपने अपने निवासस्थानों को त्याग कर भागने लगे। इधर लावण्य-प्रसाद और वीरधवल के पास यद्यपि सेना थोड़ी थी तथापि वे निर्भयतापूर्वक बड़े साहस के साथ शत्रु की सेना से, जो भृगुकच्छ (भड़ोच) तक बढ़ आई थी, सामना करने को चले। इन पिता-पुत्रों को इधर इस तरह फँसे हुए देखकर मारवाड़ के चार राजाओं ने भी गुजरात पर चढ़ाई कर दी। यों एकाएक एक नई घटना उपस्थित हो गई। इतना ही नहीं किंतु गोद्रह (गोधरा) और लाट (गुजरात का दक्षिण देश) के राजा, जो इन पिता-पुत्र के साथ संग्राम में सहायक होकर गए थे, मारवाड़ के राजाओं से मिल गए और उन्होंने इन्हें रामभरोसे छोड़ दिया। क्या ही अद्भुत आपत्ति आई! ऐसी अवस्था में वीर से वीर भी भयभीत हो जाता है परंतु इन राजकार्य-कुशल असामान्य वीरों ने तनिक भी धैर्य न छोड़ा। इन्होंने पहले तो अपने पूर्ण-बल से यादवों का सामना किया और उन पर ऐसे टूट पड़े कि उस सेना (सिंहन के सैन्य) के पैर उखड़ गए। तदनंतर फिर उन्होंने छः राजाओं अर्थात् मारवाड़ के चार राजाओं * एवं गोधरा और लाट के राजाओं से मेल कर लिया। फिर मालवा के शत्रुओं के संघात के सामने आए और यों अपूर्व चतुरता के साथ अपना काम सँभाला।

इधर जब कि राजा यों संग्राम में आसक्त था दैवयोग से वस्तु-पाल की बुद्धि और वीरता की परीक्षा का भी अवसर आ उपस्थित हुआ। राजा सिंधुराज के पुत्र शंख ने वस्तुपाल के पास एक दूत भेजा। उसने आकर पहले तो अपने स्वामी के गौरव और वीरता का वर्णन

* मारवाड़ के इन चार राजाओं में से तीन के लिए देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० १२४।

किया और उसका दक्षिण के राजा सिंहन से हारकर कैद हो जाने तथा फिर छूट जाने का ऐसे ढंग से उल्लेख किया कि जिससे उसकी अधिक मानहानि न हो। फिर राजकीय संदेशा सुनाने लगा कि आपको भी ज्ञात होगा कि यह स्तंभपुर (खंभात) हमारे महाराज की कुल क्रमागत संपत्ति है। अब उन्होंने इसे माँगा है और इस ही लिए मुझको आपके पास भेजा है। यदि आप समयज्ञ हैं तो इसे अर्पण कर दीजिए। यदि मेरे कथन को स्वीकार करते हुए आपको अपने भोगपति (शासक) के स्थान छूट जाने का विचार आता हो तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप चलकर हमारे महाराज को प्रणाम कीजिए और आपकी अधिकारमुद्रा ज्यों की त्यों बनी रहेगी। साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहला भेजा है कि यदि आपके मन में कुछ अन्यथा ही जँचे तो असाध्य विरोध के साधन के लिए प्रतिभू उनकी तलवार उपस्थित है। यों यद्यपि शत्रु ने युक्ति, प्रलोभन और भय द्वारा वस्तुपाल के मन को, एक ऐसे समय में कि जब राजा उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था, खींचा परंतु वह सर्वथा निर्लेप रहा। दूत जब अपने कथन को समाप्त कर चुका तब इसने निर्भयता के साथ उसके वचनों का यथाक्रम उत्तर देना प्रारंभ किया और कह दिया कि तुम लोग इन कपोल कल्पनाओं को सर्वथा त्याग दो। इस ही में तुम्हारा कल्याण है और यदि दुर्भाग्यवश तुम्हारे स्वामी की बुद्धि न्यायमार्ग का अवलंब करने से घृणा करती है तो तुम जाकर उससे स्पष्ट रूप से कह दो कि हम भी उसके अखंड उद्योग का खड्ग द्वारा खंडन करने के लिए पूर्ण रूप से उद्यत हैं। ऐसा रूखा उत्तर सुनकर दूत खिसिया गया और साहंकार बोला—

कुर्वाणस्त्वयि शस्त्रधारणमसावसत्पतिर्लज्जते
ये नैकेन रणाङ्गणेऽवगणितः सेनाघनः सिंघनः।
तत्ते चेतसि चेद्विचारकणिका काप्यस्ति तन्मुच्यताम्
मानोयं नयवेदिनाथ भवता वर्मेदमामुच्यताम् ॥४।६०॥

आशय—जिस हमारे महाराज ने अकेले ही रणांगण में सिंघन जैसे वीर की सेना-समूह को कुछ भी न गिना; उसको तुम जैसे व्यक्ति के सामने शस्त्र उठाते लज्जा आती है। मैं इसलिए तुमसे फिर कहता हूँ कि यदि तुम्हारे मस्तिष्क में विचारशक्ति का लेश भी है तो तुम जैसे नीतिज्ञ को अवश्य निरर्थक अभिमान त्याग देना चाहिए। दूत अंत तक भग्न-मनोरथ ही रहा और मंत्री को युद्ध में तत्पर जान उसने अपने स्थान को प्रस्थान किया।

पाँचवाँ सर्ग—युद्ध वर्णन, श्लोक ६८। दूत ने वापस जाकर सब समाचार शंख से कहे जिनको सुनकर वह कुपित हुआ और युद्ध के लिये तुरंत अपनी सेना सजा वटकूप (जिसे आज कल वडकुआ कहते हैं) सर के तट पर आकर उसके अपने नगारों के घोष से अपना आगमन विदित किया और वह शनैः शनैः आगे बढ़ने लगा। यद्यपि गंभीर स्वभाववाला होने से मंत्री ने अपने मुख से अपना भाव नहीं प्रकट किया था तो भी उस (वस्तुपाल) का उठा हुआ रोम रोम उसका भाव प्रकट कर रहा था। उसने झट निर्भय होकर अपनी सेना सजाई और वह अपने अश्व पर, जो दाहिने पैर से भूमि को खोदकर जय की सूचना दे रहा था, सवार हुआ और अपने स्वामी का हृदय में स्मरण कर प्रस्थान किया। यद्यपि उसके आगे आगे भुवनपाल आदि वीरभट भी चले तथापि वह वीरता के कारण अग्रगंता गिना गया। मंत्री ने बड़ी बुद्धिमानी तथा वीरता के साथ नगर की रक्षा की और शत्रु को उसमें प्रवेश न करने दिया। मंत्री आगे बढ़ा और फिर क्या था, दोनों सेनाओं में घोर संग्राम होने लगा। तलवारवाला तलवारवाले से, कुंतवाला कुंत-वाले से, योधा योधा से और सवार सवार से लड़ा। मंत्री ने भी चट अपनी तलवार म्यान से बाहर की और अहिंसा व्रत को त्याग पुरुष व्रत का निर्वाह किया। पृष्ठ से अपने प्रभु के प्रोत्साहन ने तथा सामने मागधों (भाटों) के उत्तेजन ने उसके विक्रम को और भी अधिक बढ़ाया। उधर वीर संग्रामसिंह ने जिसको शंख भी कहते

थे रणकौशल दिखलाया। इधर से गुलवंशी सुभट भुवनपाल उसके सम्मुख गया और उससे लड़ने लगा। शंख के सैनिक सामंत ने इसका सामना किया। इसने सामंत के बल को बलपूर्वक हटाते हुए अपने पाँव आगे बढ़ाए और अंत में उसको मारकर शंख के सामने आया परंतु अधिक ठहर न सका। निदान शंख ने अपनी तलवार से उसका सिर काट डाला। इस दुर्घटना ने वस्तुपाल को अधिक बेचैन किया। अब युद्ध ने और भी विकराल स्वरूप धारण किया। शंख का पत्ति जयंत और वस्तुपाल का पत्ति वीरम युद्ध में मारे गए। सोमसिंह भी खूब लड़ा और युद्ध से वापस नहीं आया। एक और योधा भुवनसिंह शंख के हाथों से मारा गया। अभ्युदयसिंह ने भी यह सोचते हुए कि क्षत्रियों को शस्त्र प्राणों से भी अधिक प्यारे होते हैं प्राण त्याग दिए, पर शस्त्र नहीं त्यागे। विजय, विक्रमसिंह, कुंतसिंह आदि के मारे जाने पर भी वीर लोग निराश नहीं हुए किंतु अपना पराक्रम दिखाते ही रहे। अंत में शंख वस्तुपाल को अजेय जान अपनी बिखरी हुई सेना के साथ लौट गया। मंत्री भी अपनी विजयी सेना को लेकर प्रजा के अभिनंदन से आनंदित होता हुआ वापस आया। इस समय महाराज लावण्यप्रसाद भी अपने वीर पुत्र वीरधवल के साथ सर्वत्र शत्रुओं को पराजित करके वापस आ चुका था। उसने वस्तुपाल की विजय का यह समाचार सुनकर बड़ा संतोष प्रकट किया।

छठा सर्ग—पुर प्रमोद वर्णन, श्लोक ५६। वस्तुपाल के द्वारा उस आपत्ति के दूर हो जाने पर नगरनिवासी नाना प्रकार के महोत्सव मनाने लगे। घर घर में सजावट होने लगी, बाजे बजने लगे, कुलांगनाएँ मंगल गीत गाने लगीं, देवमंदिर में विशेष पूजाएँ होने लगीं, राज-मार्ग में विशेष शोभा की गई और नर नारी हर्षित होकर सुंदर वस्त्र धारण करने लगे। उस समय वे इतने प्रसन्न तथा शांत थे कि उनको ग्रीष्म भी भीष्म नहीं था। तदनंतर मंत्री "एकल्लवीरा" देवी के मंदिर में, जो उस स्तंभपुर

नगर के समीप खुले मैदान में था, वंदना करने के लिये गया। यद्यपि उस समय उसके साथ थोड़ा ही परिच्छद (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सवार आदि) था परंतु उसके दर्शन करने की उत्सुकता वाले स्त्री पुरुष इतने उलट पड़े की मार्गों में वे समाए भी नहीं। स्त्रियाँ उसको देखते ही बड़े चाव से कहने लगीं यह है हमारा दाता, संरक्षक, विजयी, वाग्मी, नीतिमान्, क्षमावान् रक्षक, और उनके स्वाभाविक चंचल नेत्र उसके स्वरूप में स्थिर हो गए।

मंदिर में पहुँचकर मंत्री ने दूध, दही, मधु, घृत, खाँड, जल, पुष्प, कपूर, अगर, चंदनादि से देवी का श्रद्धापूर्वक अर्चन किया और यही वरदान मांगा कि वह देवी निरंतर उसके स्वामी की तलवार में तथा उसके हृदय में निवास किया करे। पूजा समाप्त करके वह कील वन में, जो नाना प्रकार के घने वृक्षों से ऐसा सुशोभित था कि मानो अंधकार और शीतलता सूर्य्य से भयभीत होकर वहाँ निवास कर रहे हों, विहार करने को चला गया। ग्रीष्म ऋतु के कारण उसका चित्त उस समय वहाँ पर बहुत प्रसन्न हुआ और वहाँ पर उसने विद्वत् मंडली के साथ गोष्ठी की। कवीश्वरों की वाणी ने उसके कर्णों को तृप्त किया और उस उदारचित्त ने उन्हें द्रव्य से हर्षित किया। उस उद्यान में वह दिन बिताकर सायंकाल के समय अपने निवास स्थान को लौटा।

सातवाँ सर्ग—चंद्रोदय वर्णन, श्लोक ८३। इस सर्ग में कोई ऐतिहासिक बात नहीं किंतु कवि कल्पना की उन्नत तरंगों का ही विकास है।

आठवाँ सर्ग—परमार्थ-विचार, श्लोक ७१। एक दिन वस्तुपाल प्रातःकाल होते ही उठा और उठकर रात भर के लिये ही चकवा चकवी का मिलाप देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। क्यों न हो? "परकष्टे प्रनष्टे हि सतां प्रीतिः प्रचीयते"—सज्जनों की प्रसन्नता दूसरों के दुःख दूर होने पर बढ़ा ही करती है। उसने उस ही घड़ी एक ओर तो कुमोदनी का म्लान होना और दूसरी ओर कमलों का विकास

होना देखकर मन में निश्चय किया कि यह विभूति तो क्षणभंगुर है, वास्तव में चिरस्थाई आनंद उत्पन्न करनेवाली वस्तु कुछ और ही है। उसका ध्यान प्रातःकाल में अनायास उपस्थित होनेवाली नाना प्रकार की घटनाओं पर गया। क्या देखता है कि,

विलोललोचनाः प्रातर्मौलिमाल्यानि तत्यजुः।
लोके हि कारणेनैव गौरवं गुणिनामपि ॥८।१५॥

आशय—स्त्रियों ने अपने सिर की उन मालाओं को (कि जिन्होंने रात भर अपनी सुगंध से उनको तृप्त किया था) प्रातःकाल होते ही उतारकर फेंक दिया, क्योंकि इस संसार में गुणवालों का गौरव भी कारण (स्वार्थ) से ही हुआ करता है। ऐसे ऐसे विचारों की लहरों में स्नान करते हुए उस धर्मात्मा ने फिर शुद्ध जल से स्नान किया और त्रिकालज्ञ जगत्पूज्य (जिन) की पूजा में बैठ गया। उसको तिलक लगाए पूजा में बैठे हुए देखकर यही भान होता था कि मानो अन्य पुरुषों के मत्सर ज्वर से संतप्त मनों को त्यागकर भगवान् आदिनाथ इसके सौहार्द्र से शीतल मन में आ विराजे हैं। पूजा समाप्त करके उसने गुरुजनों को प्रणाम किया, सुपात्रों को दान दिया और सात्विक वृत्ति से यह सोचने लगा कि इन सांसारिक कामों की भरमार में फँसे हुए मनुष्य की कभी निवृत्ति तो होनी नहीं, अपितु उनका प्रभाव उसपर इतना अधिक पड़ जाता है कि शनैः शनैः वह भले बुरे की साक्षी आत्मा में विराजमान जो धर्म है, उसकी भी उपेक्षा करने लगता है। देखो, कहीं तो कोई बेतरह धन के लिए मर रहा है, कहीं कोई भोग विलास में लीन हो रहा है, परंतु यह नहीं देखता कि—

यस्मिन्सन्निहिते वह्निविषाद्याः प्रभवन्ति न।
धर्मादन्यपरस्तस्मात्कः शरण्यः शरीरिणाम् ॥८।२८॥
धर्मसिद्धौ ध्रुवा सिद्धिर्द्युम्नप्रद्युम्नयोरपि।
दुग्धोपलम्भे सुलभा संपत्तिर्दधिसर्पिषोः ॥८।२९॥

आशय—जिसके पास होने से अग्नि और विष आदि भी अपने

प्रभावों से हीन हो जाते हैं उस धर्म के सिवाय और कौन शरीर-धारियों को शरण्य है। ठीक तो यही है कि मनुष्य पहले धर्म की सिद्धि प्राप्त करे तदनंतर अर्थ और काम तो सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं, जब दूध पास में हो गया तब दही और घृत की संपत्ति तो सुलभ है।

वास्तव में ये सांसारिक भोग विलास तब ही तक मन को मुदित करते रहते हैं जब तक यमराज के डंकों की चोट का शब्द कानों में नहीं सुनाई पड़ता। कालरूपी कसाई से लिया जाता हुआ यह पुरुषरूपी पशु आस पास की विषयरूपी घास में भले ही मुँह मार ले, अन्यथा सच तो यही है कि "यत्सुखं स सुखाभासो यद्दुखं दुःखमेव तत्" जो सुख दिखता है वह सुखाभास है दुःख तो दुःख है ही परंतु—

मदान्धास्ते परं लोकं कथं पश्यन्तु भूभुजः।
तमोमण्डलमध्यस्थाश्छत्रच्छायाच्छलेन ये ॥८।४५॥

आशय—मदांध राजा परलोक को कैसे देख सकते हैं? छत्र की छाया के छल से ये तो तमोमंडल में स्थापित कर दिए गए।

धन्य तो वे ही हैं जो अपने मन, वचन और कर्म से धर्म मार्ग में संलग्न है।

कायः कर्मकरोयं न तत्र कार्यातिलालना।
भृतिमात्रोचितो ह्येष प्रपुष्टो विचिकीर्षते ॥८।४८॥

आशय—यह काया तो कर्मकर (मजदूर कर्म करने का साधन) है इसे अधिक लाड़ नहीं लड़ाना चाहिए, इसके लिए तो भृतिमात्र (वेतन—निर्वाह) उचित है अधिक पोषण करने पर यह कुचेष्टा करने लगती है।

अतः विवेकपूर्वक बर्तना चाहिए। अविवेकी पुरुषों के हृदयों में जलती हुई काम क्रोधादि दुःखों की अग्नियाँ कभी नहीं बुझतीं।

अविद्यामेव सेवन्ते हन्त विद्यां त्यजन्त्य ये।
ते कुल्यामनुरज्यन्ते वरारोह्य विहायिनः ॥८।५२॥

आशय—जो मनुष्य ज्ञानमार्ग को त्याग कर मिथ्या मार्ग का सेवन करते हैं वे मानो सुंदरी को त्याग दूती में रमण करते हैं।

जो लोग विषयरूपी मांस को त्याग कर दंड लेकर सावधानी से खड़े हैं उनसे यह संसाररूपी कुत्ता डर कर भागता है।

विधौ विध्यति सक्रोधे वर्म धर्मः शरीरिणाम्।
स एव केवलं तस्मादस्माकं जायतां गतिः ॥८।५६॥

आशय—विधाता की भी जब क्रूर दृष्टि हो जाती है तब धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्यों की रक्षा करती है अतएव वही एक मात्र हमारा आराध्य तथा सेवनीय विषय होना चाहिए।

यों विचारते हुए उसने तीर्थयात्रा करने का निश्चय किया और उसके मनोरथ को सिद्ध करनेवाली अनुकूल शरद ऋतु भी आ गई, जिसका आगे वर्णन है।

नवम सर्ग—यात्रा समागमन, श्लोक ७८। मंत्री ने अनेक सार्थी, सेवक, हाथी, घोड़े, बैल, रथ, गाड़ी तथा खाने पीने और ओढ़ने बिछौने के सामान को लेकर शुभ मुहूर्त में यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उसने जिसके पास सवारी नहीं थी उसको सवारी, धन नहीं था उसको धन, वस्त्र नहीं थे उसको वस्त्र प्रदान किए। यात्रा में उसका ऐसा संघ-प्रभुत्व-व्रत था कि जब सब भोजन कर चुकते तब आप करता, जब सब सो जाते तब आप सोता, और औरों के जागने के पहले ही आप उठ खड़ा होता। जिस किसी भी निर्जन स्थान में यात्रियों का वह समाज जाकर ठहरता वहाँ मंत्री अपने खाने पीने तथा सौजन्य साहचर्य से सुंदर उद्यान की छटा दिखला देता था। यात्रा के प्रसंग से जिन जिन नगरों में होकर वह समाज निकला वहाँ के अधीशों ने उसका पूर्ण सत्कार किया। मार्ग में सब स्त्री पुरुष जैन संप्रदाय के उचित गीत गाते जाते थे और जहाँ कहीं भी जिनेश्वरों के बिम्ब (मूर्तियाँ) और श्वेतांबरों के कदंब (समूह) मिलते वहाँ उनका अर्चन कर वह आगे बढ़ता। यों चलते चलते वह शत्रुजयी सचिव अपने संघ सहित श्रीशत्रुंजय (पालीताना के

पास) पर्वत के सुंदर शिखर पर पहुँचा और उसने कपर्दी यक्ष को अनेक पुष्पों द्वारा पूजा की। वहाँ पर उसने श्रीनेमिनाथ और पार्श्वनाथ के दो विशाल मंदिर बनवाए और पिछले मंदिर के मंडप में अपने पूर्वजों तथा सुहृदों की एवं अपनी और अपने भाइयों की घोड़ों पर सवार मूर्तियाँ स्थापित करवाईं और उस पर्वत के समीप एक ऐसा सरोवर बनवाया जिसका जल बहुत शीतल था। कुछ दिन वहाँ रहकर, दान पुण्य कर, वह रैवतक (गिरनार) की ओर चला। मार्ग में ऐसा सुप्रबंध रहा कि न तो कोई रोगग्रस्त हुआ, न कोई बात ही बिगड़ी और न किसी वस्तु की कमी हुई। पर्वत पर न चल सकनेवाले रथ, बैलियों आदि को नीचे छोड़कर वह ऊपर श्रीनेमिनाथ के मंदिर में गया और वहाँ अत्यंत श्रद्धा से पत्र, पुष्प, कपूर, चंदन, धूप आदि सुगंधित वस्तुओं से उनका पूजन किया जिससे सारा पर्वत मँहक उठा। इस रम्य स्थान पर धर्म परिचर्या करते हुए उसने बहुत दिवस बिताए। फिर वह वहाँ से सौराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़) को गया और वहाँ पर उसने श्रीसोमनाथ की भक्तिपूर्वक पूजा की। यहाँ से जिनेंद्र पदारविंद को अंतिम प्रणाम और अर्थीजनों को दानों से कृतार्थ कर वह अपने नगर को लौट गया।

> व्यावर्तमानमथ मानवराजमंत्रि-
> राजं मुदा प्रतिपथं प्रमदास्तदानीम्।
> पश्यन्त्यदृष्टमिव तं शतशोपि दृष्टं
> तृप्तिर्भवेन्नहि दृशां प्रियदर्शनेषु ॥ ६। ७६ ॥

आशय—जब इस मानव-रत्न मंत्रीराज को लौटा हुआ देखा तो उमंग से भरी हुई स्त्रियाँ, जिन्होंने उसे सैकड़ों बार देखा था तो भी पहले कभी न देखा हो इस तरह, देखने लगीं, ठीक है प्रियदर्शनों के दर्शनों से नेत्रों को तृप्ति होती ही नहीं।

नगर में पहुँचकर उसने राजा के चरण स्पर्श किए और संघ के लोगों का सत्कार कर उन्हें बिदा किया।

परिशिष्ट

पूर्वलिखित कीर्तिकौमुदीसार में वस्तुपाल की संक्षिप्त जीवनी आ चुकी है। वस्तुपाल और तेजपाल का वृत्तात सोमेश्वर के अतिरिक्त अरिसिंह के 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंह के 'हम्मीरमदमर्दन', तथा आचार्य उदयप्रभ के 'धर्माभ्युदय' तथा 'सुकृतकल्लोलिनी', में भी मिलता है। ये सब ग्रंथ संवत् १२८६ के पूर्व कि जब इन भाइयों की सौभाग्य-श्री पूर्ण विकसित थी, लिखे गए थे। तदनंतर बालचंद्र सूरि ने, जो वस्तुपाल का समकालीन था, उसकी मृत्यु के पश्चात् 'वसंतविलास महाकाव्य' लिखा। पीछे से मेरुतुंगाचार्य ने अपने 'प्रबंधचिंतामणि' और राजशेखर सूरि ने 'प्रबंधकोश' में इनकी संक्षिप्त जीवनी को स्थान दिया, परंतु इन भाइयों के विषय में सबसे अधिक वृत्तांत देनेवाला ग्रंथ जिनहर्ष का बनाया हुआ 'वस्तुपाल चरित्र' है। इस छोटे से प्रबंध में जो वस्तुपाल के विषय में लिखा जा चुका है वह दिग्दर्शन मात्र समझना चाहिए। वस्तुपाल के विषय में दो चार और विशेष बातें इस परिशिष्ट में अन्य ग्रंथों से लिख देते हैं।

मेरुतुंगाचार्य ने प्रबंधचिंतामणि में यों लिखा है—"मंत्रिणस्तु जन्मवार्त्ता चैवं। कदाचिच्छ्रीमत्पत्तने भट्टारकश्रीहरिभद्रसूरिभिर्व्याख्यानावसरे कुमारदेव्यभिधाना काचिद्विधवातीव रूपवती मुहुर्मुहुर्निरीक्ष्यमाणा तत्र स्थितस्याशराजमंत्रिणश्चित्तमाचकर्ष। तद्विसर्जनानंतरं मंत्रिणानुयुक्ता गुरव इष्टदेवतादेशादमुष्याः कुक्षौ सूर्याचंद्रमसोर्भाविनमवतारं पश्यामः, तत्सामुद्रिकानि भूयो विलोकितवंत इति प्रभोर्विज्ञाततत्वः स तामपहृत्य निजां प्रेयसी कृतवान्। क्रमात्तस्या उदरेऽवतीर्णौ तविव ज्योतिष्केंद्राविव वस्तुपालतेजःपालाभिधानौ सचिवाभूता।"

इनकी उत्पत्ति

आशय—मंत्री के जन्म की वार्ता इस प्रकार है। एक समय पाटण में भट्टारक श्रीहरिभद्रसूरि व्याख्यान करते समय कुमार-देवी नाम की एक अतीव रूपवती विधवा को वारंवार देखते थे। वहाँ पर आशराज (अश्वराज) मंत्री भी उपस्थित था। उसका ध्यान

इस ओर गया और सभा के विसर्जन होने पर उसने गुरुजी से इस विषय में प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया कि इष्ट देवता के आदेश से इसकी कुक्षी में सूर्य और चंद्रमा के समान होनेवाले अवतार को मैं देखता हूँ, इसलिए सामुद्रिक लक्षणों को वारंवार जाँच रहा था। गुरु से ऐसा तत्व जानकर मंत्री ने उस विधवा को अपनी प्रेयसी बना लिया। कालांतर में उसके उदर से ज्योतिष्केंद्रों के समान वस्तुपाल और तेजपाल नाम के सचिव उत्पन्न हुए।

इस रहस्य को सोमेश्वरादि कवियों ने नहीं लिखा है।

ये दोनों भाई योद्धा भी थे। वस्तुपाल के शंख के साथ युद्ध का वर्णन कर चुके हैं। तेजपाल के विषय का भी एक उदाहरण

तेजपाल का युद्ध

लिखते हैं। महातट (महीकांटा) नाम के देश का घूघुल नाम का राजा था। उसकी राजधानी गोध्रा थी। वह गुजरात देश में व्यापार करने को आते जाते हुए व्यापारियों के माल को छीन लिया करता था और वीरधवल के कहने सुनने की कुछ भी परवाह नहीं करता। इन दोनों भाइयों ने एक समय उसके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि उसे राणा वीरधवल की आज्ञा माननी चाहिए। परंतु उसने उत्तर में राणा के लिए एक काजल की डिबिया और एक शाटिका (ज़नानी धोती) भेज दी। राणा ने अपने सैनिकों से कहा कि घूघुल से युद्ध करने के लिए कौन बीड़ा उठाना चाहता है? तेजपाल ने ही उसे ग्रहण किया और वह सेना लेकर रवाना हुआ। उसने अपने थोड़े से सिपाही आगे भेज दिए जिन्होंने वहाँ पहुँच कर ग्वालियों को पीटा और उनकी गायें पकड़ लीं। घूघुल के पास ज्योंही यह समाचार पहुँचा वह उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—

वृत्तिच्छेदविधौ द्विजातिमरणे स्वामिग्रहे गोग्रहे,
सम्प्राप्ते शरणे कलत्रहरणे मित्रापदां वारणे।
आर्तत्राणपरायणकमनसां येषां न शस्त्रग्रहः,
तानालोक्य विलोकितं मृगपते सूर्योऽपिसूर्यान्तरम्॥

अर्थात् जो ऐसी अवस्थाओं में कि जैसे परंपरा की आजीविका का नाश होता हो, ब्राह्मण के प्राण जाते हों, अपना स्वामी क़ैद होता हो, गौ मारे जाने के लिए पकड़ी जाती हो, शरणागत की रक्षा करनी हो, स्त्री हरी जा रही हो, मित्र की आपत्ति दूर करनी हो, शस्त्र ग्रहण नहीं करते उनके लिए यह अत्यंत लज्जा की बात है।

घूघुल सिपाहियों को ले घोड़े पर चढ़ लड़ने के लिए गया और उसने बड़े पराक्रम के साथ मंत्री की सेना का सामना किया। परंतु द्वंद्व युद्ध में तेजपाल से हार गया और क़ैद कर लिया गया। वीरधवल ने काजल की डिबिया घूघुल के गले में बाँध दी और वह साड़ी उसी को पहना दी। घूघुल को बड़ी लज्जा हुई और वह अपने दाँतों से अपनी जीभ काटकर मर गया। राजा ने तेजपाल को बहुत पुरस्कार दिया।

एक समय चर पुरुषों ने दिल्ली से आकर वस्तुपाल को सूचना दी कि मोजदीन सुरत्राण (दिल्ली का मुइज्ज़ुदीन बहरामशाह) पश्चिम दिशा की ओर सेना लेकर रवाना हुआ है। मंत्री ने तुरंत उन लोगों को वीरधवल के पास भेजा और उसने इसी को इस विषय का प्रबंध करने के लिए नियत किया। इसने अर्बुदगिरि के नायक धारावर्ष को कहलाया कि जब यवन सेना दक्षिण की ओर आ जावे तो वह घाटों को रोक दे। उसने वैसा ही किया। वस्तुपाल अचानक उन पर टूट पड़ा। यवन तोबा तोबा कर इधर उधर भागने लगे परंतु मार्ग रुके हुए थे। निदान वे बुरी तरह मारे गए और वस्तुपाल ने उनके (तच्छीर्षलक्षैः शकटानि भृत्वा) लाखों मुंड छकड़ों में लदवा कर धोलका में ला वीरधवल को दिखाए।

मुइजुद्दीन बहरामशाह के साथ युद्ध

जावालिपुर (जब्बलपुर) में उदयसिंह (चौहान) नाम का एक राजा राज्य करता था। उसके तीन भाई-बेटे जिनके नाम सामंतपाल, अनंतपाल और त्रिलोकसिंह थे। अपनी आजीविका न्यून होने के कारण

भद्रेश्वर के राजा भीमसिंह से युद्ध

वीरधवल के पास सेवार्थी होकर आए। राजा को इन वीर राजपूतों की आकृति, तेज और उद्यमशीलता पसंद आई, परंतु जब वेतन के लिए पूछा तो उन्होंने एक एक लाख द्रम्म माँगे। इस पर राजा ने कहा कि इतने द्रव्य में तो सैकड़ों योद्धा नियोजित किए जा सकते हैं। तुम उनसे अधिक क्या करोगे। यों कह उनको बीड़ा दे बिदा किया। मंत्रियों ने राजा से इनकी शिफारिश भी की और कहा कि पुरुषों की योग्यता के सामने धन कुछ भी नहीं, परंतु उसने न माना। निदान वे लोग भद्रेश्वर (कच्छ में) के राजा भीमसेन (या भीमसिंह) के पास चले गए जो बली और धनी था और वीरधवल से बैर रखता था। उसने इनको अपने यहाँ सत्कार-पूर्वक रख लिया और उनकी सहायता से वीरधवल को युद्ध के लिए ललकारा। घोर युद्ध हुआ। वीरधवल "ऊपरवट" नाम के घोड़े से गिरा दिया गया। इन राजपूतों ने यह समझ कर कि उन्होंने वीरधवल का पान खाया था इस लिये उसे जान से नहीं मारा। परंतु यह ताना अवश्य मारा कि वे तुम्हारे सैकड़ों योद्धा कहाँ हैं? वीरधवल नम्रानन हो गया और कहने लगा कि अवसर पर आ जावेंगे। मंत्रियों ने राजा को अपनी भूल का याद दिलाया और वे बड़ी वीरता के साथ लड़े। अंत में संधि होकर युद्ध का अंत हुआ।

वस्तुपाल के पूर्वज मंत्रियों के अधिकार पर नियुक्त रहे थे। उसके पिता अश्वराज के विषय में सोमेश्वर ने लिखा है—

वस्तुपाल का धनसंग्रह

आनीतं न्यायतो वित्तं व्ययितं धर्मकर्मसु।
यशस्तु जनति स्तुत्यं केवलं यस्य तिष्ठति॥

कीर्त्तिकौमुदी सर्ग ३ श्लोक १६

अर्थात् जगत् में यश उसीका फैलता है जिसने न्याय से धन संग्रह किया और उसे धार्मिक कार्यों में लगाया। इसके अतिरिक्त वस्तुपाल और तेजपाल भी मंत्री बने। धनसंग्रह के इन कारणों के अतिरिक्त नीचे लिखे हुए कारण भी उपलब्ध होते हैं—

१—वस्तुपालचरित् में लिखा है कि एक समय ये अपने धन को "हड्डालक" (काठियावाड़ में) स्थान पर गाड़ने गए तो वहाँ पर इनको गड़ा गड़ाया बड़ा भारी ख़जाना मिला।

२—जब वस्तुपाल स्तंभतीर्थ पर मंत्री होकर गया तो एक मुसलमान सौदागर जो "सैयद" नाम से प्रसिद्ध था, उसकी आज्ञा के पालन करने में इनकार करने लगा। इस सौदागर के जहाज चला करते थे और वह बहुत धनवान था। इसने भृगुपुर (भड़ौच) से शंख को अपनी सहायता के लिए बुलवाया और उसको वस्तुपाल के सम्मुख युद्ध करने को तत्पर कर दिया। वस्तुपाल ने शंख को पराजित किया और सैयद को कैद कर उसकी संपत्ति अपहरण कर ली। जब इसकी सूचना लवणप्रसाद को दी गई तो उसने आज्ञा दी कि जो बहुमूल्य है वह राज में जमा कर दी जाय। वस्तुपाल ने विज्ञापित किया कि वह सौदागर इतना धनिक है कि उसके यहाँ की गृहरेणु भी बहुमूल्य है। राजा ने गृहरेणु मंत्री के समर्पण कर दी। दैवयोग से इस ही काल में सैयद के कुछ जहाजों में आग लग गई और बहुत सा बहुमूल्य धातुमय सामान रेणु हो गया जो राजा के आज्ञानुसार वस्तुपाल का निज का द्रव्य बन गया।

इन दोनों भाइयों ने दक्षिण में श्रीशैल, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और पूर्व में काशी तक इतने धर्मस्थान बनवाए कि जिनका गिनना कठिन है। आबू की प्रशस्ति में लिखा है कि इनके खुदवाए हुए कुएँ, बावड़ी, सरोवर और नए बनवाए तथा सुधरवाए हुए स्थानों का हिसाब यह पृथ्वी ही जानती होगी। शत्रुंजय, गिरनार और आबू पर तो इन्होंने अलौकिक देव-मंदिर बनवाए। इन मंदिरों में क्रमशः अट्ठारह करोड़ नब्बे लाख, बारह करोड़ अस्सी लाख और बारह करोड़ तिरपन लाख व्यय हुए। कहा जाता है कि इन्होंने कुल मिलाकर तीन अरब और चौदह लाख रुपया धर्मकार्यों में व्यय किया।

धन का उपयोग

कहते हैं कि एक समय जब कि ये दोनों भाई यह सोच रहे थे कि अपने धन का क्या उपयोग करें उन्होंने एक जैन साधु के मुख से निम्नखिति श्लोक सुना—

कोशं विकाशय कुशेशय संश्रितालौ
प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते।
दोषोदये निबिडराजकरप्रतापे
ध्वांतोदये तव समेष्यतिकः समीपम् ॥

आशय—हे कमल! इस समय दिन है, तू अपनी कली को खिला ले और अपना आश्रय लेनेवाले भ्रमर पर प्रेम कर। अरे, जब रात हो जायगी और अंधकार फैल जायगा अथवा चंद्रमा की किरणें तुमको दुखदाई होंगी तब भला कौन तेरे पास आवेगा? इस अन्योक्ति का आशय यह है कि जिस समय मनुष्य समृद्ध हो उस समय उसे दान दया आदि के कार्य करने चाहिएँ। श्लोक में भिन्नाक्षरों में शब्द द्व्यर्थक हैं अतः इसमें अंतरनिहित संकेत यह है कि तुम अपने कोश को प्रकाशित करो, अपने आश्रितों में धन को बाँटो, ये दिन तुम्हारे लिए हितकारी हैं। जब तुम्हारे दोष सामने आवेंगे और तुम पर राजा की क्रूर दृष्टि होगी तब कौन तुम्हारे समीप आवेगा? इसको सुनकर उन्होंने अपनी रुचि को धर्मकार्यों में और भी अधिक लगाया। यह भी कहा जाता है कि अपनी माता की प्रेरणा से इन्होंने देव-मंदिरों के बनवाने में अपना बहुत कुछ द्रव्य लगाया।

(२) अर्वाचीन अपढ़ धर्मप्रचारक

[लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, अमरावती]

गत शत वर्ष के भीतर छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में कई धर्मप्रचारक हो गए और होते जाते हैं जो कि पढ़े लिखे बिलकुल नहीं थे परंतु उन्होंने अपना प्रभाव लोगों पर ऐसा डाला कि उनके लाखों अनुयायी हो गए। यद्यपि इनके चलाए हुए पंथों में विशेष नूतनता नहीं है, उनके सिद्धांत किसी प्राचीन धर्म्म या पंथ से लिए गए हैं तथापि उन्होंने इतनी अदल बदल कर डाली है जिसको मनन करने से आश्चर्य होता है। इनमें से पहला घासीदास है जिसने छत्तीसगढ़ में सतनामी पंथ चलाया। यह एक गरीब चमार था जो अपने गाँव में मजदूरी न मिलने के कारण निकटस्थ दूसरे गाँव में जाकर एक किसान के यहाँ हल जोता करता था। लेखक ने यद्यपि घासीदास को नहीं देखा परंतु उसके मालिक को देखा है और उसके हरवाहे का चरित्र उसके मुँह से सुना है। छत्तीसगढ़ मध्यदेश की एक कमिश्नरी है। यह वही स्थान है जिसको पहले महाकोशल या दक्षिण कोशल कहते थे। घासीदास के समय में इस कमिश्नरी में तीन जिले थे अर्थात् रायपुर, बिलासपुर और संबलपुर। घासीदास बिलासपुरांतर्गत गिरौद नामक गाँव में पैदा हुआ था और वहीं रहता था। नवीन परिवर्त्तन में संबलपुर उड़िया जिला होने के कारण उड़ीसा में मिला दिया गया। तब छत्तीसगढ़ के शेष भाग के तीन जिले फिर बनाए गए जिसके कारण गिरौद अब रायपुर जिले में सम्मिलित हो गया है। यों तो चमार सर्व्वत्र अधिक हैं परंतु छत्तीसगढ़ में उनकी संख्या बहुत ही अधिक है। इनमें विद्या का प्रचार बहुत ही कम है और घासीदास के समय में और भी कम था। धर्म्म विषयक ज्ञान का फिर क्या कहना है। अन्य नीच जातियों के समान

वे अनेक देव देवी और भूत प्रेत की पूजा में लिप्त थे। ऐसे मूर्खों को अपने अंध विश्वास से हटाना, उनके देवता फिकवा देना, पहली श्रेणी के मांसाहारियों का मांस-भक्षण ही नहीं वरन उसके समान वस्तुओं का भक्षण, यथा लाल मिरचा, बैंगन इत्यादि का परित्याग करवा देना, मदिरा की कौन कहे तमाखू पीना भी बंद करा देना और निराकार के नाम की आराधना पर उनका चित्त और भक्ति जमा देना किसी प्रभावशाली धुरंधर पंडित के लिए भी सरल काम नहीं था। परंतु यह सब क्षुद्र "घसिया" ने कर दिखाया। छत्तीसगढ़ के सतनामी चमार कबीरपंथियों की नाईं मांस मदिरा का उपयोग नहीं करते, मूर्ति की पूजा नहीं करते, केवल सत्यनाम का भजन करते हैं। घासीदास ने इसका प्रचार सन् १८२० और १८३० ई० के बीच में किया। उस समय उसकी इच्छा पुरी जाकर जगन्नाथ के दर्शन करने की हुई। तब वह घर से पंद्रह बीस मील चलकर सारंगगढ़ पहुँचा। वहाँ कुछ दिन ठहर कर घर लौट आया और उसने रात दिन 'सत्तनाम सत्तनाम' की रट लगा दी। लोगों ने समझा कि वह विक्षिप्त हो गया है। एक दिन उसकी स्त्री ने जलाने की लकड़ियाँ न पाकर अपने पति से क्रोध में आकर कहा 'तुम तो रात दिन सत्तनाम सत्तनाम रटते हो, रोटी बनाने को घर में लकड़ियाँ तक नहीं है, अब मैं क्या तुम्हारा सिर जलाऊँ'। यह सुनकर घासीदास निकटस्थ सोनाखान जमींदारी के जंगल में चला गया और कई दिनों तक घर नहीं लौटा। तब गाँव के लोगों ने उसकी खोज की तो उसको एक तेंदू के झाड़ के तले सत्तनाम रटते हुए पाया। उसको समझा बुझाकर वे घर ले आए। एक दिन गाँव में किसी को साँप ने काट खाया। उसके संबंधी यह समझकर कि घासीदास साधु सा हो गया है कदाचित् उसके आशीर्वाद से विष उतर जाय उस सर्पदंशित व्यक्ति को उसके पास ले गए। घासीदास ने स्वभावतः उसके अच्छे होने के लिए प्रार्थना की, दैवयोग से वह अच्छा हो गया, फिर क्या था उसकी महिमा एकदम

सारे छत्तीसगढ़ में फैल गई। दूर दूर के लोग उसके आशीर्वाद के लिये आने लगे। उसके जातीय लोग उसके पाँव धोकर चरणामृत ले जाने लगे। इसकी इतनी अधिकता हुई कि सोनाखान जमींदारी का बाँस का जंगल नष्ट हो गया, क्योंकि चमार लोग चरणामृत बाँस के पोंगरों में ले जाते थे। उसके जातीय लोग उससे दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुए। तब उसने उपदेश किया कि सार वस्तु 'सत्तनाम' है उसीको भजो और सब पाखंड परित्याग कर दो, मांस मदिरा छोड़ दो और मांस के समान चाजा का उपयोग न करो। ये सब उपदेश संयुक्त प्रांत के जगजीवनदास के चलाए हुए सतनामी पंथ से इतने अधिक मिलते हैं कि इसमें संदेह नहीं कि घासीदास को जगजीवनदास के किसी चेले द्वारा सारंगगढ़ में शिक्षा मिली, जिसके कारण वह पुरी न जाकर घर लौट आया और सत्तनाम का भजन करने लगा। जगजीवनदास का पंथ भी मौलिक नहीं है। उसने उसे कबीरपंथ के आधार पर चलाया था। बहुतेरे लोग उसे कबीर का चेला समझते हैं।

घासीदास ही की श्रेणी का पंथप्रचारक छत्तीसगढ़ से लगे हुए उड़ीसा देश में भीमभोई हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक जीवित था। वह जाति का कंध था। कंध एक निपट जंगली जाति है जिसको अँग्रेजी में खोंड लिखते हैं। इन लोगों में नरबलि का इतना प्रचार था कि उसके दमन करने के लिए एक विशेष अफसर नियत किया गया था जो कई सालों तक काम करता रहा। यह प्रथा अब बहुत कुछ मिट गई है परंतु पक्की तौर से अब तक भी दावा नहीं किया जा सकता कि गहन जंगलों के बीच यदा कदा उनके देवताओं की मनुष्य के रक्त से तृप्ति न की जाती हो और धरती माता को उर्वरा करने के लिए बलि का अंश खेतों में न गाड़ा जाता हो। पुलिस की रिपोर्टों के पढ़ने से जान पड़ेगा कि जंगलों क्या मैदानों में भी और कभी कभी तो शहरों के मध्य में भी ऐसी घटनाएँ हो जाया करती हैं। भीमभोई नरबलि देनेवालों का सजातीय

होकर भी 'अहिंसा परमो धर्म्मः' का उपदेशक हो गया और बौद्ध धर्म्म का तारतम्य वर्तमान समय तक लगा गया। लोगों का विश्वास है कि शंकराचार्य ने बौद्धधर्म्म की जड़ उखाड़ कर फेंक दी जिससे भारतवर्ष में कई शताब्दियों से उस धर्म्म का नाम तक न रह गया, परंतु यह तो 'फूलै फलै न बेंत' का किस्सा है। एक महात्मा ने ऐसा कह दिया इसलिए बहुत से लोग यही समझते हैं कि बेंत फूलता फलता ही नहीं। बेंत की नाईं बौद्ध धर्म्म भी उड़ीसा में अभी फूलता फलता है। बौद्धतरु अवश्य काट डाला गया परंतु उसकी जड़ कभी नहीं उखड़ी, वह उलहती ही रही। उसके कोमल पल्लव तरुता या तरुणता को अलबत्तह कभी नहीं प्राप्त हुए इसलिए परिवर्तित नाम ही में छिपे रह गए। इस विषय पर राय साहब नगेंद्रनाथ वसु प्राच्यविद्यामहार्णव सिद्धांतवारिधि ने अपनी मयूरभंज की पुरातत्व विषयक रिपोर्ट में सयुक्तिक विवेचन किया है जिससे स्पष्ट है कि बौद्धधर्म्म उड़ीसा में अब भी वर्तमान है, केवल नाम बदलकर वैष्णव कर दिया गया है और हिंदू धर्म्म के लंबोदर में सम्मिलित कर लिया गया है। उड़ीसा में अच्युतानंददास, बलरामदास, जगन्नाथदास, अनंतदास, यशोवंतदास और चैतन्यदास बड़े महात्मा और वैष्णवाचार्य समझे जाते हैं। ये श्रीकृष्ण के परम भक्त थे परंतु थे सब शून्यवादी। अच्युतानंद ने शून्यसंहिता लिखी है जिसमें शून्य ही की महिमा गाई है और अपनी अनादि संहिता और अनाकार संहिता में 'अनाकार' 'निराकार' 'निरंजन' 'अजर' 'अनाद्य' और 'अक्षय' को शून्य ही का पर्य्यायवाचक बतलाया है। जगन्नाथदास अपने तुलाभिना नामक ग्रंथ में लिखते हैं "सकल मंत्र तीर्थ स्नान। बोइल शून्य ये प्रमाण॥ येते कहिलुं गो पार्व्वती। ये सर्व्वे शून्य रे अच्छन्ति॥ महाशून्यरु शून्य जात। से शून्य प्रणव सम्भूत। प्रणव परमकु कहि। सकल शास्त्र से बोलाइ।

[सब मंत्र तथा तीरत्थ स्नान। हैं शून्य के हित सब प्रमान॥
अतेक कह्यो हे पारवती। इन सबकी शून्य माहिं बस्ती॥

है महाशून्य से शून्य जात। यहि शून्य से हि हुव प्रणव जान॥
परम कहावत सोइ ओंकार। सब शास्त्र यही कहते पुकार॥]
चैतन्यदास अपने निर्गुण माहात्म्य में लिखते हैं—
ए देह गले ब्रम्ह याइ। महाशून्य रे विश्रामइ॥
पिंडरू गले प्राण। से घट हव महाशून्य॥
[यह देह जाय जब ब्रह्मधाम। महशून्य माँहि लेवे विश्राम॥
जब पिंड छोड़कर जात प्रान। घट महाशून्य ह्वै जात जान॥]

बलरामदास अपनी विराटगीता में श्रीकृष्ण से ही कहलवाते हैं—'मोहर शून्य रे विश्राम। से ठारे कहु आछे नाम॥ [है मेरा शून्य मांहि विश्राम। उस ठौर काहि कहता हुँ नाम॥] पुनः अपनी भूगोल-गीता में उन्हीं से कहलवाते हैं—केहि न थिले हे अर्ज्जुन। महाशून्य रे मोर जन्म॥ [अर्ज्जुन रहो नहिं कोई प्रथम। महाशून्य से हुव मेरा जनम॥] इन षड्दासों की पुस्तकों से जो सोलहवीं शताब्दी में जीवित थे प्रकट हो जायगा कि बौद्धधर्म्म का शून्य-वाद वैष्णव संप्रदाय में कितना अधिक सम्मिलित कर दिया गया, यहाँ तक कि बौद्धधर्म्म के पंचध्यानी बुद्ध पंचविष्णु मान लिए गए और उनकी पूजा वैष्णवों द्वारा होने लगी। सभी को विदित है कि पुरी के जगन्नाथ बौद्ध अवतार माने जाते हैं। अभी तक वहाँ जाति पाँति का झगड़ा नहीं है। वहाँ जाकर सभी जातियाँ एक दूसरे का छुआ खाती है। यथार्थ में पुरी में असल मंदिर बुद्ध ही का था परंतु हिंदुओं ने उसे वैष्णवीय कर डाला और बुद्ध की असल मूर्त्ति जो अभी तक विद्यमान है एक दीवाल उठाकर छिपा दी। कदाचित् ऐसा करने से तात्कालिक बहुत सी अड़चनें मिट गईं। यदि वे ऐसा न भी करते तब भी बुद्ध को वैष्णव कर डालने में बड़ी बाधा न पहुँचती। इसका जीता जागता उदाहरण बुद्धगया है जिसके महंत हिंदू ही हैं और बुद्ध की पूजा हिंदू प्रणाली के अनुसार होती आ रही है।

बौद्धधर्म्मवालों का विश्वास है कि बुद्ध का अवतार पुनः होगा।

वैष्णव वेषधारी उड़ीसा के गुप्त बौद्धों के अनुसार यह अवतार उन्नीसवीं सदी में हो चुका। उड़ीसा में एक रजवाड़ा बौद्ध नाम का है उसमें गोलासींगा नाम का एक गाँव है। उस गाँव को भगवान् बुद्ध ने श्रेय दिया। उस समय श्रीजगन्नाथजी नीलाचल को छोड़कर बुद्ध के दर्शन को आए और प्रश्न किया "किसकी आज्ञा से और किस निमित्त आप यहाँ पधारे। भगवान् ने उत्तर दिया—मैं निराकार अलेख की आज्ञा से यहाँ आया हूँ, वही महाशून्य अरूप अनादि गुरुस्वामी है। कलिकाल में पाप बहुत बढ़ गया है उसके नाश करने के लिये आया हूँ। मैं तुम्हें सत्यधर्म्म की दीक्षा देता हूँ। अब तुम परमार्थ के हेतु कपिलास को जाकर समाधिस्थ रह कर पश्चात् मनुष्यजाति का उद्धार करो।" कपिलास ढेंकानाल रजवाड़े में हैं। जगन्नाथजी वहाँ जाकर बारह वर्ष तक समाधि में रह आए। इनको वहीं के लोग गोविंद कहा करते थे। जब वे कपिलास से उतरे तब उन्होंने भीमभोई को वरदान दिया और महिमाधर्म्म की महिमा फैलाने के लिए आदेश किया तथा अंतर्धान हो गए। उड़िया भाषा में महिमा का अर्थ केवल गौरव ही नहीं होता परंतु उसमें सेवा भी सम्मिलित है, इसलिए महिमाधर्म्म का अर्थ सेवाधर्म्म होता है। कोई कोई इसे अलेखधर्म्म भी कहते हैं। बौद्ध लोग अपने धर्म्म को बौद्धधर्म्म कभी नहीं कहते थे। यह नाम अन्य धर्म्मावलंबियों का रखा हुआ है। उनके ग्रंथों में उसका नाम केवल 'धर्म्म' या 'सद्धर्म्म' पाया जाता है। उन्नीसवीं सदी के बौद्धधर्म्म का नाम महिमाधर्म्म या अलेखधर्म्म या कुंभीपटिया पड़ गया है। सबसे पिछले नाम की व्युत्पत्ति इन लोगों के वस्त्र के बदले कुंभी वृक्ष की छाल पहनने से की गई है। कहते हैं कि इस धर्म्म के गुरु पहले नग्न रहते थे। जब उनके गुरु आए तो सब साष्टांग दंडवत् करने को भूमि पर लेट गए। गुरु ने कहा 'उठ तुंभे झट। पिंधरे कुंभीपट॥ [उठो तुम झट, पहरो कुंभी पट]। तभी से उन्होंने कुंभी की छाल पहिनना आरंभ किया, परंतु उन्होंने अपने ६४ शिष्यों से कहा 'पट छाड़ि पाट पिंध' [पट छोड़ पाट

पहनो] अर्थात् तुम लोग पाट (रेशम) पहन सकते हो। रेशम तो सबको मिल नहीं सकता इसलिए बहुतेरे भगवा वस्त्र पहनते हैं।

भीमभोई जन्म का अंधा था। बाबू विजयचंद्र मजुमदार की खोज के अनुसार वह रेढ़ाखोल नामक रजवाड़े में पैदा हुआ था और १६ वर्ष की आयु तक एक किसान के ढोर चराया करता था। उड़ीसा के खेड़ों में बहुधा एक अलग झोपड़ी रहती है जिसे भागवत-घर कहते हैं। संध्या समय वहाँ लोग जमा होते और भागवत पुराण या अन्य धर्मविषयक पुस्तकों को सुना करते हैं। भीमभोई भी भागवत-घर को नित्य जाया करता था और जो कुछ वहाँ कहा जाता था कंठस्थ कर लेता था और वहीं खेतों में जाकर उसे गाया करता था। उसकी रुचि धर्म्म की ओर झुकी और जब वह बारह ही वर्ष का था उसे कुंभीपटियों के विचार अच्छे लगने लगे। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तो ढेंकानाल को जाकर महिमागुरु के पास रहने लगा। सन् १८७५ ई० में महिमागुरु की मृत्यु हो गई, तब वह वहाँ से चल दिया और अनेक स्थानों में उपदेश करता हुआ अंत में सन् १८७७ ई० में सोनपुर रजवाड़े के खलियापाली नामक ग्राम में बस गया। अपढ़ और अंधा होने पर भी वह शुद्ध और विमल उड़िया में बहुत ही अच्छे गीत बना सकता था जिसके कारण उसकी कीर्त्ति और भी अधिक बढ़ गई, यहाँ तक कि कई ब्राह्मण भी जनेऊ फेंककर उसके शिष्य हो गए। उसकी इतनी बड़ी जमात हो गई कि उसने एक बार अपने अनुयायियों को पुरी के जगन्नाथ को जला देने की आज्ञा दी और वे पुरी चढ़ धाए, पुरी के राजा से लड़ाई हुई और कुछ लोग मारे भी गए। पीछे से धर पकड़ हुई और कई एक को यथोचित दंड मिला। भीमभोई के अनुयायियों का विश्वास था कि उसमें दैवी शक्ति है क्योंकि वह दूषणरहित मनोहर छंदों में बिना प्रयास सुगम रीति से वार्त्तालाप करता था। उसके शिष्य उसकी वाणी को लिपिबद्ध करते जाते थे। उसके चलाए हुए धर्म्म में जाति पाँति का भेद नहीं, देवी-देवता की

पूजा नहीं। महिमाधर्म्म के यशोमती-मालिका नामक ग्रंथ में लिखा है:—"सुजातिये कुलधर्म्म समस्त छाडिबे। होमकर्म्म योग क्रिया सकल त्यजिबे॥ दारासुत वित्त वृत क्रिया त्याज्य करि। कुंभिपट्ट पिंधि शिरे थिबे जटाधरि॥ अनाकार महिमा नामकु करि शिक्षा। नवशूद्र घरे माँगि खेलुथिबे भिक्षा॥ नवशूद्र घरे अन्न भिक्षाकु भुजिबे। नगर बाहारे काल निद्राकु काटिबे। दिवसरे निद्राफले काल करे बास। रात्रे अन्न भोजन आहारे हय दोष॥ जप नाहि तप नाहि उदासी भाव रे। एका महिमाकु नाम जपिकु हृद रे॥

[भिक्खु स्वकुलधर्म्म जिते सो समस्त छोड़िहै।
होम कर्म्म याग क्रिया सो समस्त त्यागिहै॥
दारा पुत्र वित्त व्रत क्रिया परित्याग कर।
कुंभीपट्ट धारण कर रहै सीस जटा धर॥
अनाकार महिमा के नाम की कर शिक्षा।
नवशूद्रहिं घरै जाय खावै माँगि भिक्षा॥
नवशूद्रहिं गेह अन्न भीख माँग खायहै।
निशि को नगर बाहिरे सोइबे सुजायहै॥
नींद लेय दिवस माँहि तहाँ काल बास है।
भोजन आहार रात करने में दोष है॥
जप नहीं तप नहीं तू रह उदासि भाव से।
इक महिमा का हि नाम जप सहृदय भाव से॥]

इससे ऐसा जान पड़ेगा कि अलेखपंथी कदाचित् ब्रह्मचारी ही रहते होंगे, परंतु उनमें गृहस्थ भी रहते हैं। गृहस्थी के नियम कड़े हैं। पुरुष स्त्री के पास गर्भ की ऋतु ही में जा सकता है अन्यथा नहीं। इसका अभिप्राय यह बतलाया जाता है कि इस प्रकार के आचरण से संतति शुद्धाचरणवाली पैदा होगी और ऐसा होने से थोड़े ही समय में मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। परंतु गुरुओं को ब्रह्म-चारी रहना आवश्यक है। ऐसा होने पर भी भीमभोई ने दो स्त्रियाँ

कों और एक के लड़का और दूसरी के लड़की हुई। इस पर से उसके कोई कोई शिष्य असंतुष्ट हुए, परंतु उसने समझा दिया कि इस संसार को एक आदर्श पुरुष और एक आदर्श स्त्री दिखलाने के लिये मैंने उन्हें पैदा किया। भीमभोई प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में सन् १८९५ ई० में मर गया। अब कुंभीपटियों के दो विभाग हो गए हैं—ढेंकानाल के आदि मठवाले भीमभोई के विवाह कर लेने के अलग हो गए, तिस पर भी खलियावाली के मठ के अनुयायी सब से अधिक हैं।

कुंभीपटिया स्नान करने की परवाह नहीं करते। वे कहते हैं कि मन शुद्ध होना चाहिए, तन की शुद्धि की इतनी आवश्यकता नहीं है। वे उन ब्राह्मणों के यहाँ का भोजन नहीं करते जो अपने देवताओं को भोग लगाते हैं, क्योंकि वे देवी देवताओं को नहीं पूजते। वैसे वे किसी भी जाति के यहां खा लेते हैं। ये बड़े तड़के उठकर सूर्य को साष्टांग दंडवत करते हैं। वैसे ही वे सूर्यास्त के समय अलेख अलेख ध्वनि के साथ नमन करते हैं।

महिमाधर्म्म के मैथुन संबंधी कड़े नियम के विपरीत उड़ीसा में एक वैष्णव पंथ परमार्थी नाम का है। इसके नियम वाम मार्ग की नाईं गुप्त रक्खे जाते हैं। कहते हैं कि आदि में केवल कृष्ण की भक्ति के सिवाय कुछ नहीं किया जाता था, अब तो कृष्णलीला होने लगी है। इसमें स्त्रियाँ और पुरुष दोनों सम्मिलित रहते हैं और दीक्षित होने पर परपुरुष या परस्त्री से संबंध आवश्यक होता है, तत्पश्चात् आत्मसमर्पण की विधि होती है। इसमें दीक्षित अपनी स्त्री गुरु के समर्पण करता है। स्त्री कृष्ण और गुरुजी राधा बनते हैं। स्त्री के पति को किसी सखी का नाम दिया जाता है और कृष्ण राधा का योग सब परमार्थियों के सामने किया जाता है। यह किसने चलाया इसका पता नहीं लगता, क्योंकि इस पंथ की बातें बहुत गुप्त रक्खी जाती हैं। विलासपुर में एक डेढ़ ने भी कुछ ऐसा ही पंथ चलाया था। वह कहता था कि बहिन भाई में विवाह करने में कोई हानि

नहीं। परंतु उसका प्रचार नहीं हुआ। लोगों ने प्रचारक को मार पीट कर सीधा कर दिया।

अब हम सबसे नवीन संप्रदाय का वर्णन कर इस लेख को समाप्त करते हैं। इस पंथ को एकीसक वर्ष के एक उरांव ने सन् १९१४ ईस्वी में चलाया था। उरांव कंधों के समान एक जंगली द्राविड़ी जाति है जो मध्यप्रदेश उड़ीसा और छोटा नागपुर में पाई जाती है। किसी किसी का मत है कि इसी जाति के लोग राम-सेना के बंदर थे और उरांव उसी शब्द का अपभ्रंश हो गया है। वानर का बनरांव (बानर सरीखा) और उससे बिगड़ कर उरांव हो गया। जो हो ये लोग बिलकुल प्राथमिक अवस्था में पाए जाते हैं और भूत प्रेत और प्रकृति की वस्तुओं की पूजा करते हैं। जर्मन और रोमन मिशनवालों ने कोई २५ हजार उरांवों को क्रिस्तान कर लिया है। परंतु उनकी क्रिस्तानी अजब है, वे समझते हैं कि गीत गाना और चोटी कटा डालना ही क्रिस्तानी है। जो क्रिस्तान नहीं हुए वे 'संसार' कहलाते हैं। एक ही अविभक्त कुल में क्रिस्तान और संसार लंका के बौद्ध और क्रिस्तानों के समान इकट्ठे रहते पाए जाते हैं, बाप संसार है तो लड़का क्रिस्तान है। खाने पीने का निषेध न होने से किसी भी धर्म्म के अनुयायी हो जाने से कुनबे में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। परंतु जंगली हिंदू और क्रिस्तानी मतों के संपर्क से उन लोगों के चित्त में कई प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगे हैं। इसका असर छोटा नागपुर अंतर्गत चेपरी नवाटोली ग्राम के जत्रा नामक उरांव भुवा पर विशेष पड़ा। उसने सोचा भूत प्रेत अब बहुत बढ़ गए हैं इनको निकालना चाहिए। वे बहुत से भैंसा, बकरा, मेंढ़ा या आदमी की बलि लेते हैं—यह सब बंद करना चाहिए। जत्रा ने सब पर यह प्रकट किया कि मुझे धर्म्मेश ने स्वप्न दिया है कि मरिआओ (झाड़ फूँक) और भूत प्रेतों पर विश्वास छोड़ दो, किसी जीव का बलिदान मत करो, मांस मदिरा छोड़ दो, हल मत जोतो क्योंकि उससे गाय बैलों को

दुःख होता है और अकाल में उनकी रक्षा नहीं हो सकती। और दूसरी जाति के यहाँ मजदूरी मत करो। इसके सिवाय धर्मेश ने यह आज्ञा दी है कि जितने चेले हो सकें उन सब को इकट्ठा करके मंत्र सिखलाओ, ये मंत्र मुझे आपसे आप आ जायँगे, उनसे रोग भी हट जायँगे। उसने यह भी डर बतला दिया कि जो उसके चेले न होंगे वे गूँगे हो जायँगे। स्वप्न की बात बतलाते ही उसके सहस्रोंक चेले तुरंत हो गए। इन लोगों ने पहले भूत भगाना आरंभ किया। वे इकट्ठे होकर अपने देवताओं का आवाहन करते हुए किसी गाँव में प्रवेश करते हैं। जब किसी को भाव आ जाता है, तब वे लोग निम्नलिखित मंत्रों का उच्चारण करने लगते हैं—

ताना बाबा ताना भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
ताना बाबा ताना कोनकुची भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

× × × × ×

चंद्र बाबा सूरज बाबा।
धरती बाबा तारेगन बाबा।
नाम से अर्जी माँगते हैं।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
डाइन के नासन ग्रायल भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

× × × × ×

मुरगी खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
कारा* खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

---

* भैंसा।

भेड़ा खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
आदमी खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

जिस समय यह पंथ प्रचलित हुआ उस समय जर्मन युद्ध हो रहा था। इन लोगों ने जर्मन शक्ति का विवरण जर्मन मिशन द्वारा बहुत कुछ सुना था। इसलिये अपने देवताओं में 'जर्मन बाबा' को भी शामिल कर लिया था और उसका आवाहन यों करते थे—

ताना बाबा ताना
अगिनबोट के ताना।
ताना बाबा ताना
रेलगाड़ी के ताना।
ताना बाबा ताना
बाइसिकिल के ताना।
ताना बाबा ताना
तान तोन ताना।

मंत्रोच्चारण के पश्चात् भाववाला चिल्लाता है 'हटो हटो भागो भूत। भागो भूत भागो' रात भर यह क्रिया जारी रहती है, प्रातःकाल एक सफेद बकरा सूरज बाबा के नाम पर छोड़ दिया जाता। फिर वे किसी घर में घुसते और गाते हैं—

"बाबा-बाबा-चंद्राबाबा-चंद्राबाबा
काँहाँ है—सूरज बाबा-काँहाँ है"
उनमें से कोई उत्तर देता है—
'ईहाँ है, ईहाँ है'

घर के हर एक कोने की तलाशी ली जाती। उनमें से कोई लकड़ी या तिनका लेकर निकल आता है और कहता यह पकड़ लिया है। कभी कभी जमीन खोदकर भूत की खोज की जाती है जिसमें कि वह किसी जगह छिपकर न रह जाय। फिर वह पकड़ा हुआ भूत बस्ती

के बाहर जला दिया जाता है। इसके पश्चात् धर्म्मेश को फल फूल चढ़ाए जाते हैं।

ताना (निकालो) शब्द के अधिक उपयोग से ये लोग 'ताना' या 'ताना-भगत' कहलाने लगे हैं। वे स्वयं उसे 'कुड़ुख धर्म्म' या 'भक्ति धर्म्म' कहते हैं। उराँव लोग अपनी भाषा में अपनी जाति को कुड़ुख़ कहते हैं। ताना पंथ उराँवों में बहुत फैलता जाता है। बहुत सी बातें हिंदुओं के धर्म्म से ली गई हैं। कुछ क्रिस्तानों से और कुछ अपने आदिम धर्म्म से लेकर यह एक विचित्र खिचड़ी तैयार हो गई है। धर्म्मेश अर्थात् सबसे बड़ा देव कदाचित् बौद्ध धर्म्म से पहले ही से शामिल कर लिया गया है। इस देवता के लिंग भेद में बड़ी गड़बड़ है। कोई उसे पुरुष, कोई स्त्री समझते हैं। ख्रीष्टीय पाँचवीं शताब्दि में बौद्ध लोग धर्म्म की मूर्ति देवी रूप में बनाने लगे। नैपाल के नेवार बौद्ध उसे आदि धर्म्म, प्रज्ञा पारमिता, धर्म्म-देवी, आर्य तारा या गयेश्वरी कह कर पूजते हैं। धर्म्म और शीतला की पूजा उड़ीसा में अब तक सर्वत्र होती है। ये दोनों बौद्ध धर्म्म के देवता हैं। शीतला का प्रसार तो सारे हिंदुस्तान में फैल गया है।

प्रमाण पुस्तकावली

1. Russell and Hiralal's Tribes and Castes of the Central Provinces. Articles Satnami, Chawar and Parmarthi.
2. Nagendra Nath Vasn's Archaeological report of Mayurabhanja state Vol I.
3. Mazoomdar's Sonpur.
4. Man in India (Anthropological Journal from Ranchi) Vol I.
6. Indian Antiquary Vol XXXVII.
7. श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन।
8. पार्वताबई कृत ईश्वरदास।

(३) श्रीमती मैनाबाई

(लेखक—मुंशी देवीप्रसादजी, जोधपुर)

धार संस्थान के पँवार वंश में यशवंत नाम के एक प्रसिद्ध राजा हुए। उनके पोते आनंदराव दूसरे* थे। श्रीमती मैनाबाई इन्हीं आनंदराव पँवार की धर्म-पत्नी थी जो बड़ी पतिव्रता, प्रजापालन में दक्ष, धैर्यवती और ईश्वरभक्त थी, परंतु दैवयोग से युवावस्था में ही विधवा हो गई थी। आनंदराव के मरने के पीछे इनके सिवाय राज्यशकट का चलानेवाला और कोई नहीं था। देश में चारों तरफ अशांति फैली हुई थी। आस पास के राजाओं ने इनके राज्य में बड़ी धूमधाम मचा दी थी और इनके अमात्य और संबंधियों में से भी कितने जनों ने अपने बड़े बड़े पक्ष बना लिए थे और राज्य पर हक जता जता कर राजधानी छीन लेने के लिए भारी भारी प्रयत्न किए थे, परंतु मैनाबाई ने परमेश्वर पर भरोसा रखकर बड़ी युक्ति और धैर्य से अपना, अपने पुत्र और राज्य का रक्षण किया, देश में शांति स्थापित की और उत्तमता से प्रजा को पाला।

इस वीर बाप की बेटी और वीर पति की पत्नी पर कैसे कैसे संकट पड़े और इन्होंने किस किस तरह से उनका निवारण किया इसका कुछ हाल आगे की पंक्तियों के पढ़ने से मालूम होगा।

इस भारतवर्ष में अब तक देश के भूषण रूप जितने स्त्रीरत्न परमेश्वर ने निर्माण किए हैं उनमें मैनाबाई को भी गणना करना आवश्यक है।

---

* पहले आनंदराव, जसवंतराव के बाप थे जिन्होंने बाजीराव पेशवा से धार वगैरह कई परगने मालवे की जागीर में पाए थे। इनका देहांत संवत १८०६ में, जसवंत राव का १८१८ में और खंडेराव का १८४६ में हुआ। दूसरे आनंदराव खंडेराव के बेटे थे, जो संवत १८६४ में मरे थे।

इस चरित्रनायिका का जन्म एक ऐसे मरहटी घराने में हुआ था जिसका संबंध बड़ोदा के गायकवाड़ महाराज से था और मैनाबाई की सास अर्थात् धार के राजा खंडेराव पँवार की रानी गोविंदराव महाराज गायकवाड़ की बेटी थी और उसी प्रसंग से मैनाबाई का ब्याह खंडेराव पँवार के बेटे दूसरे आनंदराव* से हुआ।

मैनाबाई बचपन से ही बड़ी पराक्रमवती और दयाशीला थी और यथायोग्य सबका मान रखती थी। पति के साथ कुछ दिन रहने पर ही इनके अनेक गुणों के कुसुमों का परिमल राज्य भर में फैल गया। इसके सब परिजन और प्रजागण इन पर बड़े प्रसन्न रहते थे। मैनाबाई का अपने पति पर बहुत प्रेम था और उनके साथ वे अत्यानंद से कालक्षेप करती थीं, परंतु दैव को उनका सुखोपभोग पसंद न आया। उसने बड़ी निर्दयता से उस राज्य के सौख्य और मैनाबाई के संसार सुख का आधार-स्तंभ आनंदराव को अल्पायु में ही नष्ट कर दिया।

आनंदरूपी सूर्य के अस्त होते ही धार के सब राज्य में और मैनाबाई के हृदय में घोर अंधकार छा गया मैनाबाई शोक सागर में डूब गई, उनका जीवनाधार कोई नहीं रहा, उनके लिए संसार कष्टमय हो गया। उसने पती के साथ सती होने का विचार किया परंतु उन्होंने उस समय सगर्भा होने से अपने सुख के लिए प्राण नाश और भावी पुत्राशा को नष्ट करके प्रजा को और भी दुःखसागर में डुबो देना उचित न समझा और सती होने के विचार को बड़े धैर्य से बंद रखकर पतिवियोग का दुख सहन कर लिया।

---

* ये धार के पँवार अपनी पीढ़ियाँ धार के विख्यात राजा भोज से मिलाते हैं परंतु धार में मुसलमानों को अमलदारी हो जाने के पीछे ये लोग मरहट देश में जा रहे और मरहटों में सगाई विवाह करके मरहटे हो गए जिससे इनका संबंध राजपूतों से छूट कर मरहटों में रह गया, जैसे बुंदेलखंड के पँवार बुंदेलों से नाता रिश्ता करके बुंदेले पँवार हो गए।

मैनाबाई पर वास्तव में बड़ा कठिन क्लेश आ पड़ा था क्योंकि प्रथम तो उनको युवावस्था में वैधव्य प्राप्त हुआ, दूसरे राज्य चलाने का अनुभव नहीं था, तीसरे किसी का आश्रय भी नहीं था। इनको अबला देखकर सींधिया होलकरादि सजाति बांधवों ने भी इनके राज्य में लूट मचा दी। रंगराव दीवान अवड़ीकर ने जो आनंदराव के समय से ही धार संस्थान को अपने कबज़े में कर लेने की कोशिस कर रहा था अब अवसर पाकर मनोकामना सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया। उधर आनंदराव की बहन ने भी अपने नाम से कोई लड़का दत्तक लेकर गद्दी को मूसना चाहा, परंतु मैनाबाई के कारण इन सब शत्रुओं की आशा पूरी न हुई। उन्होंने अपनी हिम्मत और युक्ति से इन सबके उद्योग को विफल कर दिया।

इन सब शत्रुओं में मुरारिराव नाम का एक बहुत प्रबल शत्रु मैनाबाई का था। यह यशवंतराव पँवार का दासीपुत्र था और आनंद-राव के बाद अपने को गद्दी का मालिक समझने लगा था। इसने राज्य में अपना बड़ा पक्ष खड़ा किया और लोभ दे देकर राज्य के बहुत से अधिकारियों को अपने वश में कर लिया। मैनाबाई का तिरस्कार करके उनको मारने के लिए इसने कपट का एक प्रपंच रचा, तब मैनाबाई अपना और अपने गर्भ का रक्षण करने के लिए कई वृद्ध मंत्रियों के मंत्र और प्रबंध से धार छोड़कर मांडव के किले में चली गईं। वहाँ जाने के बाद थोड़े ही दिनों में इनके पुत्र जन्मा, पुत्र का मुख देखकर मैनाबाई को अति हर्ष हुआ। पुत्र होने की आशा से ही वे इतने कष्ट सहन कर रही थीं। अब पुत्र का मुख देख-कर उनको जो आनंद हुआ उसका वर्णन करना असंभव है। समस्त मांडव में लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया। मैनाबाई ने भी गरीबों को वस्त्र और धन बहुत सा दिया और बड़ा उत्सव दान धर्मपूर्वक किया।

राजकुमार का नाम रामचंद्र राव रखा गया। जब उसके पैदा होने की शुभ वार्ता सब राज्य में फैली तो प्रजा के मन में आनंद ही आनंद भर गया। मैनाबाई के हृदय में तो आनंद समाता भी नहीं

था। उनके नेत्रकमलों में से वारंवार आनंद के आँसू टपकते रहते थे और वे अति नम्र भाव से परमेश्वर की प्रार्थना करती थीं कि हे दीनदयाल भक्तवत्सल प्रभो! तेरी कृपा से इस दीन दासी को सुख की घड़ी प्राप्त हुई है। मेरा सर्वस्व एकमात्र यह पुत्र है इसको सदा सुखी रख। इस निराश्रित अबला को तेरे सिवाय कोई आधार नहीं है। इस प्रकार परमेश्वर का ध्यान करती हुई मैनाबाई अपने प्रिय पुत्र के साथ आनंद में काल व्यतीत करने लगी, परंतु उसका शत्रु मुरारि राव रामचंद्र राव के जन्म की खबर सुनकर बड़ा दुखी हुआ और कहने लगा कि अब तो पँवारों की गद्दी का वारिश पैदा हो गया। सब लोग मैना को मदद देवेंगे और मेरा नाश करने का प्रयत्न करेंगे। ऐसे अनेक विचार उसके मन में उत्पन्न होने लगे और वह हमेशा चिंतातुर रहने और उस राज्यांकुर के तोड़ मरोड़ देने का उपाय सोचने लगा। निदान उस नराधम ने अपने पक्ष के मंत्रियों की सलाह से मैनाबाई और उनके बच्चे को धार में बुलवा कर घात करने के लिये मैनाबाई के पास कपट का पत्र भेजा जिसमें बड़ी नम्रता से लिखा था कि राजकुमार के जन्मने से मुझको और आपके सब प्रजा जन को बड़ी खुशी हुई है, मैं आपका दासानुदास हूँ, मुझे अपने पूर्व कर्मों का पूरा पश्चात्ताप हुआ है, मेरे अपराधों को क्षमा करो, मैं आपका पुत्र हूँ और आप मेरी माता हो, अब धार में आकर राज्य के कामों को सँभालो, मैं आपकी और राजपुत्र की निष्ठा से सेवा करूँगा।

इस पत्र के आने पर मैनाबाई ने धार को जाने का विचार किया क्योंकि उनको मुरारिराव का कपट मालूम नहीं हुआ था। वह स्वयं बड़े शुद्ध हृदय की सद्गुणवाली स्त्री थीं। उन्होंने पत्र पर पूरा विश्वास कर लिया। उनके कुछ वृद्ध सेवकों ने जो कि मुरारि राव के दुष्ट स्वभाव को पूरे तौर से जानते थे, धार जाने के लिए सलाह नहीं दी और कहा कि मुरारि राव विश्वासघात करे बिना नहीं रहेगा। उसने यह कपट पत्र भेजा है। ऐसा ही बहुत कुछ मैनाबाई के

और सेवकों ने भी कहा, परंतु अब तक उनके संकटों का अंत नहीं आया था इसलिए उन्होंने वृद्ध सेवकों के सदुपदेश को नहीं माना। परिजनों को लेकर अपने बच्चे समेत उन्होंने धार जाने के लिए मांडव से प्रयाण किया। मुरारि राव लवाजमा के साथ थोड़ी सी फौज लेकर मैनाबाई और राजकुमार रामचंद्र राव की पेशवाई के लिए धार के बाहर खड़ा था, जिसके साथ बड़े ठाट से मैनाबाई का नगर में प्रवेश हुआ। उन्होंने किले पर रथ को ले जाने के लिए हुक्म दिया। धार का किला बड़ा मजबूत था और किलेदार मैनाबाई के पक्ष का था जिससे वह किला मुरारि राव के हस्तगत नहीं हुआ था। इसी लिए मैनाबाई ने किले में जाना चाहा था कि वहाँ प्रवेश होने के बाद फिर किसी का डर नहीं रहेगा। परंतु मुरारि राव ने उनको किले पर न जाने देकर दूसरे मकान में ठहराया जिसको उसकी फौज ने चारों तरफ से घेर लिया। मैनाबाई को अपने वृद्ध सेवकों के सदुपदेश नहीं मानने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

मैनाबाई बड़ी सत्यप्रिया दयावती और सुशीला थीं। अपने प्राण देकर भी शरणागतों और विश्रब्धों का रक्षण करना अपना व्रत समझती थीं, परंतु कम उमर होने से उनको जगत् का अनुभव नहीं था, सब मनुष्यों के स्वभाव की पहचान नहीं थी कि कोई कोई नराधम स्वार्थसिद्धि के लिए पशु-तुल्य वृत्ति धारण करके अनेक दुष्ट कर्म करने को प्रवृत्त हो जाते हैं और कुल मानव जाति को कलंक लगाने से नहीं चूकते।

कैद करने के बाद मुरारि राव क्या करेगा और क्या नहीं इसका भी पता न लगने से मैनाबाई को बड़ी चिंता थी। वे अपनी जान की तो कुछ परवा नहीं करती थीं परंतु अपने साथ राजकुमार की जान को भी जोखिम में पड़ी देखकर उनको बड़ा खेद होता था।

इधर मुरारि राव मैनाबाई को कैद करके संतुष्ट न हुआ। उसकी यह इच्छा थी कि मकान में आग लगाकर मैनाबाई, उसके बेटे और नौकरों को भीतर के भीतर ही जला दें और उसने उसकी तैयारी भी

पहले से कर रखी थी। जब मैनाबाई के सेवकों को यह हाल मालूम हुआ तो बड़ी गड़बड़ मची। सब लोग घबड़ा गए। ऐसे विकट समय में जिस प्रकार बुद्धिमान् और धैर्यवान् पुरुष प्रयत्न करता है उसी तरह से मैनाबाई ने भी अपने पुत्र के बचाने का यह उपाय किया कि अपनी एक दासी को बुलाकर कहा कि तू अपना पुत्र तो मुझे दे और इस युवराज को किले में ले जाकर किलेदार को मेरी तरफ से नम्रतापूर्वक कह कि यह तुम्हारा मालिक है परंतु इस समय इसको मालिक न समझो, अपना लड़का जानकर इसकी रक्षा वैसे ही करो जैसे कि दुनिया में बाप अपने बेटे की करता है।

रानी ने यह कहकर जब अपना लड़का दासी के हाथ में दिया तब उनकी छाती भर आई और वे फिर उससे कहने लगीं कि मैं यह अपना पुत्र तेरे हाथ में नहीं देती हूँ किंतु अपना प्राण देती हूँ इसको ले और जा।

जाते समय उन्होंने अपने बालक को आशीर्वाद देकर कहा कि हे पुत्र! तुम आनंद से रहो, परमेश्वर तुमको चिरायु करे और तुम्हारा संकट सब हर ले।

दासी भी समय को देखकर रानी का काम करने को तैयार हुई। युवराज को लेकर उसने अपना ऐसा भेष बदला कि विचक्षण पहरेवालों को भी भूल में डाल दिया और योग्य समय पर राजकुमार को किले में पहुँचाकर जो धर्म सच्चे सेवकों का होता है वही उसने प्रतिपादित किया।

मैनाबाई ने इतने गुप्त-रूप से राजकुमार को किले में पहुँचाया था तो भी यह हाल मुरारि राव को मालूम हो गया और वह दुष्ट उसको दुख देने पर उतारू हुआ। उसके दिल में की ज्वाला मुँह से निकलने लगी, गुस्से से उसकी आँखें लाल हो गईं और उसने मैनाबाई से कहलाया कि मुझे धोका देकर राजपुत्र को किले में भेजा है उसकी सजा तुझको दूँगा और घर जलाकर तेरा प्राण लूँगा और तेरे पुत्र को भी किलेदार सहित दंड दिए बिना न छोड़ूँगा, देखूँ

तू आज कैसे जीती रहती है, कोई तेरा बचानेवाला हो तो उसे पुकार। यह सुनकर मैनाबाई के सेवक कहने लगे कि आप हठ करके अपने सुकुमार शरीर को मत जलने दो, यह दुष्ट तुम्हारा घर जलाकर बदला लेगा इसलिए क्षण भर भी यहाँ ठहरना उचित नहीं है, अपना भला विचार कर इस घर को छोड़ दो, जहाँ निर्भय रह सको चली जाओ।

इस तरह से सेवकों के बहुत सा समझाने पर भी वे अपनी जगह से नहीं हटीं और कहने लगीं कि मैं दुष्कीर्ति से जैसी डरती हूँ वैसी मरने से नहीं डरती। मेरा यश रहते हुए मौत भी आवे तो भले ही आवे। यदि मेरे शत्रु का हित सिद्ध हो गया और मेरी मौत आ गई तो पति के साथ नहीं जाने की जो गलती मैंने की है उसको सुधार लूँगी।

मैनाबाई ने इस तरह से सेवकों को समझाकर मुरारि राव को जो उत्तर भेजा उससे उनका बड़ा धैर्य प्रकट होता है। उन्होंने कहा कि सच्चा राजपुत्र बालक है तो भी मालिक और सब लोगों का पालक है, तू भी उसको ऐसा ही समझ, वह तेरे हाथ नहीं लगेगा, उसका अरिष्ट टल गया है, वह शत्रु रूपी राहु के स्थान से निकल गया है, उसको निर्भय स्थान में देखकर मेरा चित्त बहुत सुखी हुआ है, अब तू मजे से भले ही मुझे तकलीफें दे, मैं सब संकटों को सहर्ष सहूँगी, लोग तो तुझे बुरा कहेंगे पर मैं तो तेरा ऐसा उपकार समझूँगी कि जो और किसी से नहीं हो सकता था।

मैनाबाई ने मुरारि राव को ऐसा जवाब भेजकर किलेदार से भी अपना यह आशय कहलाया कि तुम्हारा मालिक तुम्हारे हाथ आ गया है, अब तुम अच्छा और गुप्त स्थान देखकर इसकी रक्षा करो। पापरूपी गुहा में तुम मत गिरो। तुम राजघराने के स्तंभ हो, तुम्हारा ही मुझे पूरा भरोसा है, सत्य को स्मरण करके चलो, परमेश्वर जगत् की रक्षा करता है इसको तुम भी याद रखो; मेरे मन के डर को अपने पास से दूर करो, प्राण जाय या रहे पर

धीरज रूपी पत्नी को कभी मत छोड़ो, लेशमात्र भी मेरी चिंता मत करो, मेरे क्लेश को तिल भर भी अपने दिल में मत लाओ, प्राण से प्यारे राजकुमार की रक्षा का चिंतन रखो, सब संकटों को सहन करो, शत्रु मृत्युरूपी है तो भी धैर्य धारण करके उस दुष्टरूपी शत्रु को पीट कर यश और कीर्ति को प्राप्त करो।

मैनाबाई ने ऐसा संदेशा किलेदार को भेजकर उसके दिल का डर दूर किया और राजकुमार की रक्षा पर उसको और भी उद्यत कर दिया।

ऐसे धीरज से समय पर अपने पुत्र की रक्षा करके उस मैना रूपी सिंहनी ने मुरारि राव के कपट रूपी मृग को भक्षण कर लिया*। तब मुरारि राव मैनाबाई को छोड़कर किला लेने को दौड़ा। किलेदार स्वामिभक्त था उसने राजविद्रोही को पास तक न फटकने दिया, मारे गोलों के दूर ही रक्खा, मुरारि राव ने साम, दाम, दंड, भेद से बहुत ही उपचार किया, परंतु नमकहलाल किलेदार उसके जाल में नहीं फँसा। तब उसने किले को चारों ओर से घेर लिया कि देखें कब तक नहीं मानता है, आखिर तो भूखों मरकर पाँवों में आ पड़ेगा।

मैनाबाई को बेटे की तरफ से तो कुछ चिंता नहीं थी क्योंकि वह सुदृढ़ हाथों और दुर्गम दुर्ग में सुरक्षित था, परंतु किलेदार के सहायता पहुँचने के सोच विचार में उन्हें रात दिन कल नहीं पड़ती थी। उन्होंने जहाँ तक हो सका घेरा उठाने के वास्ते प्रयत्न किया।

धार का राज दबाने में महाराज सींधिया ने सब शत्रुओं से बढ़कर शत्रुता की थी तो भी बाई साहिबा ने उनसे सहायता माँगी। बड़ौदे के रेजीडेंट द्वारा अँगरेजी सरकार में भी लिखा पढ़ी की। ऐसे ही और जहाँ कहीं से उनको कुछ भी भरोसा था वहीं

---

* यहाँ तक मित्रवर पंडित नारायण गणेश शिरसालकर जी के मैनाचरित्र काव्य के आधार पर लिखा गया है। इससे आगे मुंशी करीमअली की तवारीख मालवा का उल्था है।

दूत भेजे, पत्र लिखे, सबसे बालक राजा को बचाने की प्रार्थना की परंतु सहायता करना तो कैसा किसी ने उत्तर भी न दिया। तब बाई साहिबा ने अपने सगे संबंधियों का आसरा लिया और उन्हीं के आगे अपने शोक संताप का विलाप किया। निदान गायकवाड़ महाराज ने उस वीर विधवा की पुकार सुनी और बड़ौदे से सखाराम चिमनाभाई के साथ कुछ फौज भेजी*। वह अभी रास्ते में ही थी कि मुरारि राव उसका आना सुनकर मारे डर के भाग गया, बाई साहिबा के सिर से यह बला भी टली, परंतु उसकी जगह यह दूसरी उपाधि और भी खड़ी हो गई कि गायकवाड़ का अभिप्राय इस सहायता से धार संस्थान को अपने वश में कर लेने का था, जिसका उपाय सखाराम ने वहाँ पहुँचते ही अनेक प्रकार से करना शुरू कर दिया। बाई साहिबा ने इस अवसर पर ऐसी बुद्धिमानी का बर्ताव किया कि उसकी मनोकामना भी पूरी न हुई और उसको बाई साहिबा की ओर से कुछ धृष्टता भी न जान पड़ी। वह पड़ा पड़ा करजदार हो गया और थोड़े दिनों में मर भी गया। उसकी जगह बापू रघुनाथ सेनापति होकर आया। उसने भी अपने स्वामी का हित साधन करने के लिए बहुत उपाय किए, पर वे सब बाई साहिबा की सावधानी से व्यर्थ गए। वह बाई साहिबा के सद्व्यवहार से अपनी सटपट छोड़कर ऐसा सीधा सरल हो गया कि नौकर तो गायकवाड़ का था और काम मैनाबाई साहिबा का करता था। धार में जो उपद्रव उठते थे उनसे धार के राज्य को बचाता था। मुरारि राव धार से तो निकल गया था परंतु उसके मन से राज का लोभ नहीं निकला था। इसलिए उसने इस बीच में कई बार चढ़ाई की। बाई साहिब भी उससे मुँह फेरनेवाली नहीं थीं, बराबर लड़ती और उसको भगाती रहीं।

* बड़ौदे में मैनाबाई की फूफी गहिनाबाई गोविंदराव महाराज की रानी थी। उसने महाराज पर जोर डालकर सखाराम को भिजवाया था जो बड़ौदे के कारबारी सीताराम पंत का भाई था।

इन झगड़ों बखेड़ों से देश उजड़ गया, आमदनी कम और खर्च जियादा होने से फौज में फाके पड़ने लगे, कर देनेवाले भी हाथ खैंच बैठे। तब बाई साहिबा ने खर्च चलाने के लिए बुद्धिमानी से राजपूतों की रियासतों पर चढ़ाई की, उनसे खिरनी ली और फौज को तनख़ाह दी, पर इससे भी फौज की भूख न गई तो लूट मार पर कमर बाँधी, पराए राज लूटे और सेना के पेट भरे। दूसरे राजपूत भी उकता कर लड़ने को खड़े हुए। रतलाम, अमझेरे, बड़वानी और अलीराजपुर वगैरह में राजाओं से लड़ाइयाँ हुईं जिनमें बाई साहिबा की ही जीत रही। राजाओं में से कोई भागा, कोई अधीन हुआ, कोई करधारी बना, कोई पकड़ा गया। घर और बाहर के झंझटों से अभी बाई साहिबा के जी का जंजाल नहीं मिटा था कि निर्दयी दैव का फिर उन पर दारुण कोप हुआ जिससे उनके कलेजे पर ऐसा गहरा घाव लगा जो जीवन पर्यंत अच्छा न हुआ, क्योंकि उनके पुत्र राजा रामचंद्र राव अकस्मात् बीमार होकर शीघ्र ही ३ वर्ष की अल्प अवस्था में काल प्राप्त हो गए*। बाई साहिबा ने उनको मुरारि राव के कपट जाल से तो बचा लिया था परंतु विकराल काल की झपट से नहीं बचा सकीं। ले दे के एक लड़का पति के पीछे हुआ था वह भी नहीं रहा। अब संसार उनको सूना दिखने लगा, सब काम छोड़ बैठीं, एक कोने से काम रक्खा। निदान मंत्रियों ने प्रार्थना की कि दैव से किसी का वश नहीं चलता। आप बुद्धिमान् हो, हम आपको क्या समझावें। हाँ, इतनी विनती अवश्य है कि प्रजा पहले ही शत्रुओं की मारी मर रही है, अब उसके ऊपर यह असह्य दुःख आ पड़ा कि जिस स्वामी के बड़े होने पर वह अपने दुःख दूर होने की आशा किए हुए थी उसको भी परमेश्वर ने छीन लिया और आपका यह हाल है तो फिर अब उस बिचारी का कौन धनी धोरी है। उधर दुशमन मस्तक पर मँडरा

---

* यह दुर्घटना संवत १८६७ में हुई।

रहे हैं उनका सिर तोड़ना भी जरूरी है, नहीं तो वे प्रजा को पीस डालेंगे, रही सही बस्ती भी उजाड़ देंगे।

बाई साहिबा ने रोकर कहा मेरा जी तो जीने को भी नहीं चाहता दूसरी बात तो दूर रही, पर जो कुछ तुम हित से कहते हो और आगे भी कहोगे वही करूँगी। अपना दुःख सहूँगी तुम सब के सुख की बात करती रहूँगी। यह कहकर वे शोक-गृह से निकल आईं और कचहरी दरबार में बैठने लगीं। सब कारबारियों से उन्होंने अपना अपना काम करने और प्रजा को सुख देने को कह दिया। फिर राज का हित विचार कर सब सरदारों की सम्मति से अपनी बहन के बेटे को गोद लिया जो इसी पँवार खानदान में पैदा हुआ था और उसका रामचंद्र राव नाम रखकर गद्दी पर बैठाया। वह भी बालक ही था जिससे राज्य का प्रबंध बाई साहिबा को ही करना पड़ा। वे प्रबंध भी करती थीं और मुरारि राव से भी लड़ती थीं। निदान मुरारि राव थककर धार से निकल गया और कुछ दिनों पीछे कहीं मर खपा। उस प्रबल बैरी से बाई साहिबा का पीछा छूटा। प्रजा की भी जान में जान आई। राज्य का रंग बदला, देश भी बसने लगा, आगे को सुख मिलने की आशा हुई, परंतु अभी समय अनुकूल नहीं हुआ था। मुजफ्फर नाम का एक मकरानी लुटेरा आलीमोहन में आ बसा था और धार में अशांति देखकर लूट मार करने लगा था। बढ़ते बढ़ते अब उसने कसबे कूकसी पर धावा किया और धार के आदमियों को निकाल कर अपना अमल जमाया। ऐसे नाजुक समय में गायकवाड़ का सरदार सीताराम बाई साहिबा को अकेली छोड़कर बड़ौदे चला गया और अपनी फौज को भी ले गया। उसके जाते ही महाराज दौलतराव सींधिया की फौज खिरनी का रुपया लेने को धार पर आई। उसने और भी आफत मचाई। उधर से महाराज होलकर ने भी चढ़ाई की। इन सब प्रबल शत्रुओं के मारे धार के राज्य का पूरा पूरा सत्यानाश हो गया। बाई साहिबा किले में घिरी बैठी थीं तो भी हिम्मत नहीं हारी

थीं। अपने देश को बचाने के लिये उसी तरह से चालें सोचती थीं जैसे शतरंज के खिलाड़ी घेरे में दबे हुए बादशाह के लिए सोचते हैं। बापू रघुनाथ के पास आठ नौ सौ सवारों और पैदलों की फौज थी। उसी को लिए हुए वह दुशमनों का मुल्क लूटता फिरता था। डूँगरपुर से नीभाड़ तक लूट लूटकर अपना और अपनी फौज का गुजारा करता था। इधर बाई साहिब के पास किले में थोड़े से आदमी थे और मुल्क भी कुल ३५ हजार रुपए की आमदनी का उनके कब्जे में रह गया था। इसी आमदनी से वे किले में बैठी हुई ऐसे दारुण दुशमनों के साथ लड़ रही थीं और परमात्मा से अपने बचाव की प्रार्थना कर रहीं थीं। निदान ईश्वरकृपा से उनके दिन फिरे। मालवे में अँग्रेजी फौज लूट मार का बंदोबस्त करने को आई। बाई साहिबा ने उसके अफसर सर जान मालकम साहिब के पास बापू रघुनाथ को भेजा और सब हाल कहलाया। जनरल ने उससे कहा कि तुम ही इतनी बहुत फौज लिए हुए मुल्कों को लूटते फिरते हो, इसे तो मौकूफ करो फिर दूसरी बात कहना। उसने जवाब दिया कि इसी फौज से तो यह थोड़ा सा मुल्क हमारे पास रहा है इसको भी मौकूफ कर देंगे तो रहा सहा राज्य भी खो बैठेंगे। जनरल ने कहा कि तुम्हारे मुल्क की रखवाली हम करेंगे और जो दुशमनों ने दबा लिया है वह भी दिलवा देंगे। तब बापू ने उनकी बात मान ली, फौज मौकूफ की और अँगरेजी सरकार से रुपया करज लेकर उसकी तनख्वाह चुका दी। जनरल ने भी महाराजा दौलत राव सींधिया से कह सुनकर बख्तावर और बेरसये के परगने छुड़ा दिए और कूकसी वगैरह भी पिंडारों और मकरानियों से छीन लिए। फिर चैत सुदी १ संवत १८७६ को अँग्रेजी सरकार से अहदनामा होकर दुशमनों का दुःख मिट गया।

बाई साहिबा ने बापू रघुनाथ दीवान को सुसेवा से खुश होकर सदा सर्वदा के लिए उसको एक अच्छी जागीर निकाल दी जिसके

पट्टे पर मजबूती के लिए राजा रामचंद्र राव और रजीडेंट के दस्तखत करा दिए।

जब इस तरह बाई साहिबा को सब झगड़ों बखेड़ों से अवकाश मिल गया तो वे बहुत से आदमियों को साथ लेकर बड़ी धूमधाम से तीर्थ यात्रा करने को निकलीं और काशी वगैरह पुनीत धाम और तीर्थों में खूब रुपया लुटा कर धार में लौट आईं।

अब राजा रामचंद्र राव भी जवान हो गए थे। बाई साहिबा ने उनका विवाह महाराजा दौलतराव सींधिया की बेटी अन्नपूर्णा बाई से किया।

सींधिया पहले धार का बहुत बिगाड़ कर चुके थे और बाई साहिबा को भी बड़े बड़े कष्ट दे चुके थे। परंतु जब समय आया तो बाई साहिबा ने बुद्धिमानी से उनकी बेटी भी ली और एक परगना भी उनका दायजे में अपने बेटे को दिलाया। बेटे का ब्याह करने के पीछे बाई साहिबा को पोते की आशा लगी हुई थी। पर हाय! वह तो पूरी न हुई, उलटा यह दुसह दुःख फिर देखना पड़ा कि राजा रामचंद्र राव भरी जवानी में अकस्मात् संवत १८८६ में मर गए। अन्नपूर्णा बाई भी विधवा हो गईं। मैनाबाई साहिबा जैसे २२ वर्ष पहले अपने बेटे के वास्ते रोई थीं उससे ज्यादा अब इस दत्तक के वास्ते रोईं। रोते रोते मुरदा जैसी हो गईं। अब उनको फिर एक लड़का गोद लेना पड़ा। गवर्मेंट से मंजूरी मँगाकर दक्खिन के पँवार सरदारों में से एक लड़का बुलाया और अन्नपूर्णा बाई की गोद बैठाया। उसका नाम यशवंत राव रखा गया। वह भी बालक ही था इसलिए राज्य का काम फिर मैनाबाई साहिबा को करना पड़ा जिससे अन्नपूर्णा बाई नाराज हुईं और कहने लगीं कि जब तक इनका बेटा जीता था यह काम करती रहीं अब यह राजा मेरा बेटा है इसलिए मैं काम करूँगी इनको नहीं करने दूँगी।

मैनाबाई साहिबा सब बातों से खबरदार थीं, बहुत कुछ बुरा भला देख चुकी थीं, अन्नपूर्णा बाई साहिबा ने कुछ काम नहीं किया

था, न उनको कुछ करना आता था, कटी बिगाड़ लोगों ने बहका दिया था इसलिए मैनाबाई साहिबा नहीं चाहती थीं कि राज उनके हाथ में पड़कर खराब हो और उनको बहकानेवाले वारे न्यारे करें। राजा यशवंत राव बालक थे और अन्नपूर्णाबाई के कहने में थे। इससे सास बहुओं में बिगाड़ होकर पुराने नौकर तो मैनाबाई साहिबा के पक्ष में हुए और अन्नपूर्णा बाई नई भरती करके पुरानों को निकालना चाहती थीं। बात यहाँ तक बढ़ी कि दोनों तरफ गोली बारूद फौज में बँटी और मोरचेबंदी हो गई। रजीडेंट साहब ने यह हाल सुनकर कुछ सवार भेजे और बापू रघुनाथ को बुलाकर बंदोबस्त करने का हुक्म दिया। वह तो पुराना घाघ था, उसने झट फौज को मिलाकर अन्नपूर्णा बाई के सलाहकारों को पकड़ लिया। फिर उनके और राजा के पास लोगों का आन [illegible] ना बंद कर दिया, जिससे अन्नपूर्णा बाई हार खाकर अपना द [illegible] ड़ बैठीं। इस झगड़े में कई आदमी मारे भी गए, मगर ज्यादा ल[illegible]ाई न बढ़ने पाई। जल्दी से ठंढी हो गई। तब रजीडेंट ने इंदौर से धार में आकर राजा यशवंत राव को राजा होने का और बापू रघुनाथ को अच्छे काम करने का खिलअत दिया।

जब राजा यशवंत राव लिख पढ़ कर होशियार हो गए तो मैनाबाई ने उचित समझ कर उनको राज सौंप दिया। फिर उनको अपनी जागीर के सिवा राज में कुछ दखल न रहा। वे या तो अन्नपूर्णा बाई साहिब को बेदखल करती थीं या आप ही बेदखल हो गईं, पर राजा साहिब उनका बहुत अदब करते थे और वे भी राजा साहिब का बहुत लाड़ रखती थीं। पूर्व दिशा के तो कई तीर्थ कर आई थीं अब दक्षिण के तीर्थों का ध्यान हुआ सो इस यात्रा की भी वैसी ही तैयारी करके संवत् १८९७ में दक्षिण को गईं और उधर के तीर्थ करके धार में आ गईं, फिर शिवजी के मंदिर में बैठकर धर्म ध्यान करने लगीं। इनके बुढ़ापे और अन्नपूर्णा बाई साहिबा के जवानी के दिन थे। इनका मिजाज भी तेज था, ढंग

भी अच्छा न था जिससे राजा साहिब भी उनसे नाराज हो गए। माँ बेटे में बिगाड़ रहने लगा। संवत १६०३ में पहले इनका फिर मैनाबाई साहिब का देहांत हुआ। राजा यशवंत राव बेखटके राज करने लगे जिसकी मैनाबाई साहिबा ने जान झोंक कर सींधिया जैसे शत्रुओं से रक्षा की थी। मैनाबाई की मूर्ति धार के छत्री बाग में राजा आनंद राव पँवार दूसरे की मूर्ति के पास विराजमान है। हमने भी दर्शन किए हैं। मूर्ति प्रभावशालिनी है।

धार के रहनेवालों में मैनाबाई साहिब की भी वैसी ही श्रद्धा और ममता है जैसे कि इंदौर में अहिल्याबाई साहिबा की है। अहिल्याबाई साहिबा के पीछे मैनाबाई साहिबा के बराबर मालवे में वीर प्रकृति और शुद्ध वृत्ति की कोई रानी नहीं हुई। वे राज-क्रिया में भी बड़ी कुशल थीं, बिगड़ी हुई बात को बनाने और कष्ट आ पड़ने पर अधीर न होने का कितना बड़ा गुण उनमें था, घर और बाहर के बैरियों से कैसे कैसे कष्ट पाए, दैव गति से भी क्या क्या शोक संताप देखे, पर कभी हिम्मत न हारी, बुद्धिमानी और सावधानी से सब अनर्थ सहे और उनके उपाय भी यथायोग्य किए।

एक नहीं तीन तीन बालक राजाओं को पाला, राज्य को शत्रुओं से बचाया और अपना धर्म भी निभाया जिससे आज तक ऐति-हासिक जगत में सुवासना फैल रही है। धार की प्रजा भी अब तक उनके सद्गुणों और उपकारों को नहीं भूली है। वे भी अपने दुःखों के दिन उमर भर नहीं भूली थीं। अच्छा खाना और अच्छा पहिनना उनके मन को नहीं भाता था, बहुत सादगी और सीधी तरह से अपने दिन बिताती थीं। राजकाज से बाकी बचा समय ईश्वर के भजन स्मरण और धर्म पुण्य के कामों में लगाती थीं। इन्हीं बातों से वे प्रजा को बहुत प्यारी थीं कि उनके देहांत से देश भर में शोक संताप फैल गया था और प्रजा उनके वियोग से बहुत दुःखी होकर बहुत दिनों तक रोती रही थी।

---

(४) मंत्री मंडन और उसके ग्रंथ।

[लेखक—पंडित शोभालाल शास्त्री, उदयपुर]

भारतवर्ष किसी दिन ज्ञान और विद्या का भांडार था। यहाँ के राजा महाराजा और उनके मंत्री बड़े बड़े विद्वान् होते थे। उनका ज्ञान केवल युद्धविद्या और राज्यप्रबंध में ही मर्यादित नहीं होता था किंतु काव्य, साहित्य, संगीत आदि अन्य विषयों में भी वे असाधारण ज्ञान रखते थे। चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण (कुंभाजी) की बनाई हुई रसिकप्रिया नामक गीतगोविंद की टीका और "स्तंभों के लक्षण" विषयक शिल्पशास्त्र का ग्रंथ,* अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज का बनाया हुआ हरकेलि नाटक†, मंत्री यशःपाल रचित मोहराजपराजय नाटक, विशाखादत्तकृत मुद्राराक्षस आदि कहाँ तक गिनाएँ, अनेक ग्रंथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान हैं। राज्य के भीतरी प्रबंध और बाहिरी संधि-विग्रहादि कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ऐसे ऐसे ग्रंथ लिखना उस समय के नरपतियों तथा मंत्रियों के प्रौढ़ विद्यानुराग को सूचित करता है। आज मैं पाठकों के सम्मुख एक ऐसे ही मंत्रिरत्न के चरित्र को उपस्थित करता हूँ, जो प्रायः पौने पाँच सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष को उज्ज्वल कर चुका है, और जिसकी अलौकिक प्रतिभा के कुछ नमूने उसके स्मृति-चिह्न स्वरूप आज भी हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

---

* इसको महाराणा कुंभाजी ने शिलाओं पर खुदवाया था परंतु दुर्भाग्यवश वे शिलाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। केवल प्रारंभ की शिला का कुछ अंश मिला है जो इस समय उदयपुर म्यूजिअम में सुरक्षित है।

† यह भी शिलाओं पर खुदा हुआ अजमेर के "ढाई दिन के झोपड़े" नामक स्थान में मिला था और इस समय राजपूताना म्यूजिअम अजमेर में रक्खा हुआ है। यह भी अपूर्ण है।

इसका नाम मंडन था और जालौर के सोनगरा (चौहान क्षत्रियों के) वंश में इसका जन्म हुआ था। प्राचीन काव्यों में प्रायः ग्रंथकर्ता का वर्णन बहुत ही कम मिलता है। अधिकांश ग्रंथकर्ता केवल अपना नाम देकर रह जाते हैं। परंतु सौभाग्य की बात है कि मंडन ने अपने बनाए ग्रंथों में अपने विषय में जो कुछ लिखा है उसके सिवाय मंडन के समकालीन महेश्वर कवि का बनाया हुआ "काव्यमनोहर" नामक काव्य मिल गया है जिसमें मंडन के वंश आदि का सविस्तर वर्णन है। काव्यमनोहर के अंत में लिखा है कि "महेश्वर ने अपनी बुद्धि से बड़े परिश्रम के साथ यह "काव्यमनोहर" विद्वान् मंडनेंद्र को कहने (सुनाने) के लिए बनाया"* । इससे और सप्तम सर्ग के ४०वें श्लोक से लेकर ४६वें श्लोक तक जो मंडन के दीर्घायुष्य होने की प्रार्थना की है उससे† विदित होता है कि महेश्वर मंडन का समकालीन था और मंडन की जीवित अवस्था में ही उसने अपना ग्रंथ समाप्त कर लिया था। आश्चर्य की बात है कि महेश्वर ने मंडन के दान और भाग का तो कई सर्गों में सविस्तर वर्णन किया परंतु उसके राज्य संबंधी कार्यों और उसके बनाए ग्रंथों के विषय में कुछ भी न लिखा। मालुम होता है कि महेश्वर कवि बाहर का था और मंडन से पूर्णतया परिचित न था। केवल उसके

---

* एवं विधं काव्यमनोहरं वै महेश्वरेणात्ममतिप्रभावात् ।
अकारि यत्नेन महीयसेदं श्रीमण्डनेन्द्राय विदेऽभिधातुम् ॥

काव्यमनोहर स० ७ श्लो० ४७

† आचन्द्रतारं भुवि मोदमानः श्रीमान्यशस्वी भव मण्डन त्वम् ॥४०॥
धराल्लोके संश्चिरायुर्भवतु गुणनिधिर्मण्डनो वै वदान्यः ॥४१॥
दीर्घायुर्भव मण्डन क्षितितले कीर्त्यैकचित्तः सदा ॥४२॥
आयुष्मान् भव मण्डनावनितले संस्तूयमानो जनैः ॥४३॥
यस्या यान्ति गुणैर्नृपा ननु तुलां सत्वं चिरायुर्भव ॥४४॥

का० म० स० ७

दान की प्रशंसा सुन कुछ पाने की आशा से वह मांडू में आया था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि मंडन के वंश आदि का वृत्तांत लोगों से पूछ पाछ कर उसने अपने काव्य के लिए सामग्री एकत्रित की हो। यही कारण है कि उसने अपने काव्य में मंडन के विवाह का, उसके श्वशुर-गृह की भव्यता और समृद्धि का और उसकी पत्नी के रूप और गुणों का तो बहुत ही आडंबर के साथ वर्णन किया है, परंतु न तो पत्नी का नाम लिखा है न उसके पिता आदि के नाम का ही कहीं निर्देश है। न उनके ग्राम आदि का वर्णन है कि वे कहाँ रहते थे और न उनके गोत्र का ही नाम बतलाया है। इसी प्रकार मंडन के भाई का नाम लिखने में भी महेश्वर ने गलती की है। उसने मंडन के बड़े भाई का नाम समुद्र* संघप† लिखा है परंतु

* श्रीमद्बाहड संघपस्य तनयौ द्वावुत्तमाभौ भृशं
राजेतेतु समुद्रसंघपइतिख्यात्या विशिष्टौ भुवि।
श्रीमन्मण्डन संघपस्तदनुजः श्रीमालभूषामणि-
र्दारिद्र्यौघतमः प्रचण्डतरणिः सत्सूरि चिन्तामणिः।

का० म० स० ७ श्लो० २४

† प्राचीन समय में जब कि आजकल की तरह यात्रा के उपयुक्त साधन नहीं थे, यात्रियों को मार्ग में अनेक कष्ट उठाने पड़ते थे, चोरों और लुटेरों का सदा भय बना रहता था और एक दो आदमियों के लिए लंबी तीर्थयात्रा करना असंभव था। अतः बहुत से लोग एकत्र होकर यात्रा किया करते थे। यह संघ कहलाता था। जब कोई धनी पुरुष यात्रार्थं निकलता तो उसके साथ सब प्रकार का प्रबंध होने के कारण अन्य लोग भी उसके साथ हो जाया करते थे। वह उन सब लोगों के भोजन, वस्त्र और सवारी आदि का सब प्रबंध अपने व्यय से करता था और संघ में एक प्रकार से राजा की तरह होता था। इस प्रकार अनेक लोगों के संघ को साथ लेकर जो यात्रा करता था वह "संघपति" अथवा "संघप" कहलाता था। "संघपति" पद प्राप्त करना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। कभी कभी संघ में यात्रियों की संख्या हजारों ही नहीं किंतु लाखों तक पहुँच जाती थी। राजशेखर सूरि ने अपने जिन-चतुर्विंशति-प्रबंध के

मंडन ने अपने बनाए हुए काव्यमंडन के अंत में अपने बड़े भाई का नाम समुद्र नहीं किंतु समधर लिखा है*। संभव है कि किसी ने उसे लौकिक नाम "समधर" बतलाया हो और उसने उसका संस्कृत रूप "समुद्र" बनाकर लिख दिया हो। मंडन के जन्म, विवाह, दान और छहों ऋतुओं के विविध विलास के वर्णन के बाद अंत में सातवें सर्ग में पृथक् रूप से मंडन के वंश का वर्णन भी इसी बात को सूचित करता है कि काव्य बना लेने बाद उसको मंडन के वंश का विस्तृत वर्णन मिला था।

महेश्वरकृत काव्यमनोहर और मंडन के ग्रंथों के आदि अंत में लिखे हुए आत्मवर्णन से मंडन के विषय में जो जो बातें ज्ञात हुई हैं वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

मंडन के पूर्व पुरुष

जाबालपत्तन (जाबालिपुर = जालौर) में स्वर्ण गिरीय† (सोन-

अंतर्गत वस्तुपाल-प्रबंध में वस्तुपाल की यात्रा की संघ में सात लाख मनुष्य होने का उल्लेख किया है। यही "संघपति" अथवा "संघप" शब्द पीछे से द्विवेदी, चतुर्वेदी आदि शब्दों की तरह वंश का वाचक शब्द हो गया। इस समय भी जैन वैश्यों में ऐसा समुदाय है जो "संघवी" "सिंघी" या "सिंहवी" कहलाता है। ये शब्द संघपति शब्द के ही बिगड़े हुए रूप हैं।

* कृतिनो रूढसत्वस्य कृष्णस्येवाच्युतात्मनः।
भ्राता समधरो यस्य बलभद्र इवाभवत् ॥

कादंबरीमंडन १ परिच्छेद श्लो० १२

† गोत्रे स्वर्णगिरीयके समभवज्जाबाल सत्पत्तने-
आभूरित्यभिधानभृन्मतिमतां वर्यः प्रधानेश्वरः।

काव्यमनोहर स० ७ श्लो० ३

वंशः सोनगिरोनाम वर्धते वसुधातले।
श्रीमाल इति विख्यातः श्रूयते यः शुभावहः ॥

काद० दर्पण श्लो० १

जालौर का दूसरा नाम स्वर्णगिरि या सोनलगढ़ है। स्वर्णगिरि के नाम से

गरा) गोत्र में, जो श्रीमाल नाम से भी विख्यात था, आभू नामक एक व्यक्ति हुआ। यह बड़ा ही बुद्धिमान था। सोमेश्वर राजा का यह मुख्य मंत्री था और संपूर्ण कार्यों में इसकी बहुत ही कीर्ति थी। ये सोमेश्वर अजमेर के राजा और भारत के सुप्रसिद्ध अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर हों ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उस समय जालौर* नागौर आदि प्रदेश इन्हीं के अधीन थे। सोमेश्वर के समय के ५ शिलालेख वि० सं० १२२६, १२२८, १२२९, १२३० और १२३६ के मिले हैं† अतः उनके मंत्री आभू का समय भी इसी के आस पास मानना चाहिए।

आभू

आभू का पुत्र अभयद नामक हुआ। यह आनंद नामक राजा का मंत्री था। इसने गुजरात के राजा से विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। यह आनंद कौन था इसका ठीक तरह पता नहीं चलता। संभव है कि यह आनंद सोमेश्वर का पिता अर्णोराज हो जिसके दूसरे नाम आनल्लदेव, आनक और आनाक भी थे। पृथ्वीराजविजय

अभयद

ही चौहानों की एक शाखा स्वर्णगिरीय अथवा सोनगरा कहलाई। इनमें से कुछ लोग जो जालौर से श्रीमाल (आधुनिक भिनमाल) को चले गए वे श्रीमाल वंशी अर्थात् श्रीमाली कहलाए। सोनगरा और श्रीमाल जातियाँ वैश्यों में भी पाई जाती हैं। ये लोग पहले क्षत्रिय थे परंतु पीछे से इन्होंने जैन मत स्वीकार कर लिया और लड़ना भिड़ना आदि क्षत्रियोचित कार्यों को हिंसात्मक समझ छोड़ दिया तथा लिखने पढ़ने और व्यापार संबंधी कार्यों से वे निर्वाह करने लगे। जैन मत स्वीकार करने और वैश्योचित कार्यों के करने से इनकी गणना वैश्यों में होने लग गई।

* बीजोलिया (मेवाड़) के सोमेश्वर के समय के शिलालेख से पाया जाता है कि सोमेश्वर के पूर्वज विग्रहराज ने जाबालिपुर जालौर को बर्बाद किया था।

जाबालिपुरं ज्वालापुरं कृतापल्लिकापि पल्लीव।

नड्वल तुल्यं रोषान्न ड् (ड्ड्) लं येन सौ (शौ)र्येण ॥२१॥

जं० ए० सो० बं० सन १८८६

† देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० १, सं० ४, पृ० ४०१

में लिखा है कि अर्णोराज के दो रानियाँ थीं एक मारवाड़ की सुधवा और दूसरी गुजरात के राजा (सिद्धराज) जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी* । इस कांचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर हुआ। पृथ्वीराज रासो में सोमेश्वर के पिता का नाम आनंदमेव† लिखा है इससे अनुमान होता है कि आनंद या आनंदमेव अर्णोराज ही के नामांतर हैं। पृथ्वीराज रासो में यह भी लिखा है कि आनंदमेव (अर्णोराज) ने सोमेश्वर को राज्य दिया, सोमेश्वर ने गुजरात और मालवे पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन किया।

मालूम होता है कि अभयद ने अपनी युवावस्था में ही जब कि उसका पिता विद्यमान था आनंद के मंत्री का पद प्राप्त कर लिया था, और आनंद के बाद सोमेश्वर के सिंहासनारूढ़ होने पर भी यह उस पद पर बना रहा तथा सोमेश्वर ने गुजरात पर जो आक्रमण किया उसमें या तो यह भी साथ था या सोमेश्वर ने स्वयं न जाकर इसे ही गुजरात जीतने को भेजा हो। इसके बाद सोमेश्वर ने इसके पिता अभयद को जो उस समय भी वर्तमान था मंत्री बनाया हो।

आंबड़

अभयद का पुत्र आंबड़ हुआ। इसने स्वर्णगिरि (जालौर के किले) पर विग्रहेश को स्थापित किया ‡। यहाँ पर विग्रहेश से

---

* देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० १, अं० ४, पृ० ३०४

† सो (जयसिंह) बरस अट्ठ तप राज कीन आनंदमेव सिर छत्र दीन
तहँ तप्पि तेज आनंदमेव, वाराह रूप दिष्यो सुदेव ॥६११॥
धरणी विहार आयास साद, मंड्यौ सुराज पुहुकर प्रसाद
सो बरस राज तप अंत कीन, सिर छत्र पुत्र सोमह सुदीन
सोमेश सूर गुज्जर नरेस, मालवपी राज सब खग्ग खेस

पृथ्वीराज रासो आदिपर्व

‡ योऽरोपयत्स्वर्णगिरौ गरिष्ठे राजन्य वर्यं (र्यो) वरविग्रहेशम् ।

काव्य० मनो० स० ७ श्लो० ६

शायद सोमेश्वर का बड़ा भाई विग्रहराज चौथा, जिसका उपनाम वीसलदेव था, निर्दिष्ट किया गया हो अर्थात् आंबड़ ने जालौर का किला विग्रहराज के अधीन कराया हो। ईश शब्द राजाओं के नाम के अंत में भी आता है जैसे अमरसिंह के लिए अमरेश* और शिव के नामों के अंत में भी आता है जैसे समाधीश, अचलेश आदि। यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है कि विग्रहेश से यहाँ विग्रहराज ही से अभिप्राय है जैसा कि ऊपर बतलाया है अथवा विग्रहराज के नाम से किसी शिवालय के बनवाने का उल्लेख है।

आंबड़

आंबड़ का पुत्र सहणपाल हुआ। यह मोजदीन नृपति के सब प्रधानों में मुख्य था। मोइज़ुद्दीन नाम के दो बादशाह हिंदुस्तान में हुए हैं। एक रज़िया बेगम का भाई मोइज़ुद्दीन बहराम, जिसने ई० सन १२३९-४० से (वि० सं० १२९६-९७) से ई० स० १२४१-४२ (वि० सं० १२९८-९९) तक तीन वर्ष छ महीने राज्य किया था। दूसरा गयासुद्दीन बलबन का पोता मोइज़ुद्दीन कैकोबाद था जिसने ई० सं० १२८६ (वि० सं० १३४२) से ई० स० १२९० (वि० सं० १३४६) तक राज्य किया था। यद्यपि यह ठीक तरह निश्चय नहीं होता कि सहणपाल किस मोइज़ुद्दीन का प्रधान था, परंतु समय का हिसाब लगाने से यह मोइज़ुद्दीन बहराम का मंत्री हो ऐसा प्रतीत होता है। सहणपाल अभयद का पौत्र था। अभयद सोमेश्वर (वि० सं० १२२६-१२३४, ई० स० ११६९ से ११७७) का समकालीन था जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। यदि सहणपाल को बहराम मोइज़ुद्दीन का मंत्री न मानकर कैकोबाद का माना जाय तो पितामह और पौत्र के समय में करीब ११७ वर्ष का अंतर पड़ता है जो बहुत है। बहराम का मंत्री मानने में केवल ७० वर्ष का अंतर आता है जो उचित और संभव है। सहणपाल के पुत्र नैणा को जलालुद्दीन फीरोज़ का सम-

सहणपाल

* अमरेशनरेशस्याभिषेकगुणवर्णनम्

अमरसिंहजी के राज्याभिषेक का काव्य

कालीन लिखा है। फीरोज़ ई० स० १२९० (वि० सं० १३४७) में सिंहासनारूढ़ हुआ था । यह ५० वर्ष का अंतर भी पितापुत्र में असंभव नहीं है।

राजा (मोइज़ुद्दीन) की सेना ने जब "कच्छपतुच्छ"* नामक देश को घेर लिया तो लोगों को दुःख से चिल्लाते हुए सुनकर सहणपाल को दया आ गई। उसने अपने प्रयत्न से उस देश को छुड़ा दिया। इसने यवनाधिप (मुसलमान बादशाह) को एक सौ एक तार्क्ष्य† दिए और बादशाह ने भी खुश होकर उसे सात मुरत्तब बख्शे।

सहणपाल का पुत्र नैणा हुआ जिसे सुरत्राण (सुलतान) जलालुद्दीन ने सब मुद्राएँ अर्पण कर दी थीं, अर्थात् राज्य का संपूर्ण कारबार इसे सौंप रक्खा था। यह सुलतान जलालुद्दीन, जलालुद्दीन फीरोज खिलजी था जो मोइजद्दीन कैकोबाद के अनंतर सन् १२९० ईस्वी में तख़्तनशीन हुआ था, और छ वर्ष राज्य करने के उपरांत सन् १२९६ ईस्वी में मकान के नीचे दबकर मर गया था। इसने जिन चंद्रसूरि आदि गुरुओं के साथ सिद्धाचल और रैवतक पर्वत की यात्रा की थी। इस वंश में सबसे प्रथम जैन मत इसीने स्वीकार किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

नैणा

नैणा का पुत्र दुसाजु हुआ। यह चंड राउल‡ के सुविस्तृत राज्य का मुख्य प्रधान था। तुगलकशाह ने इसे आदरपूर्वक बुलाकर "मेरुतमान" देश दिया था। यह तुगलशाह गयासुद्दीन तुगलक था जिसका उपनाम गाजीबेग भी था। इसने ईस्वी

दुसाजु

---

* कच्छपतुच्छ नाम से शायद कच्छ देश का अभिप्राय है।

† एकोत्तर शततार्क्ष्यान्य (न्य)वनाधिप भूभुजे प्रीत्या

स ददौ तेनातिमुदा तस्मै दत्ता मरत्तवाः। सप्त का० म० स० ७ श्लो० ९

ये तार्क्ष्य क्या थे ठीक मालूम नहीं होता। ऐसा मालूम होता कि यह किसी सिक्के का नाम है जो उस समय प्रचलित था।

‡ यह चंड राउल कहाँ का था पता नहीं चलता।

सन् १३२१ में खिलजी वंशीय मलिकखुस्रू से जिसका उपनाम नसीरुद्दीन भी था राज्य छीना औ ४ वर्ष तक राज्य किया था।

दुसाजु का पुत्र बीका हुआ जो वीतराग का परम भक्त था। बीका के वर्णन में काव्यमनोहर में दो श्लोक* ऐसे लिखे हैं जिनमें

बीका

अशुद्धि हो जाने के कारण उनका अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनका अभिप्राय कुछ ऐसा मालूम होता है कि "बीका ने शक्तिशाह को जो पादलक्षाद्रि (सपादलक्ष पर्वत, साँभर के आसपास का प्रदेश) को उपभोग कर रहा था सात राजाओं के साथ कैद कर लिया और उसका अधिकार छीन लिया। पातशाह (गयासुद्दीन तुगलग) ने उसके इस कार्य को उचित समझ उसे दान मान आदि से खुश किया। बीका ने भी बादशाह से बड़ा भारी मान पाने से प्रसन्न हो उस प्रदेश पर गाजीक (गयासुद्दीन) का अधिकार स्थापित कर दिया। यह शक्तिशाह किसी मुसलमान बादशाह का नाम प्रतीत होता है जिसे संस्कृत में रूपांतर दे दिया गया है। एल्फिंस्टन † ने लिखा है कि "गुजरात के बादशाह अहमदशाह ने ईडर, जालौर और खान देश पर आक्रमण किए थे और एक अवसर पर वह मारवाड़ के उत्तर में अवस्थित नागौर तक बढ़ आया था, जहाँ उसका चचा देहली के सैयद ख़िजरखाँ के विरुद्ध उपद्रव कर रहा था"। संभव है कि "शक्तिशाह" अहमदशाह या उसके किसी सेनापति का नामांतर हो, जिसने सपादलक्ष प्रदेश पर कब्जा कर लिया हो और बीका ने उससे इस प्रदेश का पीछा छुड़ाया हो।

बीका ने दुर्भिक्ष के समय चित्रकूट (चित्तौड़) के अकाल-

---

* शक्तिसाहं निबद्धंतु सप्त भूपैःसमन्वितम् ।
पादलक्षाद्रिभोक्तारं मोचये (?) सोधिकारवान् ॥१४॥
सर्वं तदुचित्तं ज्ञात्वा पातसाहेन रञ्जितः ।
बहुमानेन सोऽप्यस्य गाजीकं प्रत्यरोपयत् ॥१५॥ काव्यमनोहर स० ७

† एल्फिंस्टन की हिस्ट्री ऑफ इंडिया—अपेंडिक्स पृ० ७६३

पीड़ित लोगों को कई बार, जीवदया को अपने कुल का परम कर्तव्य समझकर, अन्न बाँटा था।

बीका का पुत्र झंझण हुआ। यह नांद्रीय देश* (नांदोल, जो

* नान्द्रीयदेशेऽभवदार्यवृत्तः श्रीगोपिनाथाखिलराज्यमन्त्री।
तत्कुक्षिजः सन्ततकीर्तिवितः श्रीमण्डनाख्यो (झञ्झणाख्यो) गुरुदेव भक्तः॥
का० मनो० स० ७ श्लो० १७

हेमचंद्राचार्य सभा ने जो काव्यमनोहर प्रकाशित किया है उसमें "श्रीमण्ड-नाख्यः" पाठ है। यहाँ झंझण के स्थान पर मंडन शब्द भूल से लिखा गया हो ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इस मंडन (अथवा झंझण) का वर्णन समाप्त होने पर श्लोक २१ में लिखा है कि "श्रीर्झंझणसंघपस्य तु जयन्त्येते सुतामण्डपे" अर्थात् मंडप (मांडू) में झंझण संघपति के ये पुत्र विजयी हैं।

यदि उपरोक्त श्लोक में "मण्डनाख्य" यही पाठ शुद्ध मान लिया जावे तो प्रश्न होता है कि यह मंडन काव्यमंडनादि का कर्ता हमारा चरित्रनायक मंडन ही है या कोई अन्य। प्रथम बात इसलिए नहीं स्वीकार की जा सकती कि मंडन ने स्वयं अपने को झंझण के पुत्र बाहड़ का पुत्र कहा है—

श्रीमद्वाहडसंघनाथतनयः श्रीमण्डनाख्यः कविः

चंपूमंडन पटल ७ श्लो० ६

और महेश्वर ने भी इसे बाहड का ही पुत्र कहा है—

श्रीमद्वाहडसंघपस्य तनयौ द्वावुत्तमाभौभृशं
राजेते तु समुद्र संघप इति ख्यात्या विशिष्टौ भुवि
श्रीमन्मण्डनसंघपस्तदनुजः श्रीमालभूषामणिः
दारिद्र्यौघतमः प्रचण्डतरणिः सत्सूरिचिन्तामणिः का० म० स० ७ श्लो० ४

यदि दूसरा ही मंडन इसे मानते हैं तो भी आगे से संबंध नहीं मिलता, क्योंकि इस (मंडन) का वर्णन समाप्त होते ही आगे झंझण के पुत्रों का वर्णन प्रारंभ होता है।

"श्रीमज्झंझण संघपस्य तु जयन्त्येते सुतामण्डपे" आदि।

मंडन के बाद एकदम झंझण के पुत्रों का वर्णन यही सिद्ध करता है कि उपरोक्त श्लोक में झंझण के स्थान में "मंडन" पाठ भूल से हो गया है।

गुजरात में है) के राजा गोपीनाथ का मंत्री था। यह देवता और गुरुओं (जैनसाधुओं) का परम भक्त था। इसने प्रह्लादन नामक नगर* (प्रह्लादनपुर = पालनपुर) में शांतिनाथ का बिंब (मूर्ति) स्थापित किया, संघपति बनकर यात्राएँ कीं और संघ के सब मनुष्यों को पहिनने के लिए वस्त्र, चढ़ने को घोड़े और मार्गव्यय के लिए द्रव्य अपनी ओर से दिया। कीर्ति प्राप्त करने के लिए इसने कई उद्यापन किए, जैन साधुओं के रहने के लिए कई पुण्यशालाएँ बनवाईं और बहुत से देवमंदिर बनवाए।

नांद्रीय (नांदोड)† से यह मालवे की राजधानी मंडपदुर्ग (मांडू) को चला आया था। मांडू उस समय मालवे की राजधानी होने से बड़ा ही संपत्तिशाली नगर था। अनेक कोटिपति और लक्षाधीश इस नगर को अलंकृत करते थे। कहते हैं कि इस शहर में कोई भी गरीब जैनश्रावक नहीं था। कोई जैन गरीबी की दशा में बाहर से आता तो वहाँ के धनी जैन उसे एक एक रुपया देते थे। इन धनियों की संख्या इतनी अधिक थी कि वह दरिद्र उस एक एक रुपए से ही सम्पत्तिशाली बन जाता था‡।

मांडू में उस समय आलमशाह× राज्य करता था। इसने पूर्व

---

* इसे आबू के राजा "धारावर्ष" के छोटे भाई प्रह्लादन ने अपने नाम से बसाया था। यह अच्छा विद्वान् था। इसका बनाया हुआ "पार्थपराक्रम" नामक नाटक उपलब्ध हुआ है। देखो ना० प्र० प० भाग २ अंक ३ पृष्ठ ३३६ का टिप्पण।

† यह नर्मदा के किनारे अवस्थित है और गुजरात के रेवाकांठा प्रदेश में है।

‡ मुनि जिनविजयजी लिखित—विज्ञप्तित्रिवेणी—प्रस्तावना पृ० ६२

× अस्त्येतन्मण्डपाख्यं प्रथितमरि चमूदुर्गमं दुर्गमुच्चै-
र्यस्मिन्नालम्भशाहिर्निवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम्

काव्यमण्डन स० १२ श्लो० ४१

और दक्षिण के राजाओं तथा गुजरात के नरेशों को हराया था* । झंझण की बुद्धिमत्ता और प्राज्यप्रबंध-कुशलता देख आलमशाह ने इसको अपना मंत्री बनाया† । फरिश्ता ने मालवा के बादशाहों की जो नामावली दी है उसमें आलमशाह नामक किसी बादशाह का नाम नहीं है । संभव है कि आलमशाह से अभिप्राय दिलावरखाँ के लड़के हुशंग गोरी से हो जिसने मालवे का स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, मांडू का किला बनवाया और धार से उठाकर मांडू को राजधानी बनाया । मालवे के सिंहासन पर अधिकार करने के पूर्व इसका नाम अलपखाँ था । संभव है कि अलपखाँ को आलमखाँ समझकर उसका संस्कृत रूप पंडितों ने आलमसाह कर दिया हो ।

आलमशाह के समय का वि० सं० १४८१ का एक जैन शिलालेख‡ ललितपुर प्रांत के देवगढ़ के पास मिला है । उसमें किसी

---

* प्राचीनाः प्राप्तचीना अपि कपिकुलवद्दाक्षिणात्यास्तथात्या
क्षोणीः क्षोणीमहेन्द्रा विजहति हतिभिर्जर्जरा गुर्जराश्च
अन्ये मन्ये नमन्ये चलचलनिलयाः किञ्चसर्वेऽप्यगर्वाः
यस्मिन्नालम्मसाहि क्षितिभृतिविहित प्रस्थितौ दिग्जयार्थम्
शृंगारमण्डन श्लो० १०४

† श्रीमालोरुकुले किलातिविमले जातो यदीयोऽभवत् ।
मन्त्री सोनगिरान्वयः श्रितदयः श्रीझञ्झणो नाम सः ॥ १०५

‡ बंगाल ए० सो० ज० भा० ५२ पृ० ७०

अथ संवत्सरेऽस्मिन्नृपविक्रमादित्य गताब्द १४८१ शाके श्रीशालिवाहानां १३४६ वैशाख मास शुक्लपक्षीय पूर्णिमास्यां गुरुवासरे । स्वातिनक्षत्रे । सिंह लग्नोदये । अति विक्र······येऽब्दे चन्द्रा-ब्धयब्धीन्दु······वैशाखे पूर्णराकायां मृगयोदये ॥······साकृष्ट कृपाण पाणि विलसत्तीव्रप्रतापानल ज्वालाजाल समाकुलीकृत गणाधीशाखरीशैणपे । श्रीमन्मालवपालके शकनृपे गौरीकुलोद्योतके निःक्रान्ते विजयाय मण्डपपुरात्छ्री साहिआलम्मके······मध्यस···सुतश्चिरं जीयात्······प हमा(हसा)दि आलम्मः ॥१॥ श्रीसाह्यालम्माधिपतनुजेऽरिभूय मौलिमाणिक्ये (क्ये) । गर्जतिगर्जनस्थाने ····गौरीकुलं कुवलयेऽस्मिन् ।

मंदिर के बनवाने का समय लिखने के प्रकरण में लिखा है कि "राजा विक्रमादित्य के गताब्द १४८१ और शालिवाहन के शाक १३४६ वैशाखशुक्ल १५ गुरुवार स्वाति नक्षत्र और सिंह लग्न के उदय के समय अपने भुजबल के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला से गजाधीश (दिल्ली के बादशाह) को व्याकुल कर देनेवाला गोरीवंशी मालवे का राजा श्री शाह आलम्मक विजय के वास्ते जब मंडलपुर (मांडू) से निकला उस समय" और अंत में भी साहि आलम्मः का नाम लिखा है और बाद में लिखा है कि "उस समय साहि आलम्म का पुत्र गर्जन स्थान (गज़नी) में गर्ज रहा था"। मालवे का बादशाह होना और मांडू से विजय के लिए निकलना इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह साहि आलम्मक और हमारे मंडन मंत्री का आश्रयदाता आलम्मशाह एक ही थे। उपरोक्त शिलालेख के संपादक श्रीयुत् राजेंद्रलाल मित्र महोदय का भी मत यही है कि यह साहि आलम्म हुशंगगोरी ही का नाम है। इसका उपनाम अलपखाँ था और इसीका विद्वानों ने संस्कृत रूप साहि आलम्म बना दिया है*। मित्र महोदय ने इसका नाम आलम्भक पढ़ा है और इसे मालव के अतिरिक्त पोलकेश देश का भी राजा माना है परंतु यह ठीक नहीं है। मंडन के ग्रंथों तथा महेश्वर के काव्यमनोहर में इसका नाम स्पष्ट आलमसाहि और आलम्मसाहि लिखा है। शिलालेख के बहुत से अक्षर टूटे हुए होने से "म" को "भ" पढ़ लेने के कारण यह भूल हुई है। आलमशाह (हुशंग गोरी) को पालकेश देश का राजा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि "पालकेश" इस नाम के देश का कहीं भी वर्णन नहीं आता। यह भूल ठीक पदच्छेद न कर सकने के कारण हुई है। उन्होंने "मालव-पालकेशक-नृपे" ऐसा पदच्छेद समझ उपरोक्त अर्थ किया है परंतु वस्तुतः पदच्छेद "मालव-पालके-शक-नृपे" है, जिसका अर्थ "मालवा की रक्षा करनेवाले मुसलमान बादशाह के" ऐसा होता है।

* बं० ए० सो० ज०, जि० ४२ भा० १, पृ० ६६

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि यह आलम्मसाहि हुशंगगोरी उपनाम अलपखाँ ही है। हुशंगगोरी अपने पिता दिलावरखाँ की मृत्यु के बाद ई० सन् १४०५ (वि० सं० १४६२)में मालवे के सिंहासन पर बैठा और ई० स० १४३२ (वि सं० १४८६) में इसका देहांत हुआ। यह ठीक मालूम नहीं होता कि झंझण किस समय से किस समय तक हुशंगगोरी का मंत्री रहा, परंतु यह अवश्य कहना होगा कि वह अधिक समय तक नहीं रहा क्योंकि इसी अलपखाँ के राजत्वकाल में झंझण का पुत्र बाहड* और उसका पुत्र मंडन† मंत्री बन चुके थे।

झंझण के छः पुत्र थे जिनमें सबसे बड़ा चाहड़ था। चाहड़ ने संघ के साथ जीरापल्ली (आधुनि जीरावला जो आबू के समीप है) की यात्रा की और अर्बुद (आबू) पर्वत की भी यात्रा की। संघ में जितने मनुष्य थे सबों को द्रव्य, वस्त्र और घोड़े दिए और संघपति की पदवी प्राप्त की। तीर्थ स्थानों में बहुत सा धन व्यय किया। इसके दो पुत्र थे जिनमें बड़े का नाम चंद्र और छोटे का नाम खेमराज था।

चाहड़

झंझण के दूसरे पुत्र का नाम बाहड़ था। इसने भी संघपति बनकर रैवतक पर्वत (गिरनार)की यात्रा की, संघी लोगों को द्रव्य वस्त्र और घोड़े दिए। इसके भी दो पुत्र थे। बड़े का नाम समुद्र (समधर) और छोटे का मंडन था। यही मंडन हमारे चरित्रनायक मंत्री मंडन है।

बाहड़

---

* चाहडस्यानुजस्तेषु बाहडो मन्त्रिपुंगवः।
वसन्त इव कालेषु माननीयोऽभवद्गुणैः ॥६॥

मण्डन कादम्बरीदर्पण, १ परिच्छेद।

† तस्याभूत्तनयोनाम्ना मण्डनो विश्वमण्डनः। म० का० द० प० १ श्लो० ८
महीतल महेन्द्रस्य मालवानामधीशितुः। स मन्त्री समभूत्प्राज्ञो वाचांपति-रिवोज्ज्वलः ॥११॥ म० का० द० प्रथम परिच्छेद।

झंझण का तीसरा पुत्र देहड़ था। इसने भी संघपति बनकर अर्बुद (आबू) पर नेमिनाथ की यात्रा संघ के साथ की। संघ को
देहड़ किसी प्रकार का कष्ट न हो इसका यह बहुत ही विचार रखता था। इसने राजा केशिदास, राजा हरिराज और राजा अमरदास को जंजीरों में पड़े थे परोपकार की दृष्टि से छुड़ाया। इनके सिवाय वराट, लूणार और बाहड़ नाम के ब्राह्मणों को भी बंधन से छुड़ाया था*। इसके धन्यराज नामक एक पुत्र था। इसका दूसरा नाम धनपति और धनद भी था। इसने भर्तृहरिशतक-त्रय के समान, नीतिधनद, शृंगारधनद और वैराग्यधनद नामक तीन शतक बनाए थे। ग्रंथ की प्रशस्ति नीतिधनद के अंत में दी है। इससे विदित होता है कि इसने नीतिधनद सबसे पीछे बनाया था। ये शतक काव्यमाला के १३ वें गुच्छक में प्रकाशित हो चुके हैं। नीति-धनद के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि इसकी माता का नाम गंगादेवी था और इसने ये ग्रंथ मंडपदुर्ग (मांडू) में संवत् १४९० वि० में समाप्त किए थे†।

* श्रीकेशिराजनृपतिं हरिराज संज्ञं भूपं तथाऽमरदासमहीपतिञ्च
योऽमोचयद्दृढलग्नशृंखलपीडितांगं सर्वोपकारकरणैर्विलसत्सुकीर्तिः ॥ २८॥
सोऽयं वराटलूणार बाहडोत्तमजन्मनां
लोकानामुपकारार्थं मोचय(?)द्बन्धनानि वै ॥ २९॥ काव्यमनो० स० ७

यह ठीक तरह पता नहीं चलता कि ये केशिराज आदि राजा कहाँ के थे। इस समय गुजरात के छोटे छोटे राज्य कायम हो गए थे। संभव है कि इन राज्यों के राजा हों।

† तन्मत्री देहडः सन्विनमणिविरुदोऽशेष तीर्थंकराणाम्
चारित्र श्रोतृ वृत्तिः खरतर मुनितो लब्धतत्त्वोपदेशः
गंगादेवी च साध्वी सुचरितकुलजाऽसूत यं सूनुरत्नम्
धीरः सोयं धनेशोऽयतत बहुतमः कौतुकेनत्रिशत्याम् ॥ १००॥
वर्षे व्योमाङ्कवेदक्षितिपरिमिलिते विक्रमार्कांज बन्धोः
वैशाखे मासि वारेत्रिदशपति गुरौ शुक्लपक्षेऽद्रि तिथ्याम्

झंझण के चतुर्थ पुत्र का नाम पद्मसिंह था। इसने पार्श्वनाथ की* यात्रा की और व्यापार से बादशाह को प्रसन्न किया था।

पद्मसिंह इसका भी पद "संघपति" लिखा है अतः इसने भी यह यात्रा संघ के साथ ही की होगी।

पाँचवें पुत्र का नाम "संघपति आहलू" था। इसने मंगलपुर† की यात्रा की और जीरापल्ली (जीरावला) में बड़े बड़े विशाल स्तंभ

आहलू और ऊँचे दरवाजेवाला मंडप बनवाया और उसके लिए वितान (चंदवा) भी बनवाया।

झंझण का सबसे छोटा पुत्र पाहू था, इसने अपने गुरु जिनभद्र-

पाहू सूरि के‡ साथ अर्बुद (आबू) और जीरापल्ली (जीरावला) की यात्रा की थी।

ये झंझण के छहो पुत्र आलमशाह (हुशंगगोरी) के सचिव थे×। ये बड़े समृद्धिशाली और यशस्वी थे। मंडन ने अपने काव्य-मंडन में लिखा है कि "कोलाभत्त राजा ने जिन लोगों को कैद कर लिया था उन्हें इन धर्मात्मा झंझण पुत्रों ने छुड़ाया+। यह कोलाभत्त कौन था विदित नहीं होता, शायद कोलाभत्त से मतलब मुसल-

---

जीवाऽद्रे सौम्यनाम्नि प्रगुण जनगणे मण्डपे दुर्ग काण्डे

ग्रन्थस्यास्य प्रतिष्ठामकृत धनपतिर्देहडस्यैक वीरः ॥१०२॥ नीतिधनद

* यहाँ पार्श्वनाथ से अभिप्राय "संमेदशिखर" से प्रतीत होता है जो हजारी बाग के पास अवस्थित है और जिसे आजकल Parshwanath hills कहते हैं।

† यह मंगलपुर शायद मंगरौल नामक स्थान हो जो काठियावाड़ की जूनागढ़ रियासत में है।

‡ इनका वर्णन आगे देखो।

× एवं विधाः षट्तनया महान्तो जयन्ति ते झञ्झणसंघपस्य

सम्पन्नवित्ताः सचिवाः समस्ताः ढुन्दा(साह्य)लिमस्यार्जितकीर्तिसंघाः ॥१४॥

काव्यमनोहर सर्ग ७

+ कोलाभत्त नृपात्तलोकनिवहां स्तेऽमोचयन्धार्मिकाः। काव्यमंडन।

मान से हो। संस्कृत में "कोल" सूकर को कहते हैं और "अभक्त" का अर्थ "न खानेवाला" ऐसा होता है*। अतः कोलाभक्त का अर्थ सूअर न खानेवाला अर्थात् मुसलमान यह हो सकता है। यदि यह अनुमान ठीक है तो "कोलाभक्त नृप" का अर्थ आलमशाह (हुशंग) ही है। ये लोग हुशंगगोरी के मंत्री थे अतः उसके कैदियों को उससे अर्ज़ कर छुड़ाया हो यह संभव भी है।

मंडन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि मंडन, झंझण के दूसरे पुत्र बाहड़ का छोटा लड़का था। यह व्याकरण अलंकार संगीत तथा अन्य शास्त्रों का बड़ा विद्वान् था†। विद्वानों पर इसकी बहुत प्रीति थी। इसके यहाँ पंडितों की सभा होती थी जिसमें उत्तम कवि, प्राकृत भाषा के विद्वान्, न्याय वैशेषिक वेदांत सांख्य भाट्ट प्राभाकर तथा बौद्धमत के अद्वितीय विद्वान् उपस्थित होते थे। गणित भूगोल ज्योतिष वैद्यक साहित्य और संगीतशास्त्र के बड़े बड़े पंडित इसकी सभा को सुशोभित करते थे। यह विद्वानों को बहुत सा धन वस्त्र और आभूषण बाँटा करता था ‡। उत्तम उत्तम गायक गायिकाएँ

---

* भक्षति इति भक्षः (पचादित्वादच्) न भक्षः अभक्षः कोलस्य अभक्षः कोलाभक्षः।

† जाग्रद्व्याकरणश्च नाटकसुभालंकारविज्ञस्तथा,
संगीतातुलकोविदः प्रतिभसद्गंभीर शास्त्राचितः
चातुर्यैक निधानभूपिरतुलैः प्राप्तोन्नतिः सद्गुणैः
श्रीमालान्वयवर्धनोऽमलमतिः श्रीमण्डनो राजते ॥

का० म० मनो० स० १ श्लो० १२

‡ मध्ये सभं सन्ततमास्थितोयं शृणोति सर्वांस्तु कलाविशेषान्।
स्तुतः प्रबन्धैः कविभिः सुकाव्यैर्गाथादिभिः प्राकृतिकैरुदारो ॥५४॥
बुधैस्तु नैयायिकमुख्यकैर्यो वैशेषिकैर्भाट्टविशेषविज्ञैः
वेदान्तविद्भिः स्तुत एव सांख्यैः प्राभाकरैः सन्ततमेव बौद्धैः ॥५५॥

और नर्तकिएँ इसके यहाँ आया करती थीं और इसकी संगीत-शास्त्र में अनुपम योग्यता देखकर अवाक् रह जाती थीं। उन्हें भी यह द्रव्य आदि से संतुष्ट करता था। यह जैसा विद्वान् था वैसा ही धनी भी था। एक जगह इसने स्वयं लिखा है कि "एक दूसरे की सौत होने के कारण महालक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर वैर है इसलिए इस (मंडन) के घर में इन दोनों की बड़ी जोरों से बढ़ा-बढ़ी होती है अर्थात् लक्ष्मी चाहती है कि मैं सरस्वती से अधिक बढ़ूँ और सरस्वती लक्ष्मी से अधिक बढ़ने का प्रयत्न करती है। *

मालवे के बादशाह का इस पर बहुत ही प्रेम था। ऐसे ऐसे विद्वानों की संगति से बादशाह को भी संस्कृत साहित्य का अनुराग हो गया था। एक दिन सायंकाल के समय बादशाह बैठा था। विद्वानों की गोष्ठी हो रही थी। उस समय बादशाह ने मंडन से कहा कि "मैंने कादंबरी की बहुत प्रशंसा सुनी है और उसकी कथा

स्तुतस्तथायं गणितज्ञकैस्तु भूगोलविद्भिः शकुनाभिरामैः।
प्रश्नप्रभेदैः सुमुहूर्तविज्ञैः पाटीत्वहज्जातककोविदैश्च ॥५६॥
देशर्तुकालप्रकृतिप्ररोग वयश्चिकित्साखिलजलक्षणज्ञैः।
असाध्यसाध्यादिरसक्रियाज्ञैर्वैद्यैः सभायां खलु सेव्यतेऽसौ ॥५७॥
साहित्यविद्भिः पतिनायकादि प्रदेशसल्लक्षणकोविदैश्च।
सुभावगोष्ठिप्रियकेलिरज्यद्विलासवद्भिः स्तुतिभिः स्तुतः सः ॥५८॥
निषादमुख्यस्वरगायनैश्च लघुद्रुतादिप्लुततालभेदैः
श्रीरागपूर्वं प्रथितातिरागोल्लसन्मतैः सेव्यतएव एभिः ॥५९॥

काव्यमनोहर सर्ग १

भुवं ददाति प्रथमं षडङ्गविद्भ्यः कषायां शुकभूषितेभ्यः ॥१॥
ये कुण्डले रत्नमणिप्रसन्नमुक्ताफलादीपित्त केशपाशे।
अनेन दत्ते श्रुतिपारगेभ्यस्ताभ्यां नृपायन्त्यति विस्मयं हि ॥२॥

इत्यादि—काव्यमनो० स० ७

* महालक्ष्मी सरस्वत्योर्बद्ध सापत्नवैरयोः
वर्धते महती स्पर्धा मन्दिरेयस्यवन्धुरे। कादम्बरीमण्डन परि० १ श्लो० ६

सुनने को बहुत जी चाहता है। परंतु राजकार्य में लगे रहने से इतना समय नहीं कि ऐसी बड़ी पुस्तक सुन सकूँ। तुम बहुत बड़े विद्वान् हो अतः यदि इसे संक्षेप में बनाकर कहो तो बहुत ही अच्छा हो"। मंडन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि "बाण ने स्वयं ही कादंबरी की कथा संक्षेप से कही है परंतु यदि आपकी आज्ञा है तो मैं इसकी कथा आपसे संक्षेप में निवेदन करूँगा" यह कह कर इसने "मंडन-कादंबरी-दर्पण" नामक अनुष्टुप् श्लोकों में कादंबरी का संक्षेप बनाया*।

---

* चाहडस्यानुजन्मेषु वाहडोमन्त्रिपुंगवः।
वसन्तइव कालेषु माननीयोऽभवद्गुणैः ॥६॥
तस्याभूत्तनयो नाम्ना मण्डनो विश्वमण्डनः।
शोभते यः शुभोदारः स्वयंवरपतिः श्रियः ॥७॥
महीतलमहेन्द्रस्य मालवानामधीशितुः।
स मन्त्री समभूत्प्राज्ञोवाचांपतिरिवोज्ज्वलः ॥१३॥
न भ्रातृषु न मित्रेषु न ज्ञातिषु न बन्धुषु।
भवत्युर्वीपतेरस्य तस्मिन्यत्प्रेमशाश्वतम् ॥१४॥
स कदाचिन्नृपः सायं समये शर्वरीमुखे।
विद्यानिधिममुं प्राह विद्वद्गोष्ठीमधिष्ठितः ॥१५॥
कादम्बरीकथाबद्धकौतुकं हृदयं मम।
कदापि कालो न श्रोतुं निविष्टस्य नृपासने ॥१७॥
तदिदानीं त्वया सम्यक् सा संक्षेपेण कथ्यताम्।
मनित्रेभवनिस्तीर्णवाङ्मयेन ममाग्रतः ॥१७॥
इत्येवमर्थितो राज्ञा प्राज्ञेषु प्रथमैस्ततः।
बद्धाञ्जलिरिदं प्राह मण्डनो मन्त्रिशेखरः ॥१८॥
कादम्बरी कथा राजन्महती च महाद्भुता।
सा संक्षिप्यैव कथिता बाणेनापि महाधिया ॥१९॥
देवी कादम्बरी दिव्या चन्द्रापीडः स चन्द्रमाः।
तयोनन्यावधिः शंके गौरवेषु गुणेषु च ॥२०॥

एक बार पौर्णिमासी के दिन सायंकाल के समय मंडन पहाड़ों के आंगन में बैठा हुआ था। सरस साहित्य की गोष्ठी हो रही थी। इतने में चंद्रोदय हुआ। चंद्रमा कवियों की परम प्रिय वस्तुओं में से एक है। कदाचित् ही ऐसा कोई काव्य होगा जिसमें चंद्रमा उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया हो। चंद्रमा की अमृतमयी रश्मियों ने मंडन के हृदय को विद्रुत कर दिया। उसने कई श्लोक चंद्रमा के वर्णन के बनाए। ऐसा मालूम होता है कि चंद्रमा की रमणीयता देखने में उसे सोने का भी स्मरण न रहा हो। चंद्रमा के उदय से अस्त तक की भिन्न भिन्न दशाओं का उसने अनेक ललित पद्यों में वर्णन किया। धीरे धीरे चंद्रमा के अस्त होने का समय आया। मंडन का चित्त अत्यंत खिन्न हुआ। जिसके लिए वह सारी रात बैठा रहा था उसे इस प्रकार अस्त होते देख वह कहने लगा। "हाय, जिस मार्ग पर चलने से पहले सूर्य का अधःपात हो चुका था, दुर्दैव-वश चंद्रमा भी उसी मार्ग पर चला और उसका भी अंत में अधःपात हुआ। जब पतन होने को होता है तो जानते हुए का भी ज्ञान नष्ट हो जाता है।* चंद्रमा को पहले पूर्व दिशा प्राप्त हुई थी पर उसे छोड़ वह पश्चिम दिशा के पास गया। पहले तो उसने राग (अनुराग और रक्तता) प्रकाशित कर उसे अपनाया पर वेश्या की तरह थोड़े ही समय में सर्वस्व हरण कर उसको दुतकार कर निकाल दिया?"

मंडन ने देखा कि सूर्य की किरणों से ताड़ित होकर चंद्रमा भाग रहा है। उन्होंने उसे कांतिहीन कर पश्चिम समुद्र में गिरा दिया है।

तथापि शासनादेव तव संक्षिप्यतां कथां।
वक्ष्ये वाचां न गर्वेण मर्षणीयं महाजनैः ॥२१॥ काद० म० १ परिच्छेद

* यथा चरन्येन पपात पूषा तमेव दैवात्समुपेत्य भूयः।
पपात चन्द्रोऽपि परं पतिष्णोर्नश्येद्विवेको ननु जानतोऽपि ॥३६॥
प्राचीं विहाय प्रथमोपपन्नां प्राप्तं सरागं प्रतिपद्यपूर्वम्।
वेश्येव कृत्वा विवसुं क्रमेण विवासयामास विधुं प्रतीची ॥३७॥

चन्द्रविजय प्रबन्ध

उसे सूर्य के ऊपर बहुत ही क्रोध आया। अपने प्रीतिपात्र चंद्रमा की विजय के लिए उसने "चंद्रविजय" नामक एक प्रबंध ललित कविता में बनाया जिसमें चंद्रमा का सूर्य के साथ युद्ध कर उसे हराना और पीछा उदयाचल पर उदय होने का वर्णन है।

मंडन जैन संप्रदाय के खरतरगच्छ का अनुयायी था। उस समय खरतरगच्छ के आचार्य जिनराज सूरि के शिष्य जिन भद्रसूरि थे। मंडन का सारा ही कुटुंब इन पर बहुत ही भक्ति रखता था और इनका भी मंडन के कुटुंब पर बड़ा ही स्नेह था। पाहू के जिनभद्र सूरि के साथ यात्रा करने का वर्णन ऊपर आ चुका है। ये बड़े भारी विद्वान् थे। इनके उपदेश से श्रावकों ने उज्जयंत (गिरनार), चित्रकूट (चित्तौड़), मांडव्यपुर (मंडोवर) आदि स्थानों में विहार बनाए थे। अणहिल्लपत्तन आदि स्थानों में इन्होंने बड़े बड़े पुस्तकालय स्थापित किए थे और मंडप दुर्ग (मांडू), प्रलादनपुर (पालनपुर) तलपाटक आदि नगरों में इन्होंने जिन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी*।

जिन माणिक्यसूरि (वि० सं० १५८३-१६१२) के समय की लिखी हुई पट्टावली और बीकानेर के यति क्षमाकल्याणजी की बनाई हुई पट्टावली से विदित होता है कि "जिनराज सूरि के पट्ट पर पहले जिन वर्द्धनसूरि को स्थापित किया था परंतु उनके विषय में यह शंका होने पर कि उन्होंने ब्रह्मचर्य भंग किया है उनके स्थान पर जिनभद्र सूरि

---

* श्रीउज्जयन्ताचलचित्रकूट माण्डव्य पूर्जा (?) रमुख्यकेषु
स्थानेषु येषामुपदेशवाक्यान्निर्मापिताः श्राद्धवरैर्विहाराः ॥२॥
अणहिल्लपाटकपुरप्रमुखस्थानेषु यैरकार्यन्त
श्रीज्ञानरत्नकोषा विधिपक्षश्राद्धसंघेन ॥३॥
मण्डपदुर्गे प्रल्हादनपुर तलपाटकादि नगरेषु
यैर्जिनवरबिम्बानां विधिप्रतिष्ठाः क्रियन्ते स्म

जैसलमेर का शंभवनाथ के मंदिर का शिलालेख भाण्डारकर की दूसरी रिपोर्ट १६०४-५ और १६०५-६ पृष्ठ ६६-६७

को स्थापित किया गया था* । महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में जिनभद्र सूरि की वंशपरंपरा इस प्रकार दी है—१ जिनवल्लभ, २ जिनदत्त, ३ सुपर्वसूरि, ४ जिनचंद्रसूरि, ५ जिनसूरि, ६ जिनपद्मसूरि, ७ जिनलब्धिसूरि, ८ जिनराजसूरि, ९ जिनभद्रसूरि ।

पाटण के भांडार में भगवतीसूत्र की एक प्रति है। उसके अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि जिनभद्र सूरि के उपदेश से मंडन ने एक बृहत् सिद्धांत ग्रंथों का पुस्तकालय "सिद्धांत कोश" नामक तय्यार करवाया था। यह भगवतीसूत्र भी उसी में की एक पुस्तक है†।

मंड ने अपने ग्रंथों के अंत की प्रशस्ति में अथवा महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में मंडन के पुत्रों के विषय में कुछ नहीं लिखा, परंतु उपरोक्त भगवतीसूत्र के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि मंडन के पूजा, जीजा, संग्राम और श्रीमाल नामक ४ पुत्र थे। मंडन के अतिरिक्त सं० धनराज, सं० खीमराज और सं० उदयराज का भी नाम इसमें लिखा है। खीमराज चाहड़ का दूसरा पुत्र खेमराज है और धनराज देहड़ का पुत्र धन्यराज। उदयराज कौन था यह ज्ञात नहीं होता। महेश्वर ने झंझण के छः पुत्रों में से तीनों के पुत्रों का वर्णन किया है परंतु पद्म, आल्ह और पाहू की संतति के विषय में

---

* विज्ञप्तित्रिवेणी की भूमिका पृष्ठ ४७—५२

† "संवत् १५०३ वर्षे वैशाख सुदि १ प्रतिपत्तिथौ रविदिने श्रद्येह श्रीस्तम्भतीर्थे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनभद्रसूरीश्वराणामुपदेशेन श्री श्रीमालज्ञातीय सं० मांडण सं० धनराज भगवतीसूत्रपुस्तकं निजपुण्यार्थं लिखापितम्॥" इसके बाद ३ श्लोकों में मंडन के वंश का वर्णन है। चतुर्थ श्लोक का उत्तरार्ध है—

सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडस्यात्मजः ।
श्रीसिद्धान्तमलेखयच्च सकलं संघेश्वरो मण्डनः ॥४॥

अंत में लिखा है—"श्रीमालिज्ञातिमण्डनेन संघेश्वरश्रीमण्डनेन सं० श्रीधनराज सं० खीमराज सं० उदयराज। सं० मण्डन पुत्र सं० पूजा सं० जीजा सं० संग्राम सं० श्रीमालप्रमुखपरिवारयुतेन सकलसिद्धान्तपुस्तकानि लेखयाञ्चक्राणानि ॥ श्री विज्ञप्तित्रिवेणी प्रस्तावना पृष्ठ ६५—६६

कुछ नहीं लिखा। संभव है कि उदयराज इन्हीं में से किसी एक का पुत्र हो।

मंडन यद्यपि जैन था और वीतराग का परम उपासक था परंतु उसे वैदिक धर्म से कोई द्वेष नहीं था। उसने अलंकारमंडन में अनेक ऐसे पद्य उदाहरण में दिए हैं जिनका संबंध वैदिक धर्म से है। जैसे—

श्रीकृष्णस्य पदद्वंद्वमधमाय न रोचते

अलं० म० परि० ५ श्लो ३३८

अर्थात जो नीच होते हैं उन्हें श्रीकृष्ण के चरण युगल अच्छे नहीं लगते।

किं दुःखहारि हरपादपयोजसेवा

यद्दर्शनेन न पुनर्मनुजत्वमेति तत्रैव ९७

अर्थात् दुःख को हरण करनेवाला कौन है? महादेव के चरण कमलों की सेवा, जिनके दर्शन से फिर मनुष्यत्व प्राप्त नहीं होता (मोक्ष हो जाता है)।

मंडन के जन्म तथा मृत्यु का ठीक समय यद्यपि मालूम नहीं होता तथापि मंडन ने अपना मंडपदुर्ग (मांडू) में वहाँ के नरपति आलमसाह का मंत्री होना प्रकाशित किया है। यदि उपरोक्त अनुमान के अनुसार आलमशाह हुशंगगोरी ही का नाम है तो कहना होगा कि मंडन ईसा की १५वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था, क्योंकि हुशंग का राज्यकाल ई० स० १४०५ से ई० स० १४३२ है। वि० सं० १५०४ (ई० स० १४४७) की लिखी मंडन के ग्रंथों की प्रतियाँ पाटण के भांडार में वर्तमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् १४४७ के पूर्व* वह ये सब ग्रंथ बना चुका था। मुनि जिन विजयजी के मतानुसार ये प्रतियाँ मंडन ही की लिखवाई हुई हैं। वि० सं० १५०३ में मंडन ने भगवती सूत्र लिखवाया था यह ऊपर वर्णन हो चुका है। इससे स्पष्ट है कि मंडन वि० सं० १५०३ (ई० सं० १४४७) तक वर्तमान था।

---

* विज्ञप्तित्रिवेणी की प्रस्तावना पृष्ठ ६३

महेश्वर ने काव्यमनोहर के सर्ग ७ श्लो० २० में लिखा है कि "संघपति झंझण के ये पुत्र विजयी हैं" इस वर्तमान प्रयोग से विदित होता है कि काव्यमनोहर के बनने के समय झंझण के छहों पुत्र वर्तमान थे * ।

सरलता से समझ में आने के लिए मंडन का वंशवृत्त नीचे दिया जाता है—

आभू (सोमेश्वर (ई० स० ११६६ से ११७८) का मंत्री)
|
अभयद (आनंद का मंत्री)
|
सहणपाल (मोइजुद्दीन बेहराम (ई० १२४०–१२४२) का समकालीन)
|
नैणा (जलालुद्दीन फिरोजखिलजी (ई० १२६०–६५) का समकालीन)
|
दुसाजु (गयासुद्दीन तुगलक (ई० स० १३२१–२५) का समकालीन)
|
वीका
|
झंझण (हुशंग गोरी (१४०५–१४३२ ई०) का समकालीन)
|
चाहड़ — बाहड़ — देहड (पत्नी गंगा) — पद्म — आल्ह — पाहू

चाहड़ के पुत्र: चंद्र, खेमराज
बाहड़ के पुत्र: समुद्र या समधर, मंडन
देहड के पुत्र: धन्यराज (ई० १४३३ में वर्तमान), उदयराज
मंडन के पुत्र: पूजा, जीजा, संग्राम, श्रीमाल

मंडन के ग्रंथ

पाटण (गुजरात) की हेमचंद्राचार्य सभा ने महेश्वरकृत काव्य-

* श्रीमज्झंझण संघपत्युत जयन्त्येते सुता मयदपे ॥ का० म० स० ७ श्लो० २०

मनोहर और मंडनकृत (१) कादंबरीदर्पण (२) चंपू मंडन (३) चंद्रविजय और (४) अलंकार मंडन ये पाँचों ग्रंथ एक जिल्द में और (५) काव्य मंडन तथा (६ शृंगार मंडन दूसरी जिल्द में प्रकाशित किए हैं। प्रथम जिल्द की भूमिका से विदित होता है कि इन उपरोक्त ग्रंथों के सिवाय (७) संगीत मंडन और (८) उपसर्गमंडन नाम के दो ग्रंथों की प्रतियाँ भी उक्त सभा के पास हैं। उक्त सभा ने ये प्रतियाँ पाटण के वाड़ी पार्श्वनाथजी के मंदिर से प्राप्त की हैं।

मंडन ने चंपूमंडन को सारस्वतमंडन का अनुज और काव्यमंडन के भ्रातृत्व (भाईपन) से सुशोभित कहा है और शृंगारमंडन के अंत में अपने को "सारस्वत-मंडन-कवि" कहा है। इससे सिद्ध है कि सारस्वतमंडन नामक एक और ग्रंथ मंडन ने बनाया है*।

आफ्रेट साहब ने अपने "केटलोगस केटलोगरम" नामक पुस्तक में मंडन मंत्री और मंडन कवि इन दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों का वर्णन लिखा है। मंडन मंत्री के लिए लिखा है कि "ईस्वी सन् १४५६ में "कामसमूह" नामक ग्रंथ के बनानेवाले अनंत का पिता था।" और मंडन कवि के लिए लिखा है कि "यह उपसर्ग मंडन, सारस्वत मंडन और कविकल्पद्रुम स्कंध नामक ग्रंथों का कर्ता था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सारस्वतमंडन आदि ग्रंथ हमारे चरित्रनायक बाहड़ के पुत्र मंत्री मंडन ही के बनाए हुए हैं। अतः सिद्ध है कि आफ्रेट साहब जिसे मंडन कवि कहते हैं वह

---

* श्रीसारस्वतमण्डनस्य विदुषां सन्तोषदस्यानुजे।
चातुर्योचितकाव्यमण्डनधृतभ्रातृत्व संराजिते॥
श्रीमन्मण्डनबिन्दुना विरचिते श्रीमालवंशेन्दुना।
चम्पूमण्डननामनीह परलो ग्रन्थेऽभवत्सप्तमः॥ चं० म० प० ७ श्लो० १०

यः सारस्वतकाव्यमण्डनकविर्दारिद्र्यभूभृन्यविर्विज्ञानाब्ज यथारविर्निगदते मीवपतापैर्भुवि। शृं० मं० श्लो० १०७

मालूम हुआ है कि सारस्वतमंडन की भी प्रतिलिपि पार्श्वनाथ के भांडार में वर्तमान है।

बाहड़ का पुत्र मंत्रिमंडन ही है। कामसमूह के कर्ता अनंत का पिता मंत्रिमंडन इस मंत्रिमंडन से बिलकुल ही भिन्न है। दोनों के नामों की समानता दोनों का मंत्री होना और समय भी प्रायः समान ही होना यद्यपि इस बात का भ्रम उत्पन्न करता है कि अनंत मांडू के मंत्रिमंडन ही का पुत्र हो, परंतु अनंतकृत कामसमूह और भगवती सूत्र के अंत को प्रशस्ति देखने पर यह भ्रम नहीं रहता।

पाठकों को विदित है कि मांडू का मंत्रिमंडन सोनगरा गोत्र का क्षत्रिय था परंतु अनंत क्षत्रिय नहीं था किंतु अहमदाबाद का रहनेवाला बड़नगरा नागर ब्राह्मण था यथा—।

नागरज्ञातिजातेन मंत्रिमंडनसूनुना
अनंतेन महाकाव्ये सतीवृत्तं प्रकाशितम्।

कामसमूह सतीवृत्तप्रकरण श्लो० २६

अहमदनिर्मितनगरे विहितावसतिश्च वृद्धनागरिकः
मंडनसूनुरनंतो रचयति सेवाविधिनार्याः

कामसमूह-स्त्री-सेवा-विधिप्रकरण श्लो० १५

भगवती सूत्र के अंत में जो मंडन के पुत्रों के नाम दिए हैं उनमें अनंत नाम नहीं है।

"केटलोगस केटलोगरम" से मालूम होता है कि उपरिलिखित ग्रंथों के सिवाय मंडन ने कविकल्पद्रुम स्कंध नामक एक और भी ग्रंथ बनाया था। इस प्रकार मंडन के बनाए हुए कुल १० ग्रंथ अब तक विदित हुए हैं जो नीचे लिखे अनुसार हैं।

(१) कादंबरीदर्पण
(२) चंपूमंडन
(३) चंद्रविजयप्रबंध
(४) अलंकारमंडन
(५) काव्यमंडन
(६) शृंगारमंडन
(७) संगीतमंडन

(८) उपसर्गमंडन

(९) सारस्वतमंडन

(१०) कविकल्पद्रुमस्कंध

इनमें से आदि के छ ग्रंथ हेमचंद्राचार्य सभा पाटण की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं।

कादंबरीदर्पण में बाणकृत कादंबरी की कथा संक्षेप से सुललित अनुष्टुप् श्लोकों में वर्णन की गई है। इसके ४ परिच्छेद हैं।

कादंबरीदर्पण

प्रथम परिच्छेद में १३९, द्वितीय में १२९, तृतीय में १६९, और चतुर्थ में १३७ श्लो० हैं। अंत में लिखा है—

"लिखितं विनायकदासकायस्थेन। सं० १५०४ वर्षे कार्तिक शुक्ल अष्टमी मङ्गलदिने"

चंपूमंडन में गद्य तथा पद्यों में नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। यह सात पटलों में विभक्त है, प्रत्येक पटल के अंत में नैषध की तरह

चंपूमंडन

निम्नलिखित श्लोक केवल पटल की संख्या पलट कर लिखा हुआ है।

"श्री सारस्वतमंडनस्य विदुषा संतोषदस्यानुजे
चातुर्योचितकाव्यमंडनधृतभ्रातृत्वसंराजिते
श्रीमंडनबिंदुना विरचिते श्रीमालवंशेन्दुना
चंपूमंडननामनीह पटलो ग्रंथेऽभवत्सप्तमः

अंत में लिखा है—

सं० १५०४ वर्षे मार्गशीर्ष कृष्णप्रतिपदि बुद्ध (ध) दिने लिखितं विनायक दासेन"

इसके बाद और लिखा है

सं० १५०४ वर्षे शाके १३६८ प्रवर्तमाने आषाढ़ शुक्ल त्रयोदश्यां सोमदिने तारापुर स्थाने पुस्तकमलेखि शुभं भवतु"

मालूम होता है कि विनायकदास की प्रति से यह प्रति लिखी गई है और विनायकदास की प्रति लिखी जाने के प्रायः ७ महीने बाद यह प्रति लिखी गई है।

चंद्रविजय प्रबंध दो पटलों में विभक्त है। पहले पटल में चंद्रमा के उदय से लेकर अस्त तक का वर्णन ४? सुंदर पद्यों में किया है।

चंद्रविजयप्रबंध

द्वितीय पटल में १०० पद्य हैं, जिसमें चंद्रमा की उत्पत्ति, उससे सूर्य का वैर, उसके साथ युद्ध, चंद्रमा की विजय और ताराओं के साथ उसके विहार का वर्णन है।

इसके अंत में लिखे जाने का संवत् नहीं है, केवल यही लिखा है "कार्तिकशुक्लाष्टम्यां बुद्ध (ध) दिने लिखितं कायस्थ विनायकदासेन"। परंतु अन्य सब ग्रंथ विनायकदास ने सं० १५०४ में लिखे थे इससे अनुमान होता है कि यह भी उसी संवत् में लिखा गया हो। कादंबरी-मंडन के अंत की प्रशस्ति में सं० १५०४ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी को मंगलवार लिखा है। संभव है कि अष्टमी की वृद्धि हुई हो (दो अष्टमी हों) और यह भी संभव है कि प्रकृत पुस्तक, जिसके केवल १४१ पद्य हैं, एक ही दिन में लिख ली गई हो।

अलंकारमंडन साहित्य शास्त्र का ग्रंथ है, यह ५ परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद में काव्य के लक्षण, उसके भेद और रीतियों का, दूसरे परिच्छेद में काव्य के दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में रस और पाँचवें में अलं-कारों का वर्णन है। लिखे जाने का समय "सं० १५०४ वर्षे मार्ग-शीर्षकृष्णपञ्चम्या शनौ दिने लिखितं विनायकदासकायस्थेन" ऐसा लिखा है।

अलंकारमंडन

काव्यमंडन में कौरव और पांडवों की कथा है। इसके १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग के अंत में सर्ग की संख्या के परिवर्तन के साथ यह श्लोक दिया है—

काव्य मंडन

श्रीमद्वन्द्यजिनेन्द्रनिर्भरनतेः श्रीमालवंशोन्नतेः
श्रीमद्वाहड़नन्दनस्य दधतः श्रीमंडनाख्यां कवेः
काव्ये कौरवपांडवोदयकथारम्भे कृतौ सद्गुणे
माधुर्यं पृथुकाव्यमंडन इते सर्गोऽयमाद्योऽभवत्

अंत में लिखा है—

"ग्रंथ संख्या श्लोक १२५० (लि) खितं संवत् १५०४ वर्षे शाके १३६९ प्रवर्तमाने षष्ठ्यब्दमध्ये श्रीमुखनाम्नि संवत्सरे दक्षिणायने वर्षा ऋतौ भाद्र शुदि ५ पञ्चम्यां तिथौ बुधदिने पुस्तकमलेखि"

शृंगारमंडन शृंगारमंडन में शृंगार रस के फुटकर १०८ श्लोक हैं अंत में—

"संवत् १५०४ वर्षे कार्तिकशुक्लद्वादश्यां शनौ दिने लिखितं विनायकदासकायस्थेन" यह लिखा है।

संगीतमंडन और उपसर्गमंडन

संगीतमंडन संगीत शास्त्र का और उपसर्ग मंडन उपसर्गों के विषय का ग्रंथ है जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है। हेमचंद्राचार्य सभा के सेक्रेटरी महाशय से विदित हुआ कि इन दोनों पुस्तकों की प्रतियाँ उक्त सभा के पास हैं परंतु एक एक ही प्रति होने के कारण प्रकाशन करने में अशुद्धि रहने का भय है अतः जब तक दूसरी प्रति इनकी न मिल जाय प्रकाशित नहीं की जा सकतीं।

सारस्वत मंडन

सारस्वतमंडन सारस्वत व्याकरण के ऊपर ग्रंथ है। इसकी प्रति पाटण के बाड़ी पार्श्वनाथ के मंदिर में है। यह अब तक प्रसिद्ध नहीं हुआ है।

कविकल्पद्रुम स्कंध कविकल्पद्रुम स्कंध अब तक उपलब्ध नहीं हुआ।

ग्रंथों के लिखे जाने का समय

यह ठीक ठीक मालूम नहीं होता कि कौन कौन सा ग्रंथ किस समय लिखा गया। महेश्वर ने और मंडन ने अपने बनाए ग्रंथों में मंडन के पुत्रों के विषय में कुछ नहीं लिखा। परंतु संवत् १५०३ के लिखे हुए भगवतीसूत्र की प्रशस्ति में मंडन के चार पुत्रों के नाम दिए हैं। महेश्वर ने काव्यमनोहर लिखा। उस समय झंझण के छहो पुत्र वर्तमान थे, जैसा कि ऊपर बतया जा चुका है, परंतु भगवती सूत्र की प्रशस्ति में झंझण के पुत्रों का नाम नहीं है, केवल उसके तीन पौत्र धनराज, खीमराज और उदयराज का नाम है। झंझण

के पुत्र शायद इस समय तक न रहे हों। उपरिलिखित बातों से अनुमान होता है कि जिस समय मंडन ने ग्रंथ लिखे उस समय उसके कोई पुत्र नहीं था। किंतु भगवतीसूत्र लिखाने के समय (सं० १५०३ में) उसके ४ पुत्र थे। यदि वि० सं० १५०३ में सबसे छोटे लड़के की अवस्था १ वर्ष की मानी जाय और अन्य पुत्रों की अवस्था में औसत से दो दो वर्ष का अंतर माना जाय तो सिद्ध होता है कि वि० सं० १५०३ से सात वर्ष पूर्व अर्थात् वि० सं० १४९६ के पूर्व मंडन के ग्रंथ बन चुके थे।

उपरिलिखित लेख से पाठकों को विदित होगा कि मुसलमानी साम्राज्य में भी संस्कृत भाषा की कितनी उन्नत अवस्था थी। बड़े बड़े धनिकों और राज्यकर्मचारियों में भी इसका कितना प्रचार था। उस समय के धनी लोग कैसे विद्याव्यसनी और विद्वान् होते थे और विधर्मी होने पर भी मुसलमान बादशाह संस्कृत भाषा पर कितना प्रेम रखते थे।

(५) पाणिनि के समय में एक धार्मिक संप्रदाय

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी]

भारत में आजकल ही इतने विभिन्न धार्मिक संप्रदाय दृष्टिगोचर नहीं होते बल्कि अत्यंत प्राचीन काल में भी ऐसे अनेक संप्रदायों के जाल से यह देश खाली नहीं था। साधारण लोगों का यह खयाल है कि श्रीशंकराचार्य से ही इस सांप्रदायिकता की नींव भारत में पड़ी, रामानुजाचार्य के समय में यह कुछ दृढ़ हुई तथा पंद्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण धार्मिक आंदोलन से जिसके मुखिया श्रीरामानंद स्वामी थे इसने भारत की धार्मिक भूमि में अच्छी तरह जड़ पकड़ ली कि आज किसी तरह भी डुलाए नहीं डुलती। कुछ अंशों में धार्मिक संप्रदाय का पूर्वोक्त वर्णन उसके विकाश का पूर्णतया पता बता देता है परंतु श्रीशंकराचार्य से ही इसका आरंभ मानना इतिहास की दृष्टि में उतना समुचित नहीं जँचता।

शंकर के करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले भी भारत में अनेक धार्मिक संप्रदायों का यथेष्ट पता मिलता है। जब बुद्ध धर्म के प्रवर्तक आचार्य गौतम बुद्ध का अभी जन्म भी न हुआ था, जब आचार्य महावीर ने अपनी अहिंसाप्रचारिणी शिक्षा से विहार की पुण्य भूमि में करुणा सरिता न बहाई थी; तब—नहीं, नहीं, उसके भी बहुत पहले भारत ने धार्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति देखी थी। आज पाणिनि के समय के एक धार्मिक संप्रदाय का थोड़ा सा वर्णन इतिहास-प्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है।

'मस्करी' परिव्राजक

पाणिनि के समय में 'मस्करी' नामक परिव्राजकों का एक संप्रदाय था। इस शब्द की उत्पत्ति के लिए पाणिनि का एक निम्न-

लिखित सूत्र है—मस्कर मस्करिनौ वेणु परिव्राजकयोः ५।१।१५४। वेणु के अर्थ में 'मस्कर' तथा परिव्राजक के अर्थ में 'मस्करी' शब्द निपातन से सिद्ध किए जाते हैं। इस सूत्र की महाभाष्य, काशिका तथा कैयट कृत टीका देखने से स्पष्टतः 'मस्करी' परिव्राजकों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है।

महाभाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते समय लिखते हैं—'मस्कर जिसके पास होगा' इस अर्थ के द्योतक इनि प्रत्यय के करने पर मस्करी (वेणुधारी) पद सिद्ध ही हो जाता, फिर पूर्वोक्त सूत्र में इस शब्द के रखने का प्रयोजन क्या? नहीं, वेणुधारी के अर्थ में 'मस्करी पद' सिद्ध न होगा; बल्कि जो परिव्राजक 'काम मत करो, काम मत करो, शांति तुम्हारे लिए भली है' इस प्रकार उपदेश देता है; वही 'मस्करी' के नाम से पुकारा जाता है*।

प्रदीप में कैयट† ने भी महाभाष्यकार के मत को केवल दुहराया है—'यह मत करो, यह मत करो, काम्य कर्मों को छोड़ देना ही तुम्हारे लिए कल्याण कारक है' यह जो उपदेश देता है, उसे 'मस्करी' कहते हैं। पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'मस्करी' लोग बड़े भारी 'दैववादी' थे, वे कर्मों को छोड़ने का उपदेश हर एक को दिया करते थे; काम छोड़ भाग्य के भरोसे रहना ही उनका परम पुरुषार्थ था।

पूर्वोक्त सूत्र की काशिकावृत्ति‡ भी भाष्यकार की सम्मति की

---

* न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।—महाभाष्य।

† अयं मा कृत अयं मा कृतेत्युपक्रम्य शान्तितः काम्यकर्मपरिहाणिर्युष्माकं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते।

‡ परिव्राजकेऽपि माङ्युपपदे करोतेस्ताच्छील्ये इनिर्निपात्यते। माङो ह्रस्वत्वं सुट् च तथैव। माकरणशीलो मस्करी कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते। सत्यमेवमाह। माकृत कर्माणि शांतिर्वः श्रेयसी।

प्रामाणिकता सिद्ध कर रही है। मस्करी बना कैसे ? इसके लिये काशिका बतलाती है कि 'मा' उपपद कृ धातु से ताच्छील्य स्वभाव के अर्थ में इनि प्रत्यय किया गया है तथा निपातन से आकार को ह्रस्व बनाने तथा सुडागम करने पर यह पद तैयार हुआ है (मा+ऽकृ+इनि=मस्करिन्)। इस व्युत्पत्ति से मस्करी का अर्थ हुआ—वह परिव्राजक जिसका स्वभाव कभी काम करना न हो अर्थात् जो कर्म को बुरा जानकर छोड़ देता है।

काशिका से भी 'मस्करी' के विषय में केवल यही ज्ञात हुआ कि ये परिव्राजक लोग दैववादी थे, कार्यों के त्याग करने के पक्ष में थे। पाणिनि के समय में इनका सम्प्रदाय अत्यंत प्रसिद्ध रहा होगा तभी तो पाणिनि ने इनको अपने सूत्र में स्थान देने का आयोजन किया है।

मस्करी=आजीवक

अब हमें यह विचार करना है कि क्या हम पाणिनि के 'मस्करी' की इतिहास प्रसिद्ध किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय के साथ अभिन्नता सिद्ध कर सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक नहीं है। बुद्ध के समय में प्रसिद्ध आजीवक नामक धार्मिक संप्रदाय तथा पाणिनि का मस्करी दोनों एक ही थे। बौद्ध साहित्य में आजीवक लोगों के जो मूल सिद्धांत वर्णित हैं वे मस्करी लोगों के उपदेशों से भिन्न नहीं हैं। एक स्थान पर आजीवकों के मूल सिद्धांत का वर्णन करते हुए बुद्ध भगवान् स्वयं कहते* हैं—आजीवक लोग कहते हैं कि न तो कर्म है, न क्रिया है और न वीर्य। यह सिद्धांत मस्करी के पूर्वोक्त उपदेश—माकृत कर्माणि—के बिल्कुल समान ही है। जानकी-हरण में भी सीता को हरने के लिए रावण मस्करी के वेष में ही आता† है। उससे भी जान पड़ता है कि मस्करी तथा आजीवक

* नात्थि कम्मं, नात्थि किरियं, नात्थि विरियं ति।

अंगुत्तर निकाय जि० १, पृ० २८६।

† दधानोऽजिनमत्युग्रं जटामंडितमस्तकम्।

कश्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥ रा० १०, प० ७६।

दोनों एक ही संप्रदाय के थे। बुद्ध के जीवनचरित्र से भी पूर्वोक्त अभिन्नता सिद्धि होती है। जब बुद्ध भगवान् अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, उसी समय में मक्खलि गोसाल नामक आजीविकों के आचार्य का भी प्रभाव धार्मिक जगत् में कम न था, बुद्ध को इनके साथ शास्त्रार्थ भी करना पड़ा था। ये आजीवक बतलाए गए हैं। परंतु इनके नाम का प्रथम अंश—मक्खलि—संस्कृत 'मस्करी' का पाली बना हुआ रूप है, अतएव गोसाल वास्तव में मस्करी संप्रदाय के ही थे। इसी के सूचन के लिए यह अंश उनके नाम के पहले जोड़ा गया है। इन प्रमाणों से ठीक जान पड़ता है कि पाणिनि के 'मस्करी' बौद्धसाहित्य में प्रसिद्ध 'आजीविक' थे।

बौद्ध ग्रंथों के देखने से पता लगता है कि मस्करी लोग बड़े भारी तपस्वी थे, ये हठयोग की कठिन से कठिन प्रक्रिया से अपनी देह को सुखा देते थे, तपाग्नि तपते थे तथा अपने शरीर पर धूलि अथवा भस्म लगाया करते थे। जानकीहरण के पूर्वोक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि इनके सिर पर बड़ी बड़ी जटाएँ भी शोभित होती थीं। इस संप्रदाय का उस समय बड़ा बोल-बाला था। पाली ग्रंथों में इस संप्रदाय के दो आचार्यों का नाम दिया हुआ मिलता है जो गोसाल के भी पहले हो चुके थे—एक का नाम था नंदवच्छ तथा दूसरे का किससंकिच्छ। सच तो यह है कि बुद्ध के बहुत पहले ही इस संप्रदाय की उत्पत्ति भारतवर्ष में हो चुकी थी।

---

(६) शिंग भूपाल का समय।

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी]

भारत में संगीत शास्त्र की उत्पत्ति अत्यंत प्राचीन काल में हुई थी। वह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वेद के समय में तो संगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परंतु शोक से कहना पड़ता है कि संगीत विषयक अधिकांश ग्रंथ कराल काल के ग्रास बन गए हैं। यदि समग्र ग्रंथ इस समय उपलब्ध रहते तो इस शास्त्र के क्रम-बद्ध विकाश का इतिहास सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीत मकरंद'* के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीत शास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र के तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ संबद्ध था; प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान, तुंवरु, कोहल, मातंग, वेणा,—इसके आचार्य थे जिन्होंने संगीत पर ग्रंथों की रचना की थी। परंतु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक ताल पत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तका-लयों की शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जन से कमती पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बत-लाए गए हैं तथापि 'संगीत रत्नाकर' ही संगीत शास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रंथ है। इस अमूल्य ग्रंथ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रंथ में नहीं पाई

* गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ नं० १६।

जाती। प्राचीनता के लिये भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद' को छोड़कर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना ग्रंथ है। ऐसे सुंदर ग्रंथ के लिये इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'* समग्र संगीत प्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रंथ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००–१५००) रचित टीका 'आनंदाश्रम सीरीज में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी के लिहाज से पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—संगीत सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रंथों (जिनका अब नामोनिशान बाकी नहीं है) से उद्धरण लिए मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितांत आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'शिंगभूपाल' इस टिप्पणी के विषय हैं।

'शिंगभूपाल' के समय के विषय में अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर ने लिखा† है कि 'शिंग अपने को 'आंध्रमंडल' का अधिपति लिखता है; इसके विषय में ठीक ठीक कहना तो अत्यंत कठिन है तथापि अधिक संभावना इसी बात की है कि यह तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' बनाया था; संभव है कि शार्ङ्गदेव अथवा अन्य किसी पंडित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३ वीं शताब्दि का मध्य भाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी. आर† भांडारकर ने कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'सिंगभूपाल' को १६ वीं सदी का माना था परंतु कलकत्ता

---

* देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंह या सिंघण (१२१८–४६) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वाडीन्द्र' ने 'महाविद्या विडंब' नामक नैयायिक ग्रंथ की रचना की है।

† डाक्टर भांडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२–८३)

की एक हस्तलिखित प्रति में कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नहीं है कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से सिंगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ते की प्रति का कोलोफन यों है—

(१) इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वर प्रतिगुणभैरव श्रीयनपोत नरेन्द्रनन्दन भुजबलभीम श्रीसिंगयपाल विरचितायां संगीतरत्नाकर टीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीयः।

(रागविवेकाध्याय का अंत)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन......(प्रकीर्णाध्याय का अंत)

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रंथ की सूचना प्रो. शेषगिरि शास्त्री ने अपनी संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६–९७) में दी थी। उस पर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रंथ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णव सुधाकर*' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर के कोलोफन में भी वे ही बाते दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणों में हैं। इति श्रीमदंध्रमण्डलाधीश्वर प्रतिगुणभैरव श्री अन्नपोतनरेन्द्रनंदन भुजबलभीम श्री शिङ्गभूपाल विरचिते रसार्णव-सुधाकर नाम्नि नाट्यालङ्कारे रञ्जकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों कालोफोन एक ही ग्रंथकार के हैं। रसार्णव-सुधाकर के आरंभ में 'शिंगभूपाल' के पूर्व पुरुषों का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंश में इनका जन्म हुआ था। शिंगमपाल अपने ६ पुत्रों के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी में रहता था और विंध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक

* यह ग्रंथ 'दशरूपक' की कोटि का है। इसमें बड़ी सरलता से नाटक के विभिन्न अंगों की—वस्तु, नेता, रस—आदि की व्याख्या की गई है। दक्षिण में इसका प्रचार दशरूपक से कहीं अधिक है।

पर्वत के मध्यस्थित देश पर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'Biographical sketches of the Rajahs of Venkatgiri' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है। शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'रसार्णव सुधाकर' के आरंभ में शिंग ने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश में आज भी 'नायडू' की गणना उसी वर्ण में होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० के आस पास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्यकाल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि शिंगभूपाल का संबंध दक्षिण देश से था, उत्तरीय भारत से नहीं। अतएव मैथिलों का यह प्रवाद कि शिंग मिथिला के राजा थे केवल कल्पना मात्र है—संकीर्ण प्रांतीयता के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रीश्याम नारायणसिंह ने अपने 'History of Tirhut' में इस प्रवाद का उल्लेख किया है*। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियों के दक्षिण में मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण में सातिशय प्रचार से शिंगभूपाल वास्तव में दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

---

* "He (Shinga Bhupal) is identified with some Mithila ruler of 14th. century, but the question is much disputed." P. 167.

(७) मदनाष्टक

[लेखक—पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित, काशी]

जब से सम्मेलन पत्रिका की भाद्रपद सं० १६७६ की संख्या में मदनाष्टक के ६½ छंद निकले थे तभी से मैं शेष छंदों की खोज में था। अब से कुछ दिन पूर्व मैं प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज में फतहपुर जिले में भ्रमण कर रहा था कि मोअज़्ज़माबाद ग्राम में मुझे सं० १८८२ के लिखे दो पृष्ठ मदनानाष्टक के मिले जिसका कोई छंद सम्मेलन-पत्रिका के छंदों से नहीं मिलता।

कार्तिक मास की सम्मेलन पत्रिका में १ छंद माधौपुर (छत्रपुर) निवासी लाला जुझारसिंह ने और भी प्रकाशित कराया था। केवल वही छंद उक्त मदनाष्टक के चौथे छंद से मिलता है।

इसके पश्चात् असनी में भी दो तीन महाशयों के पास मदनाष्टक के नाम से ८ छंद मिले जिनके प्रारंभ में रहीम का वही प्रसिद्ध छंद है जिसे भूल से लोग 'हे दिल' को "हैदर" समझ कर 'हैदर' का रचा बतलाते हैं और जिसके आधार पर ही मदनाष्टक रचा बतलाया जाता हैं। मुंशी देवीप्रसाद जी ने भी अपने ख़ानख़ानानामा में उक्त छंद उद्धृत किया है। यह छंद खड़ी बोली और संस्कृत मिश्रित भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके चार छंद नं० ४, ६, ७, ८ मोअज़्ज़माबादवाले मदनाष्टक से और तीन छंद नं० २, ३, ५ भाद्रपद की सम्मेलन पत्रिकावाले से मिलते हैं, यद्यपि सम्मेलन-पत्रिका में वे चारों छंद जो इन दोनों अष्टकों से मिलते हैं अशुद्ध रूप में प्रकाशित हुए हैं। अतः मुअज़्ज़माबाद और असनी से प्राप्त मदनाष्टकों को यथाशक्ति शुद्ध रूप में तथा सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित छंदों को क्रम से उद्धृत कर हम विचार करेंगे कि इन तीनों मदनाष्टकों में शुद्ध और रहीम-रचित असली कौनसा है।

(१)

मुअज़्ज़माबाद से जो मदनाष्टक मिला है वह इस प्रकार है--

मालिनी छंद ।

[१]

मनसि मम नितांतम् आयकैं वासु कीया ।
तन धन ;सब मेरा मान तैं छीन लीया ॥
अति चतुर मृगाक्षी देखतै मौन भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[२]

वहति मरुति मंदम् मैं उठी राति जागी ।
शशि-कर कर लागें सेल ते पैन वागी ॥
अहह विगत् स्वामी क्या करौं मैं अभागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[३]

हरनयन हुताशं ज्वालया जो जलाया ।
रति-नयन जलौघै खाख बाकी बहाया ॥
तदपि दहति चित्तम् मामकं क्या करौंगी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[४]

विगत घन निशीथे चाँद की रोशनाई ।
सघन वन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई ॥
सुत पति गतनिद्रा स्वामियाँ छोड़ भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[५]

हिम ऋतु रतिधामा सेज लोटौं अकेली ।
उठत विरहज्वाला क्यों सहौं री सहेली ॥

चकितनयन बाला तत्र निद्रा न लागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[६]

कमल मुकुल मध्ये राति को पै सयानी ।
लखि मधुकर बंधम् तू भई री दिवानी ॥
तदुपरि मधुकाले कोकिला देखि भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[७]

तव वदन मयंकी ब्रह्म की चोप बाढ़ी ।
मुख कवँ लखि भूपै चाँद ते कांति गाढ़ी ॥
मदन मथित रंभा देखतै मोहि भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[८]

नभसि घन घनांते घनी कैसि छाया ।
पथिक जन वधूनां जन्म केता गँवाया ॥
इति वदति पठानी मन्मथांगी विरागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

(२)

असनी में जो मदनाष्टक प्राप्त हुआ वह इस प्रकार है--

दृष्ट्वा तत्र विचित्रताम् तरुलताम् मैं था गया बाग में ।
कांश्चित् तत्र कुरंग-साव-नयनी गुल तोड़ती थी खड़ी ॥
उन्नत भ्रू धनुषा कटाक्ष विशिखै घायल किया था मुझे ।
तत्सीदामि सदैव मोह जलधौ हे दिल गुजारो शुकर ॥

[२]

कलित ललित माला वा-जवाहिर जड़ा था ।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था ॥

कटि तट बिच मेला पीत सेला नबेला।
अलि बनि अलबेला यार मेरा अकेला॥

[३]

अलक कुटिल कारी देख दिलदार जुलफैं।
अलि कलित निहारैं आपने दिल की कुलफैं॥
सकल शशि-कला को रोशनी-हीन लेखौं।
अहह ! व्रजलला को किस तरह फेर देखौं॥

[४]

बहति मरुत मन्दम् मैं उठी राति जागी।
शशि कर कर लागे सेज को छोड़ भागी॥
अहह ! बिगत स्वामी मैं करूँ क्या अकेली।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[५]

छबि छकित छबीली छैलरा की छड़ी थी।
मणि जटित रसीली माधुरी मूँदरी थी॥
अमल कमल पेमा खूब से खूब लेखा।
कहि न सकत जैसा कान्ह का हस्त देखा॥

[६]

विगत घन निशीथे चाँद की रोशनाई।
सघन बन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई॥
सुत पति गतनिद्रा स्वामियाँ छोड़ भागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[७]

हर नयन हुतासन ज्वालया भस्मिभूत।
रति नयन जलौघै खाख बाकी बहाया॥
तदपि दहति चित्तं मामकं क्या करौंगी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[८]

हिम रितु रति धामा सेज लोटौं अकेली।
उठत विरहज्वाला क्यों सहौं री सहेली॥
इति वदति पठानी मद मदांगी विरागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।

(३)

सम्मेलनपत्रिका में प्रकाशित मदनाष्टक इस प्रकार है—

[१]

कलित ललित माला बा-जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बनि अलबेला यार मेरा अकेला॥

[२]

छवि छकित छबीली छैलरा की छड़ी थी।
मणिजटित रसीली माधुरी मूँदरी थी॥
अमल कमल ऐसा खूब ते खूब देखा।
कहि न सकत जैसा श्याम का हस्त देखा॥

[३]

अलक कुटिल कारीं देख दिलदार जुलफैं।
अलि कलित निहारैं आपने दिल की कुलफैं॥
सकल शशिकला को रोशनी-हीन पेखौं।
अहह ! ब्रजलला को किस तरह फेर देखौं॥

[४]

जरद बसनवाला गुल चमन देखता था।
झुक झुक मतवाला गावता रेखता था॥
श्रुतियुग चपला से कुंडले झूमते थे।
नयन कर तमासे मस्त है घूमते थे॥

[५]

तरल तरनि सी हैं तीर सी नोकदारें।
अमल कमल सी हैं दीर्घ हैं दिल बिदारें॥
मधुर मधुप हेरें मान मस्ती न राखें।
विलसित मन मेरे सुंदरी श्याम आखें॥

[६]

भुजँग जुग किधौं हैं काम कमनैत सोहैं।
नटवर तव मोहैं बाँकुरी मान भौंहें॥
सुन सखि मृदुबानी बेदुरुस्ती अकिल में।
सरल सरल सानी कै गई सार दिल में॥

[७]

पकरि परम प्यारे साँवरे को मिलाओ।
असल अमल प्याला क्यों न मुझको पिलाओ॥

[८]

सरद निसि निशीथे चाँद की रोशनाई।
सघन बन निकुंजे कान बंसी बजाई॥
रति-पति सुत निद्रा साइयाँ छोड़ भागी।
मदन सिरसि भूयो क्या बला आन लागी॥

उपरोक्त तीनों मदनाष्टकों पर विचार करने से विदित होता है कि—

(१) नं० १ का मदनाष्टक प्राचीन लिखा हुआ पाया गया है और वह भी अन्य प्राचीन आधार पर लिया प्रतीत होता है। नं० २ व ३ सुने सुनाए आधार पर नवीन प्रतिलिपि से लिए गए हैं।

(२) रहीम के जिस छंद के आधार पर मदनाष्टक रचा बतलाया जाता है उसकी और नं० १ मदनाष्टक की भाषा एक सी है अर्थात् दोनों की भाषा संस्कृत व खड़ी बोली मिश्रित है, अन्यों में दो एक छंदों को छोड़कर शेष की भाषा खड़ी बोली की हिंदी है और जिनकी भाषा मिश्रित है वे छंद नं० १ के मदनाष्टक से ही लिए गए हैं।

(३) पंचक, सप्तक और अष्टक आदि के बहुधा अंतिम पद एक साँ होते हैं और नं० १ मदनाष्टक में भी "मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी" यह पद आठों छंदों में एक समान है। अन्य मदनाष्टकों में नं० १ के छंदों को छोड़कर किसी छंद का अंतिम पद नहीं मिलता।

(४) नं० १ के मदनाष्टक के प्रत्येक छंद का अंतिम चरण 'मदन' शब्द से प्रारंभ होता है अतः यही मदनाष्टक कहा जा सकता है। अन्य दोनों मदनाष्टक नहीं माने जा सकते।

(५) नं० १ वाले मदनाष्टक के आठवें छंद के तीसरे चरण में "इति वदति पठानी" पद आया है अतः यही मदनाष्टक अब्दुल रहीम खानखाना का बनाया प्रतीत होता है।

नं० २ का मदनाष्टक नं० १ व ३ के मदनाष्टकों का मिश्रण है अतः नं० १ व ३ के मदनाष्टकों का विचार ही पर्याप्त होगा। नं० २ के मदनाष्टक में चार छंद तथा नं० ३ के मदनाष्टक में भी अंतिम छंद प्रथम से ही लिया हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि नं० १ मदनाष्टक प्राचीन है और नं० २ व ३ के मदनाष्टक नं० १ के लुप्त होने पर किसी अन्य कवि ने रचे हों अथवा रहीम के ही रचे हुए शृंगार के उक्त छंदों का मदनाष्टक के नाम से संग्रह कर लिया गया हो, या संभव है कि ज्यों ज्यों मूल छंद लुप्त होते गए हों त्यों त्यों उसमें अन्य छंद मिलते गए हों।

संस्कृत मिश्रित भाषा को लोग समझते भी कम होंगे अतः शुद्ध हिंदी के मदनाष्टक का प्रचार होना स्वाभाविक था जिसका भी धीरे धीरे लोप हो चला था। दोनों मदनाष्टकों में भाव-गांभीर्य और शब्द-लालित्य उत्तम हैं, परंतु नं० ३ के कुछ छंदों को छोड़कर शेष छंद नं० १ की तुलना नहीं कर सकते। नं० ३ में उपरोक्त नं० १ के बहुत से गुण न होने से वह मदनाष्टक नहीं माना जा सकता। आशा है अब नं० १ का मदनाष्टक अपने स्थान को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

(८) महाकवि भास और उसका नाटक-चक्र।

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

श्री जयदेव कवि ने अपने प्रसन्नराघव नामक नाटक में निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

"यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय॥"

अर्थात् जिसका "चोर" कवि केशकलाप है, "मयूर" कर्णभूषण है, "भास" हास्य है, कविकुलगुरु "कालिदास" विलास है, "हर्ष" हर्ष है और "बाण" हृदय में निवास करनेवाला पंचबाण (काम) है, ऐसी कविता-कामिनी, कहिए, किसको कुतूहलकारी नहीं है? इस श्लोक का अर्थ करते हुए तथा इसमें निर्दिष्ट कवियों का परिचय देते हुए श्रीगंगानाथ शर्मा ने अपनी भावबोधिनी टीका में लिखा है—"भासः—अज्ञात कृतिकोऽयं कवि, कालिदासेन, बाणेन, मम्मटेन च वर्णितः" अर्थात् भास एक ऐसा कवि है जिसके ग्रंथों का पता नहीं; हाँ कालिदास, बाण और मम्मट ने उसका वर्णन किया है। संस्कृत के प्राचीन कवियों की छानबीन करनेवाले हरिमोहन प्रामाणिक और संस्कृत नाटकों के खोजी सुप्रसिद्ध भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी भी पंडित गंगानाथ जी के समान भास के विषय में विशेष निरूपण नहीं कर सके। सच तो यह है कि कालिदास, बाण, मम्मट और जयदेव के अतिरिक्त अन्य कई एक प्राचीन विद्वानों के ग्रंथों के द्वारा इस देश के तथा विलायत के पंडितों को ईसवी सन् १६०८ तक इतना ही ज्ञात था कि प्राचीन काल में भास नाम का एक प्रसिद्ध नाटकाकार इस देश में हुआ था और उसके नाटकों में से एक नाटक का नाम "स्वप्नवासवदत्ता" था। इससे अधिक वे

कुछ नहीं जानते थे और इस नामावशेष कवि के ग्रंथों के दर्शन होने की भी उन्हें कोई आशा नहीं थी। ऐसे अति प्राचीन चिरप्रनष्ट ग्रंथों का प्राप्त हो जाना बड़े ही आनंद की बात है। संस्कृत के प्रेमी और पुरातत्व के विमर्शियों को तो यह अपूर्व तथा अमूल्य निधि का लाभ है। इस लेख द्वारा हम हिंदी-प्रेमियों को अपने अल्प सामर्थ्यानुसार यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि ये ग्रंथ कैसे मिले, क्या ये भास के ही हैं, भास कब हुआ था, और इन ग्रंथों में क्या लिखा हुआ है।

इन नाटकों के मिलने की कथा इस प्रकार प्रारंभ होती है कि सन् १९०९ ई० में महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ट्रावनकोर सरकार की ओर से संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह करने के लिये नियुक्त होकर पद्मनाभपुर के समीप मणलिक्कर मठ में पहुँचे और वहाँ पर उन्हें प्राचीन कैरली लिपि में लिखा हुआ तालपत्र का एक सम्पुट मिला जिसमें १०५ पन्ने थे और प्रत्येक पन्ने में १० पंक्तियाँ थीं और उनमें २० ग्रंथ लिखे हुए थे। यद्यपि पत्रों का लेख अनुमान ३०० वर्षों से भी अधिक पूर्व का लिखा हुआ प्रतीत होता था, परंतु पहले १२ पत्रों के किसी किसी भाग के अतिरिक्त वह बिगड़ा हुआ नहीं था और पढ़ने में आ सके, ऐसा था। परीक्षा करने पर उस सम्पुट में उन्हें नीचे लिखे नामवाले १० रूपक और एक अधूरा यों ११ रूपक मिले—

१ स्वप्ननाटकम्।	६ अविमारकम्।
२ प्रतिज्ञानाटिका।	७ बालचरितम्।
३ पञ्चरात्रम्।	८ मध्यमव्यायोगः।
४ चारुदत्तम्।	९ कर्णभारम्।
५ दूतघटोत्कचम्।	१० ऊरुभङ्गम्।

कुछ काल पश्चात् उन्हें उक्त ग्रंथों के सजातीय और दो ग्रंथ अभिषेक और प्रतिमानाटक कटितुरुत्ति के समीप निवास करनेवाले कैलासपुर के गोविंद पिषारोटि नाम के ज्योतिषी के यहाँ प्राप्त

हुए और यह भी पता लगा कि इन दो ग्रंथों की प्रतियाँ राजकीय ग्रंथशाला में भी विद्यमान हैं । इस प्रकार अश्रुतपूर्व १३ ग्रंथों की उपलब्धि हुई ।

इन ग्रंथों की गद्य-पद्य-रचना, अर्थ की गंभीरता तथा प्रकरण-विन्यास बड़ा ही रोचक था; परंतु उनमें ग्रंथकार का नाम लिखा हुआ न होने से यह पता नहीं चलता था कि उनका बनानेवाला कौन था । वर्तमान काल में जो नाटक ग्रंथ मिलते हैं, उनमें प्रथम नांदी श्लोक लिखा रहता है; तदनंतर "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" सूत्रधार का प्रवेश होता है और आगे कवि का और नाटक का नाम बतलाया जाता है । इसको प्रस्तावना कहते हैं । यह आजकल के इश्तहारों का प्राचीन रूप है । इन सब नाटकों में प्रारंभ ही में "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" ऐसा उपक्रमण करके मंगल श्लोक लिखा हुआ है और "प्रस्तावना" शब्द के स्थान में "स्थापना" का प्रयोग है । इसके अतिरिक्त कवि और काव्य का नामनिर्देश किसी में भी नहीं किया हुआ है । हाँ, सब नाटकों के अंत में "भरतवाक्य" देकर "अमुक नाटकमवसितम्" अर्थात् अमुक नाटक समाप्त हुआ, ऐसा अवश्य लिखा हुआ है । इन सब रूपकों के आदि और अंत भागों की समानता के अतिरिक्त अभ्यंतर भागों में भी कई एक वाक्य, पंक्तियाँ तथा श्लोक ज्यों के त्यों वे ही लिखे हुए होने से तथा प्रत्येक की रचना-शैली के पूर्ण सादृश्य से यह निर्विवाद प्रतीत होता था कि ये सब के सब एक ही पुरुष के बनाए हुए हैं । परन्तु वह बनानेवाला कौन है, इस प्रश्न का उत्तर इन रूपकों से सहसा नहीं मिलता था ।

कौतुकाक्रांतचित्त पंडित गणपतिजी इन नाटकों की अन्य प्रतियाँ प्राप्त करने के उद्योग में नितांत लगे हुए थे और उन्हें कई प्रतियाँ मिलीं भी; परंतु थोड़े ही दिनों के पश्चात् मैसूर से श्रीअनंताचार्यद्वारा दो रूपकों की प्रतियाँ प्राप्त हुईं जिनमें से एक रूपक के अंत में "स्वप्नवासवदत्ता समाप्ता" ऐसा लिखा हुआ था । बस, ताले

में बन्द रचयिता के नाम को प्रकट करने में इस वाक्य ने ठीक कुंजी का काम दिया और वह यों कि सूक्तिमुक्तावलि में राजशेखर के निम्नलिखित श्लोक से पाया जाता है—

"भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः" ॥

इसका आशय यह है कि भास की नाटकावलि की परीक्षा ली गई और स्वप्नवासवदत्ता को अग्नि में डाल दिया; परंतु अग्नि ने उसे नहीं जलाया। यह श्लोक तीन बातों को सिद्ध करता है। एक तो यह कि भास ने कई ग्रंथ रचे। दूसरी यह कि स्वप्नवासवदत्ता का बनानेवाला भास था। तीसरी यह कि भास की सब कृतियों में स्वप्नवासवदत्ता अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ था। इसके अतिरिक्त हर्षचरित में लिखे हुए बाण के इस निम्नलिखित श्लोक ने भी यह निरूपण करने में कि 'इन नाटकों का रचयिता भास है' अतुलित सहायता प्रदान की—

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥"

"अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है, वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का आरम्भ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में भी नांदी रंगमंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है; नाटक का आरंभ नांदी के पीछे सूत्रधार ही करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएँ (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएँ (Parts) हैं। मंदिरों पर पताकाएँ (ध्वजाएँ) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती हैं। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था"*।

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग १, पृ. ६५।

इन नाटकों के प्रारंभ करने का ढंग इस प्रकार है। उदाहरणार्थ स्वप्नवासवदत्ता में यों है—

नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः—

सूत्रधारः—उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्* ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग! पश्यामि।

नेपथ्ये

उस्सरह उस्सरह अय्या! उस्सरह।

सूत्रधारः—भवतु विज्ञातम्।

भृत्यैर्मगधराजस्य स्निग्धैः कन्यानुगामिभिः।
धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतोजनः॥

निष्क्रान्तः।

स्थापना।

इसका हिंदी भाषांतर यह हुआ—

नांदी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश।

सूत्रधार—उदयनवेन्दु समान वर्णता को जो धारत
वाऽऽसवदत्ताऽबला भई जिनकर वशपावत।
पद्माऽवतीर्ण पूर्ण भए पै सिद्धि दिलावत।
अरु वसन्तकमनीय विविध छवि को नित छावत॥

---

* आशय—उदय होते हुए चंद्रमा के समान वर्णवाली, मद्य के अतिपान से अलसाई हुई, लक्ष्मी के आविर्भाव से पूर्ण, वसंत के समान कमनीय बलरामजी की भुजाएँ तुम्हारी रक्षा करें। इस श्लोक में कवि ने मंगलाचरण के अतिरिक्त मुद्रालङ्कार विधि से नाटक के प्रधान पात्र उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती और वसंतक का निर्देश किया है।

ऐसे श्रीबलभद्र के, भुजयुग सब गुण आगरे।
सकल सभ्य समुदाय की, सब बिधि से रक्षा करें* ॥

ऐसा मान्यवर सज्जनों से निवेदन करूँ। अरे! मेरे निवेदन करने को प्रस्तुत होते ही यह क्या शब्द सा सुनाई पड़ता है? अच्छा तो देखता हूँ। (नेपथ्य में)

हटो! दूर हटो!! आर्य्यो दूर हटो!!!

सूत्रधार—अच्छा, अब जान लिया।

मगधनाथ के दास, सहृदय अरु कन्यानुचर।
करत निशंक निकास, तप बन पथ गत जनन को ॥

(जाता है)

इति स्थापना।

रेखांकित वाक्य इन १३ नाटकों में से ८ में अविकल रूप से मिलता है। इन नाटकों के समाप्त करने की शैली इस प्रकार है—

स्वप्नवासवदत्ता में।

भरत वाक्यम्।

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकान्तपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

निष्क्रान्ताः सर्वे।

षष्ठोऽङ्कः।

इति स्वप्ननाटकमवसितम्।

हिन्दी भाषांतर—

भरतवाक्य

हिमविंध्याचल जासु हैं, कर्णाभरण समान।
सागरांत इक छत्र महि, भोगहु सिंह समान ॥

सब चले जाते हैं।

* यह छन्दोबद्ध अनुवाद श्रीमान् पंडित शिवदत्तजी काव्यतीर्थ, कविरत्न ने कर देने की कृपा की है जिसके लिये उन्हें धन्यवाद है।

स्वप्नवासवदत्ता के अतिरिक्त बालचरित और दूतवाक्य में भी यही श्लोक "भरतवाक्य" में दिया हुआ है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण अविमारक और अभिषेक नाटक में इस श्लोक में थोड़ा सा परिवर्तन है।

भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

इस श्लोक की पिछली पंक्ति पञ्चरात्र के अंतिम श्लोक में ज्यों की त्यों लिखी हुई है। प्रसंगानुसार आगे चलकर कुछ और सादृश्य बतावेंगे। विस्तार-भय से अधिक वाक्यों, पंक्तियों और श्लोकों के अंश जो इन नाटकों में आपस में ज्यों के त्यों या अल्प परिवर्तन से मिलते हैं, उन्हें यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। यह जो अल्प सादृश्य बताया गया है, इसीसे यह अनुमान हो जाता है कि ये ग्रन्थ एक ही पुरुष के रचे हुए हैं और इनमें से एक "स्वप्नवासवदत्ता"* होने से कि जो राजशेखर के कथनानुसार भास का रचा हुआ है और बाण का बताया हुआ लक्षण इन सबमें घट

---

* पांडवों के वंश में उदयन नाम का एक सुप्रसिद्ध राजा हो चुका है। उसकी स्त्री का नाम वासवदत्ता था और वह भी असामान्य कीर्तिसंपन्न हुई। जैसे भोज और विक्रम की कथाएँ आजकल प्रचलित हैं, वैसे पूर्वकाल में इनके चरित्र की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध थीं। इनका वर्णन कथासरित्सागर, बृहत्कथा-मंजरी, रत्नावली, प्रियदर्शिका, उदयनचरित, वीणावासवदत्ता आदि ग्रंथों में और जैन-विद्वानों के प्रबन्धों में मिलता है। सुबंधु की "वासवदत्ता" कल्पित है और उसका इस वासवदत्ता से कुछ भी संबंध नहीं है। भास ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता में इन्हीं उदयन और वासवदत्ता का वर्णन किया है। ध्वन्यालोक-लोचन में एक श्लोक "स्वप्नवासवदत्ता" ग्रंथ का बताया है; परंतु वह संप्रति प्राप्त हुए स्वप्नवासवदत्ता के किसी भी आदर्श में नहीं मिलता। इससे अनुमान होता है कि भास के अतिरिक्त और किसी ने भी इस नाम का ग्रंथ लिखा था। वह श्लोक नीचे लिखा हुआ है—

जाने से इन सब ग्रंथों का रचनेवाला महाकवि भास ही है, यह निर्णय किया गया है।

इस विषय में एक बात का और विवेचन करना आवश्यक है और वह यह कि जब संग्रह ग्रंथों में भास के नाम से लिखे हुए श्लोक इन नाटकों में से किसी में भी नहीं मिलते, ऐसी अवस्था में यह कैसे सहसा स्वीकार किया जा सकता है कि ये ग्रंथ भास के ही हैं? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो इन संग्रह ग्रंथों के हवाले कई कारणों से सर्वांश में विश्वसनीय नहीं ठहराए जा सकते; दूसरे यह भी नहीं कहा जा सकता कि भास के इतने ही ग्रंथ हैं। अब हम क्रमशः उन श्लोकों को लिखते हैं जो भास के बताए गए हैं और उनकी यथाशक्ति जाँच भी करते हैं। प्रथम शार्ङ्गधरपद्धति के श्लोकों को उद्धृत करते हैं--

---

सञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपतहनेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा॥

इस विषय में श्रीसत्यव्रत सामश्रमी की निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—अपि दृश्यते चात्र महाभाष्ये (पा० ४. २. ६०) आख्यायिकात्वेन वासवदत्ताया ग्रहणम्। आख्यायिका—"वासवदत्तिकः" इति सुबंधुकृतैवाख्यायिका सेति प्रसिद्धा स च सुबन्धु कविः रामायणस्य, महाभारतस्य, तत्परिशिष्टरूपस्य हरिवंशस्य विक्रमादित्य स च परभव एव। अस्मन्मते तु कालान्नष्टाचरताङ्कते तन्महाभाष्य-पुस्तके सुबन्धु परज एव कश्चित् तत्र "वासवदत्तिकः" प्रभृत्यभिनिवेश्य तस्य नष्टा-चरत्वमुद्धारेति अतएव प्रवादोऽपि "यत्र लालायितः फणी"—निरुक्तालोचनम्। उदय और वासवदत्ता सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति होने से तथा भास जैसे प्राचीन कवि के उनके विषय में ग्रंथ मिल जाने से हमको तो यही जँचता है कि पतंजलि मुनि की उल्लेख की हुई वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी आख्या-यिकाओं में से कोई भी कपोलकल्पित नहीं। ये सब ही ग्रंथ बने, परंतु कालांतर में नष्ट हो गए।

(१) अस्या ललाटे रचितासखीभिर्विभाव्यते चंदनपत्रलेखा ।
आपाण्डुरक्षामकपोलभित्तावनंगबाणव्रणपट्टिकेव ॥

श्लोक संख्या ३२६२ ।

यह श्लोक सुभाषितावलि में भी लिखा है (सं० १४८७) परंतु उसमें रचयिता का नाम नहीं दिया है ।

(२) दयिता बाहुपाशस्य कुतोयमपरो विधिः ।
जीवयत्यर्पितः कण्ठे मारयत्यपवर्जितः ॥ सं० ३३३० ।

सुभाषितावलि में इसी श्लोक को (सं० १५२६) कलश कवि का बताया है ।

(३) कपोले मार्जारी पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥ सं० ३६४० ।

यह सुभाषितावलि (सं० १६६४) में भी भास का ही बताया है ।

(४) तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृंगं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः ॥ सं० ३६०७ ।

यह सुभाषितावलि (सं० १८२१) में भी भास का ही बताया है और इसकी रचना भास की शैली से बहुत कुछ मिलती है । इसमें कवि ने शरद् का वर्णन किया है ।

निम्नलिखित श्लोक वल्लभदेव की सुभाषितावलि में भास के नाम से लिखे हैं—

(१) बाला च सा विदितपञ्चशरप्रपञ्चा
तन्वी च सा स्तनभरोपचिताङ्गयष्टिः ।
लज्जां समुद्वहति सा सुरतावसाने
हा कापि सा किमिव किं कथयामि तस्याः ॥ सं० १२८६ ।

(२) दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते ।
कालं वेत्ति कथाः करोति निपुणा मत्संस्तवे रज्यति
भार्या मंत्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता ॥

सं० १३५३ ।

इस श्लोक में निम्नलिखित श्लोक का सादृश्य ज्ञात होता है--

कार्य्येषु मंत्री करणेषु दासी
धर्म्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री ।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा
रंगे सखी लक्ष्मण ! सा प्रिया मे ॥

आगे अविमारक के सार में दिया हुआ 'गोष्ठीषुहास्य' से प्रारंभ होनेवाला श्लोक भी इसी शैली का है ।

(३) कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं सुखप्रतिघातकं
लिखति दिवसं यातं यातं यमः किल मानिनि ।
वयसि तरुणे नैतद्युक्तं चले च समागमे
भवति कलहो यावत्तावद्वरं सुभगे रतम् ॥ सं० १६१६ ।

(४) कृतककृतकैर्मायासख्यैस्त्वयास्म्यतिवञ्चिता
निभृतनिभृतैः कार्यालापैर्मयाप्युपलक्षितम् ।
भवतु विदितं नेष्टाहं ते वृथा परिखिद्यसे
अहमसहना त्वं निस्नेहः समेन समं गतम् ॥ सं० १६२८ ।

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० ३५६०) परंतु वहाँ "कस्यापि" (किसी का है) ऐसा लिखा हुआ है ।

(५) और (६) श्लोकसंख्या १८२१ और १६६४ ये श्लोक वे ही हैं जो शार्ङ्गधरपद्धति में ऊपर ४ और ३ की संख्या में लिखे जा चुके हैं ।

इसी प्रकार अन्य सूक्तिसंग्रहों में निम्नलिखित श्लोक भास के नाम से बताए जाते हैं—

(१) दुग्धं मनोभवतरौ बाला कुचकुम्भसंभृतैरमृतैः ।
त्रिवलीकृतालवाला जाता रोमावली वल्ली ॥

(२) पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकटश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान्स पिनाकपाणिः ॥

इस (दूसरे) श्लोक को यशस्तिलक के रचयिता सोमदेव ने भास का बताया है; परंतु वास्तव में यह महेन्द्रविक्रम के रचे हुए मत्त-विलास प्रहसन का है।

(३) विरहवनिता वक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशापति-
र्गलितविभवस्याज्ञेवाद्यद्युतिर्मसृणा रवेः ।
अभिनववधूरोषस्वादुः करीष्यतनूनपा-
दसरलजनाश्लेष क्रूरस्तुषारसमीरणः ॥

(४) यदपि विबुधैः सिन्धोरन्तः कथंचिदुपार्जितं
तदपि सकलं चारुस्त्रीणां मुखेषु विलोक्यते ।
सुरसुमनसः श्वासामोदे शशी च कपोलयो-
रमृतमधरे तिर्यग्भूते विषं च विलोचने ॥

यह श्लोक कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में (सं० १६३) लक्ष्मीधर का, सूक्तिमुक्तावलि में भोजदेव का और सदुक्तिकर्णामृत में भास का बताया गया है।

(५) प्रत्यासन्नविवाहमंगलविधौ देवार्चनव्यग्रया
दृष्ट्वाग्रे परिणेतुरेव लिखितां गंगाधरस्याकृतिम् ।
उन्मादस्मितरोषलज्जितधिया गौर्या कथंचिच्चिरा-
द्सखीवचनात्प्रिये विनिहितः पुष्पाञ्जलिः पातु वः ॥

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० १०२) परंतु उसमें रचयिता का नाम नहीं दिया है। यह किसी नाटक का नांदी श्लोक ज्ञात होता है।

शार्ङ्गधरपद्धति के राजनीति-प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक दिया हुआ है। यह भास के अविमारक के प्रथम अंक का है। शार्ङ्गधर ने राजनीति प्रकरण में १३९ श्लोक लिखे हैं; परंतु प्रत्येक श्लोक के पीछे कवि का नाम न लिखकर अन्त में "एते राजनीतिभ्यः स्मृतिभ्यो भारताद्रामायणाच्च" ऐसा लिख दिया है:—

धर्मः प्रागेव चिन्त्यः सचिवगतिमती **सर्वदालोकनीये**
प्रच्छाद्यो रागरोषौ मृदुकठिनतरौ **योजनीयौ च काले।**
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं वरचरनयनैर्मण्डलं **वीक्षणीय-**
मात्मा यत्नेन रक्ष्यो रणशिरसि पुनः सोपि **नापेक्षणीयः॥**

अविमारक में मोटे अक्षरों में दिए हुए पदों के स्थान में निम्नलिखित पाठ है जिससे यह सिद्ध होता है कि पद्धतिकार ने यह श्लोक भास के ग्रंथ को देखकर नहीं लिखा—मतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुद्ध्या। परुष गुणौकालयोगेन कार्य्यौ। पर। प्रेक्षितव्यं। रक्ष्यो यत्नादिहात्मा नावेक्षितव्यः।

इस श्लोक में राजा के भार का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। कवि लिखता है कि सब से पहले तो राजा को धर्म का चिंतन करना चाहिए; तदनंतर अपनी बुद्धि से मंत्री की प्रगति को देखते रहना चाहिए; राग और द्वेष को छिपाकर समयानुसार नर्मी और गर्मी का प्रयोग करना चाहिए; प्रजा की दशा जानते रहना चाहिए; निपुण दूतरूपी नयनों से (मंडल) राज के अधिकारियों को निरखते रहना चाहिए; यत्नपूर्वक अपने आत्मा की रक्षा करनी चाहिए, परंतु युद्ध उपस्थित होने पर उसकी भी कुछ परवाह नहीं करनी चाहिए।

इसी प्रकार से निम्नलिखित श्लोक जो कि भास के चारुदत्त और बालचरित के प्रथम अंक में मिलता है, शूद्रक के मृच्छकटिक के अतिरिक्त सुभाषितावलि में (सं० १८९०) विक्रमादित्य का और शार्ङ्गधरपद्धति में (सं० ३६०३) विक्रमादित्य और मेंठ का बताया हुआ है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

कवि अंधकार का वर्णन करता है कि यह मानो शरीर को ढाँपे डाल रहा है, आकाश से मानों काजल बरस रहा है, असत् (दुष्ट) पुरुष की सेवा के समान दृष्टि भी निष्फल हो गई है।

यह श्लोक चिरकाल से लोकप्रसिद्ध है और काव्यप्रकाशादि अनेक ग्रंथों में उद्धृत किया हुआ मिलता है। ऐसा देखा गया है कि जो मनुष्य जिन विचारों का स्वतंत्र रूप से उत्पादक होता है, वह उनको बारंबार लिखता है। भास का इस श्लोक को दो बार लिखना भी उसीका रचयिता होना बताता है। इसी प्रकार इस लेख में आगे लिखा हुआ 'वक्षः प्रसारय' से प्रारंभ होनेवाला श्लोक प्रतिमा नाटक में दो बार आया है; पहली बार चतुर्थ अंक में और दूसरी बार सप्तम अंक में।

यह अनुमान करना कि भास ने इन १३ नाटकों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की भी रचना की, निराधार नहीं है।

रामायण का आश्रय लेकर संकलित किए हुए भास के दो नाटक मिले हैं। एक अभिषेक और दूसरा प्रतिमा। पहले में किष्किंधा, सुंदर और युद्धकांड की और दूसरे में अयोध्या और अरण्यकांड की आश्रित कथावस्तु है। यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि पूर्व रामचरित को नाटकरूप में ग्रथित करने के इच्छुक इस कवि ने बालकांड के आश्रय पर भी अवश्य कोई नाटक रचा होगा। इस अनुमान का आधार एक और भी है; और वह यह कि साहित्य-दर्पण के छठे परिच्छेद की ८५ वीं कारिका के विवरण में निम्नलिखित श्लोक "बालचरित" ग्रंथ से उद्धृत किया हुआ लिखा है—

उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।
ममहर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥

आशय—हे प्यारे ! एक ओर तुम्हारे उत्साह को अतिशयता

और दूसरी ओर तुम्हारे निरे बचपन को निहार मेरा मन एक दम हर्ष और विषाद से आक्रांत हो जाता है।

यह निःसंदेह रामबालचरित का श्लोक है। इसी लिये व्याख्याता ने "दाशरथिं प्रति भार्गवस्योक्तिरियम्" यह राम के प्रति परशुराम की उक्ति है, ऐसा लिखा है। अभी जो भास का बालचरित मिला है, वह कृष्ण का बालचरित है; अतः उसमें इस श्लोक की अविद्यमानता युक्त ही है। संभव है कि यह भास के बालकांड संबंधी बालचरित का श्लोक हो।

ये जो नाटक मिले हैं, उनमें से दो अपूर्ण भी हैं। चारुदत्त में न तो आदि में सूत्रधार का मंगलाचरण का श्लोक लिखा है और न अंत में भरतवाक्य। इस नाटक की जो दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें से एक के अंत में "अवसितं चारुदत्तम्" ऐसा लिखा हुआ है।

दूसरा "कर्णभार" नाटक एक ही अंक का है। कर्णभार संज्ञा से यह प्रतीत होता है कि इस नाटक में कर्ण के सेनापति-पदवी के निर्वाह का वर्णन होना चाहिए, परंतु वह नहीं है। बहुत संभव है कि इस नाटक के आगे के अंक लोप हों।

महाभारत के विषय को लेकर लिखे हुए भास के निम्नलिखित रूपक प्राप्त हुए हैं। मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र, दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच और ऊरुभङ्ग। इनकी कथावस्तु का आधार क्रमशः वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्वांतर्गत गदापर्व कहा जा सकता है। संभव है कि महाभारत के शेष आदिपर्व, सभापर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व आदि पर्वों पर भी इस महाकवि ने नाटकों की रचना की हो।

वस्तुतः जैसे वाल्मीकि और व्यास श्रव्यकाव्य के जन्मदाता हुए, वैसे ही भास दृश्यकाव्य का जन्मदाता हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। परंतु इसने श्रव्यकाव्य की भी रचना की, इस विषय में एक प्रमाण मिलता है; और वह यह कि पृथ्वीराजविजय महाकाव्य में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

सत्काव्यसंहारविधौ खलानां दीप्तानि वह्नेरपि मानसानि ।
भासस्य काव्यं खलु विष्णुधर्मान्सोऽप्याननात् पारतवन्मुमोच ॥
(सर्ग १, श्लोक ७)

इस पर टीका करते हुए जोनराज ने लिखा है कि अग्नि ने भास मुनि के विष्णुधर्मा नाम के काव्य को नहीं जलाया। इस विषय में नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ. १००-१०६ टिप्पणी में स्वर्गीय पंडित श्रीचंद्रधरजी गुलेरी का लेख द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि जोनराज के समय तक अर्थात् सन् १४१२ तक एक साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्य-विषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिये भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ अग्नि में डाला गया, परंतु अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझकर नहीं जलाया।

इन नाटकों के विषय में इतना परिचय प्राप्त करने के अनंतर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कविताकामिनी के 'हास' की उपमा धारण करनेवाले भास ने इस भारतभूमि को कब समलंकृत किया ? इस विषय का ठीक निर्णय करना सुकर नहीं। जब कभी हम भूतकाल के संबंध में यह प्रश्न करते हैं कि भारत में अमुक बात कब हुई, तो प्रायः यही प्रतिध्वनि आती है "कब हुई" ? अंत में हताश हो हमको अंधपंगु-न्याय का अवलंब लेना पड़ता है। प्रस्तुत विषय में भी एक मात्र उपाय यही है कि हम उन पुरुषों का पता लगावें जिन्होंने अपने लेखों में भास का निर्देश किया है। इनमें से जयदेव का ठीक समय अब तक ज्ञात नहीं हुआ; परंतु राजशेखर और बाण का, जो क्रमशः नवीं और सातवीं शताब्दि में हुए, नामोल्लेख इस लेख में कर चुके हैं। अमरकोश-टीका-सर्वस्व में सर्वानंद ने, जो बारहवीं शताब्दि में हुआ और भरतनाट्य-वेदवृत्ति में आचार्य अभिनवपाद गुप्त ने, जो १० वीं शताब्दि में विद्यमान थे। "स्वप्नवासवदत्ता" ग्रंथ का नाम लिया है। यों और भी अनेक

पिछले कवि* हैं जो भास को कृति अथवा कीर्ति को हमारे कर्णों तक पहुँचाते हैं। परंतु स्वयं कविकुलगुरु कालिदास अपनी लेखिनी से "मालविकाग्निमित्र" में लिखते हैं कि—प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ? इस लेख से भास के कालिदास के पूर्व होने और उस समय उसके सुप्रतिष्ठित होने के विषय में अन्य प्रमाण अनपेक्षित हैं।

इतना ही नहीं किंतु काव्यालंकार में भामह ने भी, जो प्राचीन काल में हुआ, न्याय-विरोध का निरूपण करते हुए एक प्रसंग उठाया है जो प्रतिज्ञायौगन्धरायण ही से लिया सिद्ध होता है। शूद्रक ने, जिसका कोई कोई विद्वान् कालिदास से पूर्व होना मानते हैं, भास के नाटक चारुदत्त को बढ़ाकर ही मृच्छकटिक नाटक निर्माण किया। कालिदास ने भी शकुंतला में भास के भाव और

---

* शार्ङ्गधरपद्धति में "विशिष्टकविप्रशंसा" प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक दिया हुआ है—

भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कवि-
र्मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्चयः।
दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ॥ सं० १८८।

मेण्ठ और कांत की जगह माघ और काण्ड भी पाठ मिलता है। गउडवाहो, (गौडवध) पृष्ठ २२१, श्लोक ८०० में वाक्पतिराज ने भी भास का नाम लिया है—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे। सोबन्धवे अबन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो। टीका में—भासः ज्वलनमित्रः कुन्तीदेवः इति कवयः। रघुकारः कालिदासः। सौबन्धवो बन्धः सुबन्धुकृतिर्वासवदत्ता नाम प्रबन्धः हरिश्चन्द्रः हरिचन्द्रेणकृतः प्रबन्धः। भास की "ज्वलनमित्र" पदवी यों पड़ी बतलाते हैं कि इसने पञ्चरात्र में अग्नि लग जाने का दृश्य रक्खा है और अपने नाटकों में अनेक नामों से अग्नि शब्द का प्रयोग किया है।

वाक्य-पंक्तियों को लिया। ये बातें पंडित गणपति जी ने इस नाटक-चक्र की भूमिका में, जो स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिमानाटक के साथ बड़े विस्तार के साथ अँग्रेजी और संस्कृत में छपी है, लिखी हैं, जो उन्हीं लोगों को आनंददायक हो सकती हैं, जो संस्कृत में उन ग्रंथों को पढ़ चुके हैं।

भिन्न भिन्न कवियों के काव्यों में से अवतरण उद्धृत करते हुए अब तक यह दिखाया गया है कि भास का समय कालिदास से भी पूर्व अर्थात् अब से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक होना सिद्ध होता है। अब दो अवतरण और लिखकर इस विषय को समाप्त करेंगे। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥ (प्रतिज्ञा, १-१८)

भावार्थ—मथन करने से मनुष्य काष्ठ से अग्नि उत्पन्न कर लेता है, खोदे जाते हुए भूमि भी जल देती है। उत्साही पुरुषों के लिये इस संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। यदि यह कहो कि संसार में हम अनेक बार उत्साहपूर्वक किए जानेवाले कामों को भी असिद्ध हुए देखते हैं तो इसका उत्तर यह है कि "मार्गारब्धासर्वयत्नाः फलन्ति" मार्ग (ढंग) से प्रारंभ किए हुए सब यत्न फलते हैं। (क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः योगदर्शन, ३, १५)

यह श्लोक रूपांतर से अश्वघोष के बुद्धचरित में मिलता है:—

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं
भूमिं खनन् विन्दति चापितोयम्।
निर्बंधिनः किञ्च न नास्य साध्यं
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥ २३। ६०॥

महामहोपाध्याय पंडित गणपति जी का यह कहना है कि अश्वघोष ने, जो ईसा के पूर्व पहली शताब्दी (ई० स० की पहली

शताब्दी) में हुआ माना जाता है, भास के इस श्लोक को बदलकर बुद्धचरित में लिखा है।

यहाँ पर हम यह बात लिखना आवश्यक समझते हैं कि अश्वघोष की काव्य-रचना भी बड़ी विलक्षण है। उत्साह के संचार करनेवाले विचारों के लिखने में वह बहुत ही सिद्धहस्त है। अश्वघोष का एक काव्य सौंदरानंद* है। उसमें से हम कुछ श्लोक देते हैं जिनके

---

* नन्द बुद्ध का एक भाई था और अपनी सुन्दरी नाम की स्त्री में अत्यन्त आसक्त था। बुद्ध योगादि साधन सीख कर धर्मप्रचार करते हुए जब कपिलवस्तु में आए तो उनसे सिवा विलासीनन्द के वहाँ के सब लोग तुरंत मिलने गए। कुछ दिन बाद बुद्ध स्वयं ही नंद के द्वार पर गए, आवाज लगाई, परंतु किसी ने सुनाई नहीं की। उस समय सुंदरी अपने मुँह पर रंग से मूँछें बना रही थी और नंद उसके लिये हाथ में दर्पण लिये खड़े थे। एक बुढ़िया ने बुद्ध के द्वार से चले जाने का समाचार सुनाया जिस पर वह लज्जित हो गया। उसने उनसे मिलने के लिये जाने की अपनी प्रियतमा से सविनय अनुज्ञा चाही परंतु उसने बड़ी कठिनता से यह आज्ञा दी कि:—

गच्छार्य्यपुत्रेहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः ॥४।३४

सचेत् भवेस्त्वम् खलु दीर्घसूत्रो दण्डं महान्तम् त्वयि पातयेयम् ॥४।३५

आशय—अच्छा ! हो आओ ! परंतु मेरे रंग सूखने से पहले वापस आ जाना, समझ लेना कहीं देरी लगा दी तो कड़ा दंड दूँगी।

वह वहाँ गया तो बुद्ध ने युक्तिवाद द्वारा उसे चेला बना लिया परंतु उसका मन वैराग्य में नहीं लगता था और वह वहाँ से भागने का यत्न कर रहा था। तब एक दिन बुद्ध उसे हिमालय का दृश्य दिखाते स्वर्ग में ले गए। वहाँ पर अप्सराओं को देख वह चकित हो गया और कहने लगा कि मुझे तो इनमें से एक दिला दो। उस अवसर पर बुद्ध ने उपरोक्त श्लोक कहे जिनका आशय है कि हाँ तुमको यह मिल जायगी पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ ही सफलता का मूल है। बिना पुरुषार्थ कुछ भी सिद्ध नहीं होता। पुरुषार्थ से संसार में सब संपत्तियाँ मिला करती हैं। पुरुषार्थहीनता क्षीणता है। देखो यदि मनुष्य घर को त्याग मुक्ति में

देखने से यह सहसा प्रतीत नहीं होगा कि किसने किसकी नकल की:—

वीर्य्यं परं कार्य्यकृतौ हि मूलं, वीर्य्याद्दते काचन नास्ति सिद्धिः ।
उदेति वीर्य्यादिह सर्व सम्पन्निर्वीर्य्यताचेत्सकलश्च पाप्मा ॥१६।६५॥

नयं श्रुत्वाशक्तो यदयमभिवृद्धिं न लभते
परं धर्म्मं ज्ञात्वा यदुपरि निवासं न लभते ।
गृहं त्यक्त्वा मुक्तौ यदयमुपशान्तिं न लभते
निमित्तं कौसीद्यं भवति पुरुषस्यान्तर रिपुः ॥ १६ । ६६ ॥

अनिक्षिप्तोत्साहो यदि खनति गां वारि लभते
प्रसक्तं व्यामथ्नन् ज्वलनमरणिभ्यां जनयति ।
प्रयुक्ता योगे तु ध्रुवमुपलभन्ते श्रमफलं
द्रुतं नित्यं यान्त्यो गिरिमपि हि भिन्दन्ति सरितः ॥१६।६७॥

कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नाति सस्यश्रियं
यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति ।
शत्रूणामवधूय वीर्य्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रः श्रियं
तद्वीर्य्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्य्यं हि सर्वर्द्धये ॥ १६।६८ ॥

अश्वघोष के अतिरिक्त राज्यतन्त्राचार्य कौटिल्य ने, जो ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि में हुए, अपने अर्थ शास्त्र में दो श्लोक लिखे हैं—

यान्यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति ।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥

शांति नहीं प्राप्त करता, परम धर्म को जानकर भी स्वर्ग प्राप्त नहीं करता तो इसमें उसका कारण उसकी न्यूनता ही है। वरना लगातार उत्साह से खोदे जायँ त मनुष्य पृथ्वी से जल निकाल लेता है, अरणी को मथन करने से आग निकाल लेता है। अध्यवसायी को श्रम का फल मिलता ही है। नित्य वेग से बहती हुई नदियाँ पहाड़ को भी तोड़ डालती हैं। मनुष्य खेत जोत नाना प्रकार के श्रम से उसका परिपालन कर अंत के वैभव को भोगता है। यत्नपूर्वक सागर के जल में गोता लगा रत्नों की विभूति से विहार करता है। शत्रुओं को बाणों से पराजित कर राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है। इसलिये तुम भी शांति के लिये नियमपूर्वक पुरुषार्थ करो। सब सम्पत्ति सब सिद्धि का मूल पुरुषार्थ ही है।

आशय—युद्ध में प्राण त्याग करते हुए शूरवीर क्षण भर में उन स्थानों से भी, जो स्वर्ग की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण यज्ञ और तप करके प्राप्त करते हैं, अधिक उत्तम स्थानों को पा लेते हैं।

नवं शरावं सलिलस्य पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्यमाभून्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृतेन युध्येत्॥

आशय—जल से पूर्ण सुसंस्कृत कुशपरिवेष्टित नया शराव (सरवा-पात्र विशेष) उस पुरुष को मत प्राप्त हो कि जो अपने स्वामी का नमक खा के न लड़े। ऐसा पुरुष अंत में नरक को प्राप्त होता है।

कौटिल्य ने ये दोनों श्लोक सैन्य-उत्साहन प्रकरण में 'अपीह श्लोकौ भवतः'—कहकर लिखे हैं। उसने अपने रचे हुए श्लोक लिखते हुए ऐसा कभी नहीं लिखा। दूसरे 'यान्', 'तान्' शब्द, जो प्रथम श्लोक में आए हैं, पूर्व उपक्रमण को बताते हैं जो अर्थ-शास्त्र में नहीं है। अतः यह प्रतीत होता है कि ये दोनों श्लोक ग्रंथांतर से लिए गए हैं। इनमें से दूसरा श्लोक प्रतिज्ञायौगन्धरायण के चौथे अंक में मिलता है और वहाँ ऐसा नहीं प्रतीत होता कि वह किसी ग्रंथ-विशेष से उद्धृत किया गया हो। इसलिये यही अनुमान होता है कि यह कौटिल्य ने भास मुनि के ग्रंथ से लिया हो। यों भास का ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के ग्रंथ में अवतरण मिलने से यह सिद्ध है कि वह उस काल के पूर्व हुआ हो। इस विषय में एक और भी प्रमाण है; और वह यह कि प्रतिमा नाटक में कवि ने रावण के मुख से कहलाया है—"भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।" अर्थात् मैं काश्यपगोत्री हूँ, साङ्गोपाङ्ग वेद, मनु का धर्मशास्त्र, महेश्वर का योगशास्त्र, बृहस्पति का अर्थशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र और प्राचेतस का श्राद्धकल्प पढ़ा हुआ हूँ। इस समय में सबसे पुराना योगशास्त्र पतञ्जलि का उपलब्ध है और न्यायशास्त्र गौतम का है। महेश्वर, मेधातिथि और प्राचेतस के ग्रंथों का कुछ भी पता नहीं। अर्थशास्त्र

एक कौटिल्य का ही पूर्ण रूप से प्राप्त है। उसमें भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदंत, वातव्याधि, बाहुदंतीपुत्र और बृहस्पति के नाम मिलते हैं। भास के नाम-निर्देश से यह स्पष्ट है कि जिनको आज हम अति प्राचीन कह रहे हैं, वे उसके समय में थे ही नहीं; और यदि कदाचित् कोई था भी तो उसके लिये आधुनिक था।

इन नाटकों में आर्ष प्रयोग मिलने के आधार पर महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ने अनुमान किया है कि कदाचित् भास पाणिनि मुनि के, जो ईसा से छः सात सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व हुए माने जाते हैं, पूर्व हुए हों।

यहाँ तक भास को कितने पीछे तक ढकेल सकते हैं, इस विषय का वर्णन किया गया। अब इसके विपरीत जो वाद उपस्थित किए गए हैं, उनका वर्णन करते हैं। ऐसे वादियों में एक बारनेट साहब (Barnett) हैं जिनका मत है कि ये नाटक सातवीं शताब्दि में लिखे गए और इनका लिखनेवाला अनिश्चित है। आपके आक्षेप की आधारशिला इन नाटकों के भरतवाक्य में आया हुआ "राजसिंह" शब्द है। यह नाम इन १३ नाटकों में से ७ में आया है। अतः वे इसको सन् ६७५ ई० में विद्यमान राजसिंह से अन्य व्यक्ति नहीं मानते। परंतु यह मत अपरिहार्य नहीं है। बात तो यह है कि यह "सिंह" शब्द व्याघ्र, पुङ्गव, शार्दूल, वृषभ की नाईं 'उत्तम' या श्रेष्ठ का वाचक है। राजाओं में श्रेष्ठ यही राजसिंह से तात्पर्य है, न कि राजसिंह नाम के व्यक्ति विशेष से। यदि ग्रंथकार को राजसिंह नाम के राजा की ही प्रशंसा करनी अभीष्ट होती तो वह शेष छः नाटकों में राजा और नरपति मात्र शब्द लिखकर कभी संतुष्ट नहीं रहता। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि भास ने किसी राजा का नाम नहीं लिखा, किन्तु ऐसे उत्तम पद का प्रयोग किया जो सब काल में और सब देशों में निर्दोष कहा जा सके। उक्त महाशय का अपर पक्ष यह है कि इनका रचयिता कालिदास के पूर्व होनेवाला भास नहीं है: और इस तर्क में वे यह हेतु अग्रसर करते हैं कि इन

नाटकों का प्रारंभ क्रम सातवीं शताब्दी में रचे हुए "मत्तविलास" से साम्य रखता है। परंतु इसका भी निराकरण हो जाता है। नवीं शताब्दी में रची हुई राजशेखर की कर्पूर-मंजरी और उससे भी पीछे बने हुए पार्वतीपरिणय का भी आरंभ क्रम इनसे मिलता-जुलता है। इसमें तो आंतरिक रहस्य इतना ही है कि पूर्वकाल में सूत्रधार, स्थापक और पारिपार्श्वक ये तीन पुरुष रंगभूमि में अभिनय के प्रबंध में नियुक्त रहते थे, जिनमें से पहला नान्दी-गान करता था, दूसरा देवस्तुति कर अभिनय के सज्जीकरण की सूचना देता था और तीसरा जो स्थापक का सहछंदानुवर्त्ती होता था, काव्यगुण समृद्धि को बताता था। इस पूर्व-प्रचलित रीति के अपेक्षातिरिक्त भाग को त्याग देने का संशोधन करनेवाला भास हुआ और इसी विशेषता का वर्णन बाण ने किया है। फिर हुआ यह कि जहाँ पर भास ने पहली स्तुति अर्थात् सूत्रधार की नान्दी को उड़ा दूसरी स्थापक की स्तुति रक्खी, वहाँ कालिदास ने सूत्रधार की स्तुति की रक्षा कर स्थापक की स्तुति का बहिष्कार किया और शनैः शनैः स्थापक तो अभिनय से उड़ ही गया। महेन्द्रविक्रम ने प्राचीन शैली का अनुकरण करना चाहा, परंतु ऐसा करते हुए भी कवि और काव्य के नाम-निर्देश करने की जो प्रथा चल पड़ी थी, उसके अधीन ही उसको रहना पड़ा। अन्य नाटककारों ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया है; परंतु भास के नाटकों में इन नियमों की उच्छृंखलता की हुई प्रतीत होती है। इसका एक मात्र कारण भास का इस शास्त्र के रचनाकाल के पूर्ववर्त्ती होना है।

दूसरे महाशय लेसनी (Lesney) का मत है कि ये नाटक कालिदास के नाटकों से तो पूर्व रचे हुए हैं, परंतु अश्वघोष के काल से पीछे के हैं। यह सिद्धांत भी प्राकृत भाषा की परीक्षा से स्थिर नहीं होता और इसका निराकरण श्रीयुत् ए. बनर्जी शास्त्री, बी. ए., ने अपने लेख में, जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जुलाई सन् १९२१ ई० के जर्नल में छपा है, भली भाँति कर दिया है।

अब तक जितने दृश्यकाव्य हस्तगत हुए हैं, उनमें सबसे पुराने महाकवि भास के नाटक हैं। परंतु प्राचीनता के अतिरिक्त इनमें और भी अनेक विशेषताएँ हैं जिनका यत्किंचित् वर्णन करना आवश्यक है। ये सब (Stage play) रंगशाला में खेले जानेवाले रूपक हैं। इनमें से एक दो को छोड़कर सब ऐसे हैं जिनको सब अवस्था के तथा सब वर्ण और सब आश्रम के स्त्री पुरुष निःसंकोच पढ़ सकते हैं। जो दो एक शृंगार-रस से युक्त हैं, उनमें भी शृंगार की ऐसी मात्रा नहीं है जो आक्षेप के योग्य हो। इन नाटकों का अध्ययन पाठकों के हृदय में स्वावलंब तथा कार्य-क्षमता का संचार करते हुए, शिष्टाचार सिखाते हुए, पूर्व इतिहास की झलक और अपनी जाति और देश के गौरव को स्थापित किए बिना नहीं रहता। इन रूपकों की रचना में कृत्रिम लालित्य कहीं नहीं दिखाई देता, वर्णन सर्वत्र स्वाभाविक है, गद्य-रचना का कौशल पद्य-रचना से भी अधिक गौरवास्पद है। नाटक-वस्तु का संविधान सर्वत्र यथाक्रम है और स्थान स्थान पर ऐसे चित्ताकर्षक परिहास-शील वाक्य-खंड जुड़े हैं जिनके हृदयंगम होने पर हर कोई आतुरता के साथ कहेगा कि निःसंदेह भास कविता-कामिनी का हास ही है।

अब हम इन रूपकों में क्या वर्णन है, यह बताने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक रूपक में रोचक बातें तो इतनी हैं कि यदि उन सबका समावेश करें तो एक बड़ी पुस्तक बन जाय। यह लेख एक प्रबंध-मात्र ही है; अतएव हम अधिक नहीं लिख सकते, प्रत्येक रूपक का यथा सामर्थ्य संक्षिप्त सार ही पाठकों की भेंट करते हैं।

बालचरित

इस नाटक के प्रथम अंक में यह दिखाया गया है कि नारद वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए हरि का दर्शन करने पधारते हैं। प्रसूता देवकी बालक के जनमते समय प्रकट हुए निमित्तों से उसके अवश्य होनहार होने की प्रत्याशा करती है, परंतु कंस के दुराचार को स्मरण कर हताश सी हो जाती है। वसुदेव यह विचार कर कि

इस समय रात्रि में मधुरा (मथुरा) में सब लोग सोए हुए ही हैं, देवकी से बालक को लेकर नगर के बाहर आ जाते हैं और यमुना को भी पार कर दूसरे किनारे पहुँच एक बड़ के वृक्ष के नीचे खड़े हो जाते हैं। इतने ही में नंदगोप यशोदा की उत्पन्न हुई तत्क्षण मरी कन्या को यह समझकर कि इस दुर्घटना का उद्घाटन प्रातःकाल को गोपजनों से किए जानेवाले इंद्रयज्ञ नाम के उत्सव को फीका कर देगा, आप ही चुपचाप लेकर अपने ग्राम के बाहर चले आते हैं और उनके सकरुण शब्द को सुन वसुदेव उन्हें पहचान जाते हैं। वसुदेव अपने मित्र से सबसे पहले गौओं की, पीछे परिजन की कुशल पूछते हैं। तदनंतर एक दूसरे की व्यथा का वर्णन होता है। अंत में उधर नंदगोप कृष्ण को संरक्षार्थ अपने साथ ले जाते हैं और इधर वसुदेव उस कन्या को, जिसमें फिर प्राणों का संचार प्रारंभ हो जाता है, अपने साथ मथुरा ले आते हैं। तदनंतर गरुड़, चक्र, शार्ङ्ग (धनुष), कौमोदकी गदा, शंख और नंदक तलवार सब दैवी रूप से कृष्ण के समुपस्थित होते हैं।

दूसरे अंक में बताया है कि मधूक ऋषि का शाप वज्रबाहु नाम बनकर अलक्ष्मी, खलती, कालरात्री, महानिद्रा को साथ में लिए हुए कंस के महल में अपना निवासस्थान बनाता है और उसकी राजश्री को वहाँ से भगा देता है। कंस को स्वप्न में यह सब साक्षात् होता है और वह सांवत्सरिक (ज्योतिषी) और पुरोहित से इस विषय का भावी फल पुछवाता है। वे उत्तर देते हैं कि कारणविशेष से किसी देवता का इस लोक में जन्म होना सिद्ध होता है। कंस तुरंत वसुदेव को बुलवाता है और वे छः पुत्रों के नाश से विशीर्ण-हृदय हुए बड़े भयभीत होकर आते हैं। राजा उनसे देवकी के प्रसव का हाल पूछता है और वे पुत्र के पक्षपात से कन्या के होने की सूचना देते हैं जिसे वह आग्रहपूर्वक लेकर शिला पर दे मारता है। परंतु वह रूप बदलकर अंतर्लीन हो जाती है।

तीसरे अंक के प्रवेशक में पूतना, शकट, यमला, अर्जुन, प्रलंब,

धेनुक और केशी नाम के दानवों के वध की सूचना दी गई है। तदनंतर वृंदावन में सब गोपजन गाजे बाजे के साथ हल्लीसक नाम का खेल खेलते हैं और कृष्ण एवं बलराम भी उसमें सम्मिलित होते हैं। इतने में ही अरिष्टर्षभ नाम का एक दानव आ जाता है और वह अपनी घोर गर्जना से सबको संत्रस्त कर देता है। परंतु इतने पर भी दामोदर को नितांत निर्विकार देख कहता है कि यह बालक बलवान् है, जो मुझ जैसे उग्ररूप, महानाद, महाबली को देखकर भी न डरा और न विस्मित हुआ। दामोदर यह सुन कहते हैं कि "भय" क्या है, जिसका नाम मैं आपसे सुन रहा हूँ। वह उत्तर देता है कि अभी तुम बालक हो जिससे भय को नहीं जानते। कृष्ण कहते हैं, क्या बालक कहकर मुझको प्रधर्षित करता है? क्या साँप के बच्चे का काटा मरता नहीं? क्या बालक स्कंद ने क्रौंच को नहीं मार डाला था? इस पर वह कहता है कि अच्छा, यदि तुम अकड़ रखते हो तो आयुध ग्रहण करो। दामोदर कहते हैं—क्या खूब! मेरे तो बाहु ही आयुध हैं। धातु के आयुध तो तुम जैसे दुर्बलों के लिये हैं। देखो इन सहज भुजदंडों से तुम्हें नहीं मारा तो मेरा नाम दामोदर नहीं। यों युद्ध प्रारंभ हो जाता है और अंत में कृष्ण उसे मार डालते हैं। तदनंतर दामक नाम का एक गोपाल यह सूचना देता है कि बलराम यमुनाह्रद में कालिय नाग का होना सुनकर उस ओर गए हैं। यह सुनकर कृष्ण भी वहीं चल देते हैं।

चौथे अंक में कालियदमन दिखाया है। इस कार्य के समाप्त होते ही एक भट दामोदर से आकर कहता है कि आपको कंसराज ने मधुरा (मथुरा) में धनुर्मह नाम का महोत्सव देखने के लिये सपरिवार बुलाया है और वे निमंत्रण को स्वीकार करते हैं।

पाँचवें अंक में यह बताया है कि कंस ध्रुवसेन नामक भट से पूछता है कि नंदगोप का पुत्र आया या नहीं। वह उत्तर देता है कि वह उत्पलपीड़ नाम के गंधहस्ती को मार, मदनिका नाम की कुब्जा का कुब्ज सुधार, धनुःशाला के रक्षक सिंहबल के प्राण हर

क्रुद्ध हुआ उपस्थान की ओर रवाना हुआ है। राजा (कंस) तुरंत चाणूर और मुष्टिक को वहाँ भेजने के लिये आज्ञा देता है और वे दोनों कृष्ण और बलराम द्वारा मारे जाते हैं। तदनंतर कृष्ण महलों पर चढ़ कंस को भी पकड़ नीचे गिराकर मार डालते हैं और उग्रसेन को बंधन से मुक्त कर राजा बनाते हैं। देवता, अप्सरा और गंधर्वों को साथ लिए नारद के दर्शन करने आते हैं और कंस के बध की प्रशंसा कर अपने स्थान को चले जाते हैं।

मध्यमव्यायोग

यह नाटक एक ही अंक का है और इसकी वस्तु-रचना ऐतरेय ब्राह्मण की सुप्रसिद्ध शुनःशेप की कथा से मिलती हुई है। कुरुजांगल देश के यूपग्राम का रहनेवाला माठरगोत्री कल्पशाखाध्वर्यु (यज्ञविधान में निपुण) केशवदास नाम का एक ब्राह्मण अपनी स्त्री तथा तीन पुत्रों सहित कौशिकगोत्री यज्ञबंधु नामक अपने मामा के यहाँ, जो उत्तर दिशा में उद्यामक ग्राम में रहता है, उसके पुत्र के उपनयन-संस्कार में सम्मिलित होने को जाता है। इसी समय पर भीमसेन की स्त्री हिडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच को अपने आहार के लिये एक पुरुष ढूँढ़ लाने का आदेश देती है। बिखरे हुए पीले बाल, काला शरीर, लंबी नाक तथा चमकीले नेत्रवाले तरुण घटोत्कच को देखकर वह भयभीत ब्राह्मण ज्यों ही सकुटुंब जल्दी जल्दी पैर उठाने लगता है, त्यों ही घटोत्कच मन में यह जानते हुए भी कि ब्राह्मण सदा सर्वत्र पूज्यतम हैं, अपनी माता की आज्ञा के कारण निःशंक हो बोलता है—"अरे ब्राह्मण! ठहर, ठहर, मेरे भय के मारे अधीर और कुटुंब की रक्षा करने में असमर्थ तू गरुड़ के सामने दीन सर्प के समान क्यों भागा जा रहा है?" यह सुन वह अपने बालकों को जैसे तैसे धैर्य देते हुए अपनी स्त्री से कहता है कि देखो, तुम्हें याद होगा कि श्रीमान् जलक्लिन्न मुनि ने कहा था कि यह बन राक्षसों के पंजे से मुक्त नहीं है; इसलिए सचेत होकर जाना। लो वही हुआ। पति को यों उत्साह से पतित

देख पत्नी कहती है कि आप को धीरज धर रक्षा का कुछ उपाय करना चाहिए। कुछ न हो सके तो सहायता के लिये पुकार ही करें। यह सुन ज्येष्ठ पुत्र कहता है कि किसको पुकारें? यह तो सुनसान बन है: बड़े बड़े वृक्षों के मारे दिशाएँ भी बे-पता हो रही हैं। वास्तव में यह स्थान तो संसार के निर्मोही मुनियों के निवास के योग्य है। यह सुनकर ब्राह्मण के ध्यान में आता है कि यहीं कहीं पांडवों का आश्रम होगा। वे लोग युद्धप्रिय, शरणागतवत्सल, दीनों के पक्षपाती, साहसी और ऐसी भयंकर आकृति और चेष्टावालों को सीधा करने में समर्थ हैं। इस पर बड़ा पुत्र कहता है कि पांडवों के आश्रम से आए हुए एक ब्राह्मण के मुख से सुना है कि वे लोग शतकुंभ नामक यज्ञ देखने के लिये महर्षि धौम्य के आश्रम को गए हुए हैं। यद्यपि उनमें से एक "मध्यम" अर्थात् भीमसेन आश्रम पर ही रह गया है, परंतु हमारे दुर्भाग्यवश वह भी इस समय व्यायाम करने को वहाँ से अन्यत्र गया हुआ है। यों सब तरह से निराश हुआ ब्राह्मण घटोत्कच से ही बातचीत करने लगता है जो उससे कहता है कि मेरी माता ने उपवास की पारणा करने के लिये वन में से कोई मनुष्य मँगवाया है। आप मुझको मिल ही गए। अतः आप अपने एक पुत्र को मेरे हवाले कर, अपने, अपनी स्त्री तथा दो पुत्रों के प्राण बचा सकते हैं। ये शब्द उसको अत्यंत व्याकुल कर देते हैं, परंतु यह समझकर कि वह एक के न पाने से सब का नाश कर देगा, वह वृद्ध अपने आपको उसके समर्पण करता है, परंतु उसकी स्त्री उसे ऐसा करने से रोकती हुई अपने आपको समर्पण करती है। घटोत्कच यह कहते हुए कि तुम बुड्ढे हो और स्त्री मेरी माता को चाहिए नहीं, दोनों का निषेध कर देता है। यह सुन बड़ा पुत्र नम्रतापूर्वक अपने आपको समर्पण करता है, परंतु उसका दूसरा भाई यह कहते हुए कि ज्येष्ठ पुत्र कुल में श्रेष्ठ और पितरों का प्यारा हुआ करता है, उसका प्रतिषेध करता है और स्वयं कुटुंब की रक्षा के निमित्त बलिदान के लिये तैयार होता है।

उसका छोटा भाई यह कहकर कि आप मुझसे ज्येष्ठ हैं, अतः पिता के समान हैं—उसे रोक अपने आपको बलिदान देना चाहता है। ज्येष्ठ पुत्र फिर अनुरोध करता है और कहता है कि ज्येष्ठ पुत्र का यह मुख्य धर्म है कि वह पिता की आपत्ति दूर करे; अतः मैं ही इस अवसर पर प्राण समर्पण करूँगा। इस पर पिता यह कहते हुए कि ज्येष्ठ इष्टतम है, अतः मैं तुझे त्याग नहीं सकता, उसे पकड़ लेता है और उसकी स्त्री भी यह कहती हुई कि जैसे आपको सबसे बड़ा प्यारा है, वैसे मुझे सबसे छोटा, छोटे को पकड़ लेती है। निदान बेचारा मध्यम रह जाता है। घटोत्कच यह कहते हुए कि तू मुझको प्यारा है, उसे पकड़ लेता है। वह अपने आपको धन्य समझता है और सबको प्रणाम कर घटोत्कच की आज्ञा से थोड़ी दूर पर जलाशय में जल पीने चला जाता है। कुछ देर लग जाने से घटोत्कच उसे "मध्यम, मध्यम" कहकर पुकारता है, परंतु इस शब्द को सुनकर भीमसेन, जो कुंती का दूसरा पुत्र होने से "मध्यम" कहलाता था, बारंबार यह विचारते हुए कि इस समय मुझको कौन बुलाता है, व्यायाम को त्याग उधर आ जाता है। घटोत्कच को, जिसे वह तत्क्षण नहीं पहचान सका, देख कहने लगता है कि कहो, क्या काम है, क्यों बुलाते हो। वह कहता है कि मैं 'मध्यम' को बुलाता हूँ, तुम्हें नहीं। ज्योंही वह वृत्तांत का अनुसंधान करने लगता है, त्योंही ब्राह्मण का पुत्र भी वहाँ आ पहुँचता है। भीमसेन उसे इस दुष्ट काम से रोकने की चेष्टा करता है। परंतु वह कहता है कि अपनी माता हिडिम्बा की आज्ञा से मैंने इसे ग्रहण किया है; अतः कदापि नहीं छोड़ सकता। भीमसेन उसे अपना पुत्र जान उसके पुरुषार्थ की परीक्षा करने लगता है और कहता है कि हे विप्र! आप इस अपने पुत्र को रक्खें, मैं इसके साथ जाता हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ, अतः मेरा धर्म है कि मैं इसकी रक्षा करूँ। घटोत्कच कहता है कि अच्छा तुम चलो, परंतु भीमसेन कहता है, मैं यों नहीं चलता। तुम में बल हो तो मुझको ले चलो। यों दोनों में आपस में युद्ध होने लगता है।

पुत्र यद्यपि पिता के समान बलवान् सिद्ध नहीं होता, तथापि अपने शारीरिक बल की अतिशयता से अपने अज्ञात पिता को प्रसन्न करने में समर्थ होता है। घटोत्कच भीमसेन को अपनी प्रथम स्वीकृति याद दिलाकर माता के पास ले जाता है, जो अपने पति के दर्शन कर कहती है कि मैंने यह मनुष्य मँगवाने का प्रपंच आपके दर्शन करने को ही किया है। घटोत्कच मन में लज्जित होता है और ब्राह्मण से क्षमा माँगता है।

पंचरात्र

दुर्योधन द्रोणाचार्य की प्रेरणा से हस्तिनापुर से कुछ दूर गंगा के किनारे पर एक बृहत् यज्ञ करता है और उसको देखने के लिये बहुत से आ-बाल-वृद्ध आते हैं। वे यज्ञ समृद्धि, ब्राह्मण भोजन, नाना प्रकार के दान तथा यज्ञ में सम्मिलित विप्रों की, जो वृद्ध होते हुए भी स्वाध्याय और आचार में तत्पर हैं, प्रशंसा करते हैं। कुछ बालक अपनी चपलता से वहाँ आग लगा देते हैं जिससे घृत-शकटी (गाड़ी), धर्म-शकटी, समीपवर्त्ती वृक्ष, बाँस, चमचे, बर्तन, अरणी, और दर्भा जल जाते हैं। वे लोग राजमंडल सहित उस स्थान पर पधारती हुई कुरुराज दुर्योधन की सवारी देखने जाते हैं। धार्मिक वैभव और सांसारिक विलास से प्रसन्नचित्त हुआ दुर्योधन कर्ण से कहता है कि शास्त्रों के उपदेशों में श्रद्धाशील आत्मा गुरुजनों की प्रसन्नता को प्राप्त करती है, अब प्रजा मुझमें विश्वास करती है, गुण मुझ में निवास करते हैं और अपकीर्त्ति दूर हो चली है। शरीर त्यागने पर स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसा लोगों का कहना मुझको झूठ ही जँचता है। स्वर्ग कोई परोक्ष पदार्थ नहीं है। बहुत गुणों के प्राप्त कर लेने से इस लोक ही में वह प्राप्त हो जाता है। इस पर कर्ण कहता है कि न्याय से प्राप्त किए हुए सारे धन को सत्कर्म में लगाकर आपने न्याय ही किया; क्योंकि—

बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी बध्यते सन्निधाता।
विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः॥

आशय—क्षत्रियों की धन संपत्ति बाण के अधीन है। उसको पुत्र के लिये जमा करनेवाला भूल ही करता है। सब धन संपत्ति को ब्राह्मणों के सुपुर्द करके राजा को पुत्र के लिये धनुष बाण देना ही योग्य है।

देखिए इक्ष्वाकु, शय्याति (शर्य्याति), ययाति, राम, मांधाता, नाभाग, नृग और अम्बरीष अपनी संपत्ति, राज्य और शरीर सहित नष्ट हो गए, परंतु इतिहास में प्रसिद्ध यज्ञों के यश से वे अभी तक जीवित ही हैं। तदनंतर दुर्योधन द्रोण को प्रणाम करता है, परंतु वे सप्रेम कहते हैं कि वत्स! मनुष्य के रूप में उपस्थित इन देव भीष्म को पहले प्रणाम करो। इनको उल्लंघन कर मुझको प्रणाम करना मैं शिष्टाचार नहीं समझता। इस पर भीष्म कहते हैं—वाह वाह! खूब कहा! हम तो अनेक कारणों से आप के पीछे हैं। देखिए, हम गर्भोत्पन्न, आप स्वयंभू हैं; हम शस्त्र से वृत्ति उपार्जन करनेवाले, आप रागद्वेष से रहित और प्राणी मात्र के मित्र हैं; हम क्षत्रिय कुलोत्पन्न, आप ब्राह्मण हैं। कहाँ तक कहें, आप गुरु हैं, हम तो आपके शिष्य होने से गौरवास्पद हैं। फिर दुर्योधन क्रम से द्रोण, भीष्म, शकुनि को प्रणाम कर उनके आशीर्वाद ले मित्र कर्ण से तथा बाहर से आए हुए राजा भीष्मक (महेन्द्रप्रिय सखा भीष्मकः), दक्षिण देश के भूरिश्रवा तथा जरासन्ध के पुत्र सहदेव आदि से मिलता है, परंतु द्रोण के प्रस्तुत करने पर भी कृष्ण के भेजे हुए अभिमन्यु की वह शकुनि की नियोजना से उस समय अवहेलना कर जाता है। यह काम समाप्त होने पर वह द्रोण से दक्षिणा ग्रहण करने के लिये प्रार्थना करता है। वे कहते हैं, हाँ ठीक है; हमको भी आपसे कुछ याचना करनी है। द्रोण के इन शब्दों को, जिनमें अप्राप्त की प्राप्ति के लिये चेष्टा है, सुनकर भीष्म कहते हैं कि देखो जिन्होंने सोमपान किया है, जो राजगुरु कहलाते हैं, ऐसे आचार्य जहाँ असिद्ध-मनोरथ हों, वह दौलत और राजपाट किस काम का है। दुर्योधन अपनी निन्दा समझ उत्तर में कहता है—भगवन्!

प्राणाधिकोऽस्मि भवता च कृतोपदेशः
शूरेषु यामि गणनां कृतसाहसोऽस्मि।
स्वच्छन्दतो वद किमिच्छसि किं ददामि
हस्ते स्थिता मम गदा भवतश्च सर्वम् ॥

आशय—मैं आपको अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा हूँ, आपका पढ़ाया हुआ हूँ, साहस के काम कर चुका हूँ, लोग मुझे शूरों में गिनते हैं; अतएव निःसंकोच होकर आप कहिए कि आप मुझसे क्या चाहते हैं। सच समझिए, जिस समय मेरे हाथ में गदा है, उस समय सब कुछ आपका है।

द्रोण सहसा अपनी याचना प्रकट नहीं करते, किंतु वाष्पाकुल हो जाते हैं जिससे उनका मुँह धोने के लिये जल लाया जाता है, जिसे इस दृश्य से पिघले हुए हृदयवाला दुर्योधन लेकर कहता है कि यदि आप मेरी पूर्व कुटिलताओं को स्मरण कर कहीं यह सोचते हों कि यह नहीं देगा, तो आप यज्ञ के लिये सैकड़ों मूंजों के मरोड़ने से कठिन बने हुए अपने हाथ को मुझे दीजिए और संकल्प रूपी यह जल लीजिए। शिष्यों के क्लेश से दुःखार्त आचार्य कहते हैं—अच्छा अब मेरे हृदय को विश्वास हुआ। पुत्र ! सुन—

येषां गतिः क्वापि निराश्रयाणां संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टा।
त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च ॥

आशय—जिन निराश्रयों की गति बारह बरस से कहीं नहीं देखी, उन पांडवों को तू राज्य का भाग दे, बस यही मेरी भिक्षा है और यही मेरी दक्षिणा।

ये शब्द शकुनि के कर्णों को बहुत कटु लगते हैं और वह आवेग के साथ कहता है कि विनीत और भरोसा किए हुए शिष्य के साथ यज्ञ का प्रकरण उत्पन्न करके धर्म की ओट में आपका यह धोखा क्या न्यायसंगत है ? वे उत्तर देते हैं—अरे गांधारधरा से गर्वित शकुनि ! तू अपने अनार्य भावों से निखिल जगत् को अनार्य

मत मान। देख, "भाइयों को पैतृक राज्य दे दो" ऐसा कहना धोखा नहीं है। भला सोच तो सही कि माँगने से दे देना या इस राज्य का बलात्कार से हरा जाना इनमें से कौन सी बात अच्छी है? भीष्म भी इस बात का अनुमोदन करते हैं और कहते हैं कि पौत्र! मित्र-मुखवाले शत्रु शकुनि के वचन नहीं सुनने चाहिएँ। सच समझ, जो द्रौपदी-सहित पांडव दुर्गम मार्ग की रेती से कठिन भूमि पर भ्रमण कर रहे हैं और जो तू उनसे विमुख है और वे तुझसे विमुख हैं, यह सब कुछ शकुनि के परुष वचनों का परिणाम है। हे पौत्र! वे जो दुर्बल, दीन और निराश्रय हैं, तुझसे सांत्वना चाहते हैं, सामना नहीं करते, उनकी ओर तनिक निहार। तू ज्येष्ठ है, तेरा उन कुटुंबियों पर स्नेह रखना श्रेय है, तुझे उनका भरण-पोषण करना चाहिए या उनको मृगों के साथ भ्रमण करने देना चाहिए? द्रोण फिर समझाते हैं कि पुत्र! देख, यदि मैं तुझको बहकाऊँ तो वह मेरा दोष है न कि तेरा, यदि मैं तुझको पीड़ा दे रहा हूँ तो वह तेरे ही भले के लिये है। महाकुलों के परस्पर के भेद धर्माधिकारियों के वचनों से शांत हुआ करते हैं। ऐसे प्रभावशाली वचनों से प्रभावित होकर दुर्योधन कहता है कि अच्छा, इस विषय में मैं परामर्श करके निश्चय किया चाहता हूँ। वे कहते हैं—भीष्म, कर्ण, कृप, सिंधुराज, जयद्रथ, अश्वत्थामा, विदुर अथवा अपने माता-पिता में से किसके साथ परामर्श करना चाहते हो? वह उत्तर देता है कि मामा शकुनि से। शकुनि से थोड़ी देर पहले ही खटपट हो चुकी थी, इसलिये आचार्य उसके बुरे भाव को दूर करने के विचार से खड़े होकर कहते हैं कि प्यारे! बुढ़ापे के कारण क्रोधी स्वभाव हो जाने से जो बच्चों की सी बातें निकल गईं, वे भुला देनी चाहिएँ। उन रूखे वचनों को शमन करने की क्रिया गले लगाना ही है और वे फिर परस्पर आलिंगन करते हैं। तदनंतर दुर्योधन प्रस्तुत विषय पर शकुनि की राय लेता है और यह भी प्रकाशित करता है कि मेरी इच्छा कुछ न कुछ पांडवों को देने की है, परंतु

वह देने के लिये सर्वथा निषेध करता है। दुर्योधन फिर अपने मित्र कर्ण से पूछता है, जिस पर वह उत्तर देता है—

रामेण भुक्तां परिपालितां च सुभ्रातृतां न प्रतिषेधयामि।
त्वमात्ममत्त्रे तु भवान् प्रमाणं संग्रामकालेषु वयं सहायाः॥

आशय—राम से भोगे हुए तथा निबाहे हुए सुन्दर भाईचारे का मैं विरोध नहीं करता, इसलिये मेल-मिलाप के विषय में आप स्वयं निर्णेता हैं। हाँ संग्राम के समय हम आपके सहायक हैं।

दुर्योधन फिर अपने मामा से कहता है कि आप सोचकर कोई ऐसा देश बतावें जहाँ घोर शत्रु हों और घास भी न उपजती हो; वह पांडवों के रहने के लिये दे देंगे। शकुनि कहता है कि इसका उत्तर कुछ नहीं। सोचो, अर्जुन से अधिक बलवान् कौन है? और जहाँ युधिष्ठिर निवास करें, वह स्थान ऊसर हो तो भी शस्यसंपन्न हो जाय। दुर्योधन फिर कहता है कि दान का जल मैं गुरु के हाथ में छोड़ चुका। अब हे राजन्, यह न्याय, अन्याय, धोखा, दगा, कुछ भी हो, मैं इस संकल्प को सत्य करना चाहता हूँ। शकुनि कहता है—इसमें आपकी बात बनी रहे, बस इतना ही करना है। आप गुरु से इतना ही कह दें कि यदि पाँच रात के भीतर भीतर आप पांडवों का पता ले आवें तो राज्यार्ध दे दिया जायगा। वह वैसा ही कहता है जिसको सुन भीष्म और द्रोण उसे इस वंचकता को छोड़ सत्यशील होने की सम्मति देते हैं, परंतु वह नहीं मानता। इतने ही में विराट का एक दूत आकर कहता है कि महाराज (विराटेश्वर) यहाँ आने में असमर्थ हैं: कारण यह है कि किसी ने रात में उनके १०० साले कीचकों का मुक्कों से प्राणांत कर दिया। इस दुर्घटना पर से भीष्म ने मन में सोचा कि बलवान् कीचकों का अशस्त्र-बध करनेवाला भीमसेन के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। उसने इन १०० भाइयों के क्रोध को उन १०० भाइयों पर उतारा। वे द्रोण से पाँच रात की शर्त्त स्वीकार करने की प्रेरणा करते हैं और दुर्योधन से कहते हैं कि मेरा विराट से पूर्व-वैर है; इसी

लिये वह इस यज्ञोत्सव पर नहीं आया। तुम चलकर बलात्कार उसकी गायों को पकड़ लो। द्रोण कहते हैं (तस्मान्मे रथमानयन्तु पुरुषाः) अच्छा सिपाहियों! मेरा रथ लाओ। शकुनि भी साथ चलने को तैयार होकर कहता है (हस्ती ममानीयतां) मेरा भी हाथी ले आना। कर्ण भी तैयार हो जाता है और कहता है (भारार्थं भृशमुद्यतैरिह हयैर्युक्तो रथः स्थाप्यताम्) कि समर के लिये बारंबार उत्सुक घोड़ोंवाला मेरा रथ भी तैयार करके यहाँ ले आओ। तदनंतर भीष्म कहते हैं (बुद्धिर्मे त्वरते विराटनगरं गन्तुं धनुस्त्वर्यतां) कि मेरा विचार भी विराटनगर को चलने का है, इसलिये मेरे लिये भी गृह से धनुष ले आओ। यह सुन वे सबके सब आतुरता के साथ कहते हैं—(मुक्त्वा चापमिहैव तिष्ठतु भवानाज्ञा विधेया वयम्) कि आप तो धनुष को रहने दीजिए, यहीं विराजिए। हम सब आपके आज्ञाकारी विद्यमान हैं। द्रोण इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम दोनों (मैं और भीष्म) युद्ध में तुम्हारा पराक्रम देखना चाहते हैं और इस गोग्रहण-संग्राम में शकुनि का रथ सबसे आगे रहेगा। यह प्रथम अंक का सार हुआ।

दूसरे अंक में यह बताया है कि महाराज विराट का जन्मवर्ष-महोत्सव मनाया जा रहा है। गोपालक आनन्द मना रहे हैं, परंतु सहसा कौरवों की चमु गोग्रहण कर लेती है। राजा युद्ध के लिये तैयारी करता है जिसको देख युधिष्ठिर, जो वहाँ ब्राह्मण के वेष में रहते थे, कहते हैं—

उद्योगः प्रस्तुतः कस्माच्छ्रीर्न सन्तोषमिच्छति।
पीडयिष्यति सोत्सेकान् पीडितान् मोक्षयिष्यति॥

आशय—राजन्! यह युद्ध की तैयारी क्यों की है? क्या राज्यलक्ष्मी तृप्त नहीं रहना चाहती? या कुछ गर्वधारियों का दमन करना है? या पीड़ितों को छुड़ाना है?

राजा संग्राम के उत्पन्न होने की कथा सुनाने लगता है। इतने ही में एक राजपुरुष आकर कहता है कि कुमार उत्तर बृहन्नला को

लेकर शत्रुओं का सामना करने को गया और (प्रवृत्तिपुरुषाः कथयन्ति) खबरनवीस कहते हैं कि बृहन्नला के धनुष के घोष को सुनकर यह वही (अर्जुन) है, ऐसा मन में जानकर द्रोण तो लौट गए। अपनी ध्वजा में शत्रु का बाण गड़ा देखकर अब लड़कर क्या करना है, ऐसा समझ भीष्म भी नहीं लड़ते। कर्ण बाणों के मारे पछाड़ दिया गया और दूसरे राजा लोग यह क्या मामला है, ऐसा मन में विचार रहे हैं। हाँ एक बालक अभिमन्यु ऐसी भयास्पद स्थिति में भी भय न मान निर्भय लड़ रहा है। भगवान् (विप्र के वेष में युधिष्ठिर) कहते हैं कि राजन्! दो वंशों का तेजाग्नि सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु यदि लड़ रहा है तो आप दूसरा सारथी भेजिए; बृहन्नला इस समय व्याकुल होगा। राजा कहता है कि आप ऐसा न विचारिए। देखिए, परशुराम के तीरों से जिनका कवच बिंधा भी नहीं, ऐसे भीष्म को, मंत्रायुध द्रोण को, कर्ण और जयद्रथ को तथा शेष राजाओं को जिसने पराङ्मुख कर दिया, वह कुमार क्या अभिमन्यु को सीधा नहीं कर सकता? बात तो यह है कि उसके पिता के विचार से मित्रता के योग्य समान आयुवाला होने से इस स्थिति में भी वह उसको क्षति नहीं पहुँचाता। इतने ही में एक भट आकर खुशखबरी सुनाता है कि गाएँ छुड़ा ली गईं और कौरव भाग गए। महाराजकुमार (दृष्टपरिस्पन्दानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः) युद्ध में जिन पुरुषों ने विचित्र साहस दिखाया है, उनके नाम-काम बही में दर्ज कर रहे हैं। राजा तुरंत बृहन्नला को बुलवाता है और उसके आते ही कहता है—

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते।
इदं हि रूपं परिभूतपूर्वकं तदेव भूयो बहुमानमागतम्॥

आशय—बृहन्नला! रूप मान का कारण नहीं होता और न कुल ही। वास्तव में क्या बड़े और क्या छोटे सब में कर्म ही कीर्ति का कारण है। देखो यही रूप पहले मंद आदर से देखा जाता था, परंतु अब अत्यंत पूजनीय है।

इसमें संदेह नहीं कि आप थक गए हैं, परंतु मैं आप परिश्रांत को भी कुछ और परिश्रम देना चाहता हूँ; और वह यह है कि रणवृत्तांत विस्तार से सुनाइए। वह सुनाना प्रारंभ करता है, परंतु इतने ही में भट आकर कहता है कि अभिमन्यु पकड़ा गया। भगवान् पूछते हैं—बृहन्नला! यह क्या बात है? वह मन में सोचता है कि विराट की सेना के योद्धाओं का बल तो मैंने जाँच लिया, युद्ध में मैं उसे देख ही आया, यहाँ उसकी बराबरी का कोई है ही नहीं, कीचकों को मार ही दिया, अब कौन उसका पकड़नेवाला हो सकता है, और उत्तर देता है कि—

न जाने तस्य जेतारं बलवाञ्छिक्षितस्तु सः।
पितॄणां भाग्यदोषेण प्राप्नुयादपि धर्षणम्॥

आशय—भगवन्! मैं उसके जीतनेवाले को नहीं जानता, वह रण-कौशल में पूर्ण सुबोध है, पांडवों के हतभाग्य से कदाचित् वह (अभिमन्यु) बंधन को प्राप्त हो गया हो।

भट कहता है कि जिसको आपने भोजनशाला में नियुक्त कर रक्खा है, उसने सहसा रथ को पकड़ निःशंक उसे हाथों से उतार लिया। इससे बृहन्नला के चित्त को शांति होती है और वह मन में कहता है कि वास्तव में आर्य भीम ने उसका आलिंगन किया है। हम तो दूर ही से उसके दर्शन कर तृप्त हुए, परंतु यथार्थ पुत्रस्नेह तो भीम ने सफल किया। राजा बृहन्नला को अभिमन्यु को ले आने की आज्ञा देता है और वह जाकर भीमसेन से कहता है कि इसको यहाँ लाकर आपने क्या कर डाला—

अपजित इति तावद् दूषितः पूर्वयुद्धे
दयितसुतवियुक्ता शोचनीया सुभद्रा।
जित इति पुनरेनं रुष्यते वासुभद्रो
भवतु बहु किमुक्त्वा दूषितो हस्तसारः॥

आशय—देखिए, इसका युद्ध में प्रविष्ट होने का यह प्रथम ही अवसर है और उसको पराजय का बट्टा लगा दिया, सुभद्रा को पुत्र

के विरह से शोकातुर कर दिया, यह हार गया, ऐसा सुन कृष्ण इस पर नाराज़ होंगे। और अधिक क्या कहूँ, आपने अपने हाथ के बल को भी तो दूषित किया।

भीम उत्तर देता है कि हाँ, इसके पकड़ने में जो दोष तुमने बताए वह मैं भी जनता हूँ। परंतु सोचो, अपने पुत्र को शत्रुओं के हाथों में कौन रहने देगा? दूसरे शोक सागर में निमग्न अपत्यवत्सला द्रौपदी इसे देखकर प्रसन्न होगी, यह समझ मैं इसे यहाँ ले आया। तदनन्तर भीम और अर्जुन अपने आपको प्रकट न कर उससे परिहासपूर्वक बातें करते हैं जिनका वह बड़े साहस के साथ उत्तर देता है।

उधर कुमार उत्तर मन में लज्जित होता हुआ अपने पिता के पास आकर निवेदन करता है कि विजय का कारण वास्तव में वीर अर्जुन है जो बृहन्नला के रूप में यहाँ निवास कर रहा है। राजा क्रमशः युधिष्ठिरादि को पहचान आश्चर्य में मग्न हो जाता है और अभिमन्यु को देखते ही आशीर्वाद देता है कि प्यारे—

यौधिष्ठिरं धैर्यमवाप्नुहि त्वं भैमं बलं नैपुणमर्जुनस्य।
माद्रीसुतात् कांतिमथाभिरूप्यं कीर्तिं च कृष्णस्य जगत्प्रियस्य॥

आशय—भगवान् तुमको युधिष्ठिर के समान धैर्य दें, भीमसेन के समान बल दें, अर्जुन के समान निपुणता दें, माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव के समान कान्ति तथा पांडित्य दें और जगत्प्रिय कृष्ण के समान कीर्ति दें।

विराट प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा अर्जुन के लिये देता है; परंतु वह यह कहकर कि रणवास में रहकर मैंने सबके साथ माता की दृष्टि से व्यवहार किया है, उसे अपने पुत्र अभिमन्यु के लिये स्वीकार करना है। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

अभिमन्यु के ग्रहण होने का समाचार सुनकर द्रोण और भीम पूछते हैं कि कहो, किसने उसको पकड़ लिया? दुर्योधन भी कहता है कि सूत, झट बतलाओ, कौन उसे ले गया, मैं स्वयं उसको छुड़ाऊँगा—

मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेद-
स्तदिह मयि च दोषो वक्तृभिः पातनीयः॥
अथच मम स पुत्रः पाण्डवानां तु पश्चात्
सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बालाः॥

आशय—मेरा उसके बड़ों से वैर था, इसलिये उसके पकड़ जाने में लोग मुझ पर कलंक लगावेंगे। निस्सन्देह वह पहले मेरा पुत्र है, पीछे पांडवों का। कुल में विरोध होने पर बालकों से वैर नहीं किया जाता।

कर्ण इस सुविचार की प्रशंसा करता है। परंतु शकुनि कहता है कि आप इतना शोच क्यों करते हैं? विराट यह जानता ही है कि यह अर्जुन का पुत्र है; स्वयम् उसे छोड़ देगा; अथवा यह जानकर कि वह रण में पराजित हो गया, कृष्ण उसे स्वयं छुड़ा लेंगे; अथवा क्रोधी हलधर के भय से वह छोड़ दिया जायगा; और नहीं तो बलशाली भीमसेन उसे छुड़ा लेगा। द्रोण सूत से पूछते हैं कि क्या उसका रथ गिर पड़ा? या घोड़े बेक़ाबू हो गए? या भूमि ऐसी थी कि जहाँ रथ के पहिए भले प्रकार न फिर सके? या तरकश के तीर समाप्त हो गए? या रथी रथ हाँकने में बेपरवाह हो गया? या प्रत्यंचा टूट गई? वह उत्तर देता है कि आपके बताए हुए दोषों में से कुछ भी नहीं हुआ। उसके पास बाण भी बहुत थे और मेरा रथ भी (अलातचक्र) आतशबाज़ी के समान चल रहा था; परंतु क्या बताऊँ, एक प्यादे ने झपटकर उसे पकड़ लिया और घोड़ों को निश्चल कर दिया। भीष्म कहते हैं, जान लिया वह पदाति भीमसेन ही होगा। द्रोण भी इसका अनुमोदन करते हैं और कहते हैं कि एक समय बचपन में उसने फेंके हुए बाण को इशारा पाते ही निशाने पर पहुँचने के पहले ही पकड़ लिया था। इस वार्तालाप को सुनकर शकुनि कहता है—क्या खूब। आपको तो सब ओर पांडव ही पांडव दिखाई देते हैं। कहो जिसने हम सबको विरुद्ध कर डाला, क्या उसे अर्जुन कह दोगे। वे कहते हैं—हाँ इसमें सन्देह ही क्या है; और वे

इस बात को तीर पर लिखे उस (अर्जुन) के नाम से सिद्ध कर देते हैं।

इतने ही में दूत के रूप में आकर उत्तर कहता है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने निवेदन किया है कि उत्तरा को मैंने बतौर पुत्रवधु के प्राप्त किया है और उसके विवाह महोत्सव में राजमंडल को निमंत्रित करना चाहता हूँ। अब आप आज्ञा दीजिए कि विवाह कहाँ (यहाँ या वहाँ) किया जाय।

यों पांडवों के प्रत्यक्ष होने पर द्रोण कहते हैं—

इत्यर्थं वयमानीताः पञ्चरात्रोऽपि वर्तते।
धर्मेणावर्जिता भिक्षा धर्मेणैव प्रदीयताम्।

आशय—लीजिए यों हमने उनका सन्देशा ला दिया और पाँच रातें भी समाप्त नहीं हुई हैं। अब धर्म को साक्षी कर जो भिक्षा का संकल्प किया है, उसे धर्मपूर्वक पूरा कीजिए।

तदनन्तर दुर्योधन राज्यांश देता है, जो कवि की ही कल्पना प्रतीत होती है। यह तृतीय अंक समाप्त हुआ। यह नाटक तीन ही अंकों का है।

दूतवाक्य

पांडवों के साथ युद्ध का निश्चय हो जाने पर दुर्योधन अपने राजमंडल को निमंत्रित करता है और वैकर्णवर्ष के दो नरेन्द्रों के साथ मंत्रशाला में प्रवेश कर द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, शकुनि, कर्ण तथा अन्य राजाओं को उचित आसनों पर बैठाकर परामर्श करता है कि अपनी एकादश अक्षौहिणी सेना का सेनापति कौन चुना जाय। शकुनि भीष्म का प्रस्ताव करता है जो उसे भी पसंद आता है। यह बातचीत होती ही है कि इतने में बादरायण नाम का कंचुकी सूचना देता है कि पांडवों के स्कंधावार (छावनी) से पुरुषोत्तमनारायण दूत बनकर पधारे हैं। दुर्योधन कृष्ण के लिये यह विशेषण सुनकर सहसा क्रुद्ध हो जाता है और पहले तो बुरी तरह से

उस सेवक को फटकारता है, फिर राजाओं के नेक सलाह देने पर भी वह कहने लगता है कि मैं इस समय केशव का पुरस्कार नहीं किंतु ग्रहण (क़ैद) कर लेना अच्छा समझता हूँ; और आज्ञा देता है कि जो कोई उसके आने पर अपने आसन से उठेगा, उस पर द्वादश सुवर्णभार का दंड होगा। सत्कार के लिये उठने से अपने आप को बचाने के लिये वह द्रौपदी के कचकर्षण तथा चीरहरणवाला चित्रपट मँगवाकर उसे देखना प्रारंभ कर देता है और उसकी भाव-उपपन्नता देखता तथा वर्णाढ्यता की प्रशंसा करते हुए कर्ण से कहता है कि मित्र ! पांडवों के कहने से दूत बन सेवक के समान दुर्बुद्धि दामोदर आया है। आप भी युधिष्ठिर के स्त्रियों के से हलके शब्द सुनने को अपने श्रोत्र तैयार कर लें। इतने में प्रभावशाली कृष्ण कौरवों की विस्तीर्ण शस्त्रशाला, हाथी, घोड़े तथा पार्थिवों के डेरों का निरीक्षण कर ज्योंही दरबार में दिखाई देते हैं, त्यों ही उनके प्रभाव से न केवल सर्व क्षत्रिय अपितु दुर्योधन भी संभ्रांत हो जाता है। वह फिर कहता है—"भो दूत ! एतदासनमास्यताम्" अर्थात् हे दूत ! तुम्हारे लिये यह आसन है, इस पर बैठो। परंतु कृष्ण पहले वयोवृद्ध द्रोण, भीष्मादिकों को अपने आसनों पर बैठने के लिये प्रार्थना कर उन्हें बैठाने के बाद आप बैठते हैं। कृष्ण उपर्युक्त चित्रपट को देख अप्रसन्न होते हैं और उसे तुरंत वहाँ से हटवा देते हैं। दुर्योधन का मिज़ाज इस तरह कुछ ठंढा होता है और वह कृष्ण से युधिष्ठिरादि की कुशलता पूछता है, जिसके उत्तर में वे पहले इस प्रश्न करने की साधुता को सराहते हुए कहते हैं कि वे लोग सकुशल हैं और आपके शरीरसुख, राज्यसुख, परिवार-सुख को चाहते हुए यह सूचना देते हैं कि हमने अब तक बहुत दुख भोग लिया और समय भी संपूर्ण हो चुका, इसलिये अब जो हमारा दायाद्य है, वह बाँट दो। यह सुनकर वह उनके दायाद्य होने में दोष दिखाता है, और कृष्ण के समुचित समाधान करने पर भी कहता है कि तुम राजव्यवहार नहीं जानते। देखो—

राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते।
काङ्क्षा चेन्नृपतित्वमाप्तुमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम्॥

आशय—राज्य तो एक ऐसी वस्तु है कि जिसे राजपुत्र शत्रुओं को जीत भोगा करते हैं। वह संसार में माँगा नहीं जाता और न दीन के लिये दिया ही जाता है। यदि उन लोगों के मन में राज्य पाने की अभिलाषा है तो उन्हें चाहिए कि वे तुरंत साहस दिखावें; नहीं तो अपनी शांति के लिये शांत-मतिवालों के चाहे हुए आश्रम में प्रवेश करें।

इस पर कृष्ण समझाते हैं कि जो पुण्य के संचय से प्राप्त हुई राजलक्ष्मी को पाकर अपने मित्र और बांधवों को धोखा देता है, वह विफलश्रम हो जाता है। परंतु दुर्योधन के ध्यान में एक नहीं आती। वह कंस और मगधेश्वर के साथ किए हुए व्यवहार पर उनके ऊपर लांछन लगाना प्रारंभ करता है जिसका वे समुचित समाधान करते हैं, परंतु फिर भी वह सन्मार्ग का अवलंबन नहीं करता। वे यह सोच कि यों सीधी उँगलियों से घी नहीं निकलेगा, इसको कुछ औटाना चाहिए, कहते हैं कि अरे! तुझे अर्जुन के बल-पराक्रम का पता नहीं। देख! उसने पशुपात को युद्ध में संतुष्ट किया, खांडव वन में लगी हुई अग्नि का बाण-वृष्टि से बुझाया, देवताओं को भी दुख देनेवाले निवात कवचों का अनायास नाश कर डाला, विराट-नगर में अकेले ही भीष्म आदि को पराजित किया। यहाँ तक ही नहीं, चित्रसेन से ले जाए जाते हुए एवं रोते हुए स्वयं तुझको उसने बंधन से मुक्त किया। बस अधिक क्या कहूँ, या तो तू मेरे कहने से राज्य का भाग उन्हें दे दे, नहीं तो सच समझ, वे लोग समुद्र तक की सबकी सब पृथ्वी तुझसे हर लेंगे। दुर्योधन के लिये कृष्ण के सब तरह के उपदेश निरर्थक ही होते हैं। वह पूर्व विचारानुसार उन्हें कैद करने की चेष्टा करता है, परंतु निष्फल हो जाता है।

धृतराष्ट्र अपने पुत्र के इस दुर्व्यवहार की सूचना पाते ही अपने स्थान से बाहर आते हैं और कृष्ण के चरणों में मस्तक नवा अपने पुत्र के कारण क्षमा माँगते हुए अर्घ्य, पाद्य भेंट करते हैं जिन्हें वे ग्रहण कर चले जाते हैं। यह रूपक एक ही अंक का है।

कर्णभार

कर्ण शल्यराज से अपने रथ को उस ओर जहाँ अर्जुन है, ले चलने के लिये प्रेरणा करता है। उसके मन में यह स्मरण करते हुए कि, वह स्वयं कुंती का आत्मज है और युधिष्ठिरादि उसके छोटे भाई होते हैं, इसलिये उनसे युद्ध करने में उसे संताप उत्पन्न होता है, परंतु यह देखकर कि उसको अपना अपूर्व रण-कौशल प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है, प्रसन्नता होती है। फिर भी उसे एक भूतपूर्व प्रसंग चिंता में डालता है और वह शल्यराज से कहता है कि एक समय मैं जामदग्निजी (परशुराम) के पास गया और उनको नमस्कार कर पास ही चुपके से खड़ा हो गया। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दे पूछा कि तुम कौन हो? किस कारण यहाँ आए हो? मैंने निवेदन किया कि मैं आपसे संपूर्ण अस्त्रविद्या सीखने का जिज्ञासु हूँ। इस पर वे बोले कि मैं ब्राह्मणों को उपदेश करूँगा, क्षत्रियों को नहीं। मैंने यह कहकर कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ, अस्त्रोपदेश ग्रहण करना प्रारंभ किया। एक समय गुरुजी फल फूल, समिधा, कुशा और कुसुम लाने बन को पधारे, तब मैं भी उनके साथ हो लिया। वहाँ अधिक घूमने से वे कुछ थक गए और मेरी गोद में शिर रख सो गए। उस अवसर पर दैवयोग से एक कीड़े ने जिसे "वज्रमुख" कहा करते हैं, मेरी दोनों जंघाओं को काटा। परंतु मैंने यह सोचकर कि कहीं गुरुजी की नींद न उचट जाय, बड़े धैर्य के साथ दुःसह वेदना सही। उन्होंने जागकर मेरे घावों से बहते हुए रुधिर को देखा तो मेरी असलियत जान शाप दिया कि समय पर तेरे अस्त्र तेरे लिये निष्फल सिद्ध होंगे। शल्य यह वृत्तांत सुन दुखी होता है,

परंतु कर्ण कहता है कि युद्ध में प्राण देने से स्वर्ग मिलता है, जीतने पर यश है ही। दोनों प्रकार से लाभ ही है निष्फलता तो है ही नहीं। फिर वे दोनों रथ पर चढ़ने लगते हैं। इतने में सब देवताओं के परामर्श से अर्जुन की विजय के लिये यत्न कर, विप्र का वेष धारण किए हुए इंद्र उस ओर आकर कहते हैं—"हे कर्ण! मैं तुमसे एक बहुत बड़ी भिक्षा चाहता हूँ"। कर्ण यह सुन बहुत प्रसन्न होता है और आगे बढ़ उनके चरण स्पर्श कर नमस्कार करता है। इंद्र मन में सोचते हैं कि मैं इससे क्या कहूँ? यदि कहूँ कि दीर्घायु हो, तो यह दीर्घायु हो जायगा; यदि कुछ न कहूँ तो मुझे मूर्ख समझ तिरस्कार करेगा; इसलिये वे कहते हैं—"हे कर्ण, सूर्य के समान, चंद्र के समान, हिमवान् के समान तथा सागर के समान तेरी कीर्ति अचल हो।" कर्ण कहता है—"भगवन्, "दीर्घायुर्भव" ऐसा आशीर्वाद देना क्या योग्य नहीं समझते? अस्तु जो आपने कहा वही ठीक है। कहिए, आपकी क्या इच्छा है? मैं आपके भेंट क्या करूँ? इंद्र कहते हैं—मुझे बहुत भारी भिक्षा चाहिए। इस पर कर्ण क्रम क्रम से सुवर्ण के सींगवाली सुंदर सहस्र गौएँ, कांबोज के सुप्रसिद्ध सहस्रों घोड़े, पर्वत के समान ऊँचे हाथी, असीम सुवर्ण, पृथ्वी, अग्निष्टोम का फल और अपना शिर तक देने को कहता है, परंतु इंद्र इनमें से कुछ भी लेना स्वीकार नहीं करते। अंत में जब वह अपनी देह की रक्षा कवच और कुंडल देने के लिये कहता है, तो वे तुरंत सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। शल्य इस दान का प्रतिषेध करता है, परंतु कर्ण यह कहता हुआ कि देखो—

शिक्षा क्षयं गच्छति काल पर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥

आशय—समय के हेर फेर से शिक्षा भी नष्ट हो जाती है, भले प्रकार जमे हुए वृक्ष भी गिर जाते हैं, जलाशय को प्राप्त हुआ जल

भी सूख जाया करता हैं; परंतु अग्नि में होमा हुआ और (सुपात्र को) दिया हुआ दान ज्यों का त्यों रहता है।

फिर वह उन वस्तुओं को दे ही देता है। शल्य फिर कहता है कि इंद्र ने आपको ठग लिया; परंतु वह अपने मन में तनिक भी ग्लानि नहीं लाता और वे दोनों युद्ध के लिये प्रस्थान करते हैं।

इस नाटक में एक बात विचारने की यह है कि कवि ने इंद्र का वार्त्तालाप संस्कृत में न लिखकर प्राकृत भाषा में लिखा है।

दूतघटोत्कच

धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा जयद्रथ की स्त्री दुःशला, भट जयत्रात के मुख से अभिमन्यु का विनाश सुनकर बहुत दुखी होते हैं, और उनका दुःख उस समय और भी बढ़ जाता है जब उन्हें पता लगता है कि इस बालक का घातक जयद्रथ है और घोर कपट-प्रबन्ध-द्वारा उसका घात किया गया है। इधर दुर्योधन दुःशासन से यह कहता हुआ कि आज हमने मधुसूदन के मद का उन्मूलन कर दिया, मामा शकुनि से अपने पिता के पास चल अभिवादन करने को कहता है, परंतु वह यह बताते हुए कि उन्हें (धृतराष्ट्र को) यह कुलविग्रह नापसन्द है, इसका अनुमोदन नहीं करता। फिर भी दुर्योधन उसे अपने साथ ले जाता है और ये तीनों अपना अपना नाम लेकर अभिवादन करते हैं, परंतु धृतराष्ट्र मौन-मुद्रा लगाए रहते हैं। अन्त को ये स्वयं पूछते हैं कि आज आप आशीर्वाद क्यों नहीं देते। इस पर वे इन्हें खूब झिडकते हैं और बालवध की निन्दा करते हैं। वे भी वृद्ध भीम की मृत्यु का दोष पांडवों पर लगाते हैं। इतने ही में अर्जुन की सुप्रसिद्ध प्रतिज्ञा की सूचना आ जाती है, जिसे सुन दुर्योधन प्रसन्न होकर कहता है कि मैं जयद्रथ को छिपा लूँगा और अभेद्यरूप व्यूह संयोजित करूँगा, जिससे हतमनोरथ हुए पांडव अपने आप अग्नि में प्रवेश कर नष्ट हो जायँगे। धृतराष्ट्र कहते हैं कि ये सब तुम्हारी निरर्थक कल्पनाएँ हैं। चाहे जयद्रथ पृथ्वी में घुसा हो, चाहे आकाश

में चढ़ा हो, याद रक्खो कृष्ण के नेत्र रूपी तीर सर्वत्र उसके प्राण हरण करने को पहुँचे रहेंगे। इतने में दूत के रूप में घटोत्कच आ पहुँचता है और धृतराष्ट्र को पहले युधिष्ठिरादि का अभिवादन निवेदन कर फिर आप अभिवादन करता है। वे उसके प्रति स्नेह प्रकट करते हुए कहते हैं कि पौत्र! मुझको यह सुन अच्छा नहीं लगता कि भाई (अभिमन्यु) के विनाश के कारण तुमने भी युद्ध में प्रवृत्ति कर ली। तुमको कदाचित् यह ज्ञात नहीं होगा कि अपने पुत्रों के दोष से मैं कितना कृपण (दीन) कर दिया गया हूँ। इस पर घटोत्कच कहता है कि निस्सन्देह आप साक्षात् कल्याणस्वरूप हैं और यह अनुभव करते हुए कि एक पुत्र के विनाश से जब चचा अर्जुन की ऐसी अकथनीय शोकावस्था हो गई, तो अनेक पुत्रों के विनाश को देखनेवाले आप की न जाने कैसी दुःखद अवस्था होगी। इसके आगे वह श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाता है कि आप शीघ्र अपनी सेना को सजाइए जिससे पुत्र-शोक से उत्पन्न हुई अग्नि आपके प्राण-रूपी हवि को न खा जाय। इस पर धृतराष्ट्र कहते हैं कि जब सक्रोध व्यवसाय से कृष्ण ने उसे वचन कहे हैं, तो मुझे विश्वास हो गया कि अब सब क्षत्रिय अर्जुन के द्वारा भस्म कर दिए जायँगे। दुर्योधन चिढ़कर कहता है कि जो अकेले अर्जुन से अखिल क्षात्र-मंडल की विजय की कल्पना करता है, वह वास्तव में दिन में तारे देखता है। घटोत्कच इस अपहास से अपने आपको रोकने में असमर्थ होकर कहता है कि अच्छा भले ही आप हँसी कर लें पर अब आप भी कृष्ण का संदेश सुन लें। दुःशासन यह कहते हुए कि कृष्ण कोई राजा नहीं है और साधारण व्यक्ति का सन्देश चक्रवर्ती दुर्योधन नहीं सुन सकते, उसे रोक देता है। घटोत्कच कृष्ण के राजा होने का समर्थन करता है, जिस पर दुर्योधन दुःशासन से कहता है कि क्यों झगड़ा बढ़ाते हो; और घटोत्कच से कहता है कि कृष्ण राजा हो चाहे अ-राजा, बली हो चाहे दुर्बल, अधिक कहने से क्या लाभ तुम तो यह कहो कि तुम्हारे प्रभु ने क्या कहा है। इसके उत्तर देने की ज्योंही वह चेष्टा

करता है त्यों ही शकुनि से झगड़ा हो जाता है और फिर दुःशासन साभिमान कहता है कि यदि तुम्हें मातृपक्ष का कुछ गर्व है तो याद रखो हम भी उग्र स्वभाव के राक्षस ही हैं। वह कहता है कि राम राम ! आप तो राक्षसों से कितने ही दर्जे अधिक क्रूर हैं; क्योंकि—

"न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचराः
शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः।
न च सुतवधं संख्ये वृत्तं स्मरन्ति निशाचरा
विकृतवपुषोऽप्युग्राचारा घृणा न तु वर्जिता॥"

आशय—राक्षस लाख के महल में सोते हुए भाइयों को नहीं जलाया करते, वे अपने भाई की स्त्री को शिर से भी ऐसे नहीं छूते जैसे आपने छुआ, वे युद्ध में बालक को मारने का भी विचार नहीं करते, वे विकराल शरीरधारी होते हुए भी आचार तथा दया से वर्जित नहीं होते।

यों आपस का झगड़ा बढ़ जाता है और दुर्योधन के यह कहने पर कि हम कृष्ण को बाणों द्वारा यथार्थ उत्तर देंगे, घटोत्कच चला जाता है। यह नाटक एक ही अंक का है।

ऊरुभंग

द्रौपदी के केशाधर्षण के समय की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार भीमसेन युद्ध में दुर्योधन का ऊरुभंग करता है, परंतु उन दिनों में योद्धा की कटि के नीचे प्रहार करना युद्ध के नियमों के विरुद्ध समझा जाने से बलदेव जी कुपित हो रुधिर में सने हुए दुर्योधन को सान्त्वना देते हुए अपने लाङ्गलायुध द्वारा भीम को इस विप्रतिपत्ति पर दंड देने के लिये कहते हैं। दुर्योधन उन्हें ऐसा करने से रोकता है। इतने में शोक संतप्त धृतराष्ट्र और गान्धारी तथा पीछे पीछे दुर्योधन का पुत्र दुर्जय और अन्य स्त्रियाँ आती हैं। दुर्योधन पुत्र को देख अपने मन में कहता है कि यह बालक मुझे पराजित जान अपने मन में क्या कहेगा ? माता-पिता दुर्योधन को देखकर विलाप करते हैं

और वह उनको समझाता है कि देखिए मैं जिस मान से आप के यहाँ उत्पन्न हुआ, उसी मान से मर रहा हूँ। मैं युद्ध में सर्वदा अपराङ्मुख रहा। फिर आप क्यों शोक करते हैं? माता के प्रति वह कहता है कि यदि मैंने कोई पुण्य किया है तो मैं उसका यही प्रतिफल चाहता हूँ कि अन्य जन्म में भी तू ही मेरी माता बने। इसी प्रकार अपनी मालवी और पौरवी नाम की रानियों से वह कहता है कि देखो, मैंने नाना वेदोक्त यज्ञ किए, युद्ध में अनेक राजाओं को सन्तप्त किया, कभी पीठ नहीं दिखाई। फिर हे क्षत्राणियों! तुम क्यों रोती हो? तदनन्तर दुर्जय को शिक्षा देता है कि पुत्र! तुम पांडवों को मेरे समान समझ उनकी शुश्रूषा करना, श्रीमती गान्धारी और माता कुन्ती की आज्ञा का पालन करना और अभिमन्यु की माता तथा द्रौपदी का अपनी माता के समान सत्कार करना। इतने ही में उग्र कोपाकुल अश्वत्थामा आ पहुँचता है और दुर्योधन से बातचीत करते हुए कहता है कि मैं कृष्ण-समेत पांडवों का नामावशेष कर डालूँगा। दुर्योधन यह कहता हुआ कि देखो न कर्ण रहा, न भीष्म रहे, न मेरे भाई रहे, सानुरोध प्रतिषेध करता है, परन्तु वह कहता है कि मैं रात्रि में युद्ध छेड़ पांडवों को स्वाहा करने की पूर्व ही प्रतिज्ञा कर चूका हूँ, अतः परवश हूँ। दुर्योधन अति विह्वल हो शान्तनु, कर्ण, अभिमन्यु, उर्वशी, महार्णव, गङ्गा, विमान आदि स्वर्गीय दृश्य देखता हुआ प्राण त्यागता है।

संस्कृत में केवल यही एक शोकांत नाटक (Tragedy) है। इस नाटक का निम्न लिखित श्लोक, जो प्रारंभ में सूत्रधार कहता है, कुछ रूपान्तर से भगवद्गीता के ध्यान में विद्यमान है—

भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गांधारराजह्रदां
कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम्।
तीर्णः शत्रुनदीं शरासिसिकतां येन प्लवेनार्जुनः
शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः॥

आशय—भीष्म और द्रोण जिसके तट हैं, (अभिमन्यु का घातक) जयद्रथ जल है, गान्धारराज (शकुनि) अगाध जल का गड्ढा है, कर्ण तरंग है, अश्वत्थामा नक्र (घडियाल) है, कृपाचार्य मगर-मच्छ है, दुर्योधन स्रोत (बहाव) है, ऐसी तीरों रूपी बालूवाली शत्रु रूपी नदी को जिन श्रीकृष्ण रूपी नौका द्वारा अर्जुन ने पार किया वे भगवान् श्रीकृष्ण आप लोगों को अपने शत्रुओं से मुक्त होने में नौका के समान सहायक हों।

गीता के ध्यान के श्लोक का पाठ इस प्रकार है:—

भीष्मद्रोणतटाजयद्रथजला गांधारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेणवहनी कर्णेनवेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पांडवैः रण नदी कैवर्तकः केशवः॥

प्रतिज्ञायौगंधरायण

यह नाटक इतिहास और राजनीति के प्रयोगों से ओतप्रोत होने से पाठकों को मुद्राराक्षस की शैली के समान आनन्ददायक है। अवन्ति का राजा प्रद्योत जो बहुत सेनावाला होने से "महासेन" नाम से प्रसिद्ध है, अपनी युवती पुत्री वासवदत्ता का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन (वत्सराज) से करना चाहता है, परंतु इस विषय में भग्नमनोरथ होने से वह छल से उदयन को पकड़वा लेता है। उदयन का मंत्री यौगन्धरायण गुप्तचरोंद्वारा प्रद्योत के कपट-प्रबंध की सूचना पाता है, परंतु पूर्व इसके कि वह राजा को इस विषय में पूर्ण रूप से सचेत करने का अवसर प्राप्त करे, गजवशी-करण विद्या में विचक्षण उदयन मृगया के लिए रवाना हो जाता है। मंत्री सालक नाम के पुरुष को झटपट उसके पास भेजने का यत्न करता है। परंतु इतने ही में राजा का एक औपस्थितिक (अंगरक्षक) आकर सूचना देता है कि आज प्रभात के पूर्व ही नर्मदा नदी को पार कर राजा नागवन को चले गए। वहाँ एक पुरुष ने आकर निवेदन किया

कि मैंने यहाँ से एक कोस दूर पर मल्लिकालता और साल वृक्षों में छिपा हुआ नख और दन्त को छोड़कर नितान्त नीला हाथी देखा है। राजा ने उसे सौ सुवर्ण (सोने के सिक्कों) का पारितोषक दिया और यह कहकर कि हस्ति शिक्षा में पढ़ा हुआ यह नीलकुवलय नाम का चक्रवर्ती हस्ती है। रुमण्वान् मंत्री के रोकने पर भी केवल बीस पदातियों को साथ ले वे बन में चले गए। राजा वहाँ उस हाथी को, जो कृत्रिम था, परंतु ऐसी अच्छी कारीगरी से बनाया गया था कि पहचान में नहीं आता था, देख घोड़े से उतर उसे वश में करने की घोषवती वीणा बजाने लगे। इतने ही में अचानक बहुत से आदमी आ कूदे जिनसे युद्ध हुआ। राजा ने बहुत वीरता के साथ मार धाड़ की, परंतु प्रतिपक्षी बहुत थे, अतः वे घायल होकर प्रद्योत के मंत्री शालङ्कायनद्वारा पीनस में बैठाकर उज्जैन भेज दिए गए।

मंत्री और रणवास इस दुर्घटना से बहुत दुःखी होते हैं, परंतु उत्साहसंपन्न स्वामी भक्त मंत्री यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि मैं राजा को शीघ्र छुड़ाकर न ले आऊँ तो मेरा नाम यौगंधरायण नहीं। यह प्रथम अंक का सार है।

कंचुकी प्रद्योत से निवेदन करता है कि काशिराज का उपाध्याय आर्य जैघंति विवाह-संबंध के विषय में दूत बनकर आया है। राजा उसको परमादर से ठहराने के लिये कहता है। इतने ही में रानी अंगारवती आती है और कहती है कि वासवदत्ता उत्तरा नाम की वैतालिका के पास नारदीय वीणा सीखने को गई है, जिसको कोई गांधर्व विद्या में निपुण आचार्य की आवश्यकता है। राजा कहता है कि अब वह विवाह के योग्य हो गई, अतएव पति ही उसको शिक्षा देगा; और पूछता है कि अपना संबंध मगध, काशी, बङ्ग, सौराष्ट्र, मिथिल और शूरसेन देश के राजाओं से है। इनमें से कौन सा तुम्हें पसन्द आता है ? इतने ही में एक आतुर राजसेवक तत्क्षण आकर कहता है—"वत्सराज"। फिर विश्रब्ध हो निवेदन करता है कि वत्सराज तो शालङ्कायनद्वारा क़ैद कर लिया गया।

प्रवीण मंत्री यौगन्धरायण के जीजी वत्सराज का ग्रहण असंभव समझ राजा को सहज ही में इस विषय में विश्वास नहीं होता। वह पूछता है—क्या उदयन बन्दी हो गया? शतानीक का पुत्र? सहस्रानीक का पौत्र? कौशाम्बी का राजा? गान्धर्ववित्तक (गांधर्व विद्या का पूर्ण ज्ञाता)? सेवक प्रत्येक बार "जी हाँ" करता है। तब वह विश्वास लाता है और इस संबंध की कई एक बातें पूछने के बाद वह अपने मुख्य मंत्री को राजकुमार के सदृश सन्मान और शिष्टाचार के साथ उदयन को अपने सन्मुख लाने की आज्ञा देता है। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक में वत्सराज को छुड़ाने के लिये यौगन्धरायण के उद्योग तथा अपने साथियों से इस विषय में किए हुए परामर्श का वर्णन है। ट्रावनकोर की राजकीय ग्रन्थशाला में एक "मंत्राङ्क व्याख्यानम्" नाम का छोटा सा ग्रंथ है जो वास्तव में प्रतिज्ञायौगन्धरायण के तृतीय अंक के कुछ अंश का व्याख्या-रूप है। उससे यह प्रतीत होता है कि इस अंक को पहले "मंत्राङ्क" कहा करते थे। कवि ने इसकी भाषा ऐसे ढंग से लिखी है कि जिसके दो अर्थ निकलते हैं। एक जो प्रत्यक्ष है, वह पागलों की बात चीत है; और दूसरा अभिमत अर्थ लक्षण से सिद्ध होता है। इसमें प्रथम डिण्डिक वेष में वत्सराज के मंत्री वसंतक का प्रवेश बताया है। वह उन्मत्तक वेषधारी यौगन्धरायण तथा श्रमणक वेषधारी रुमण्वान् मंत्रियों से नगर के बाहर अग्नि-गृह में मिलता है और कहता है कि मैं छिपकर राजा से मिल आया। यौगंधरायण कहता है कि अब तुम फिर जाकर उनसे मिलो और कहो कि हमने महासेन के नलागिरि नामक हाथी को खूब उन्मत्त करने का प्रबंध कर लिया है। वह जब घोर उत्पात करेगा और किसी से भी वश में नहीं किया जा सकेगा, तब प्रद्योत झक मारकर गज-विद्या-विचक्षण आपसे उसको नियंत्रित करने के लिये प्रार्थना करेगा। आप उस पर सावधानी से चढ़ जाइएगा और उसे अपने वश में कर अपने देश को रवाना हो जाइएगा। यों जैसे उसने

आपको हाथी द्वारा छला, वैसे ही वह स्वयं छला जायगा। वसन्तक कहता है कि राजा का प्रेम वासवदत्ता से हो चुका है और उन्होंने यह कहा है कि काम के विचार से नहीं किंतु शत्रु के अपमान के विचार से उसे भी साथ में हर ले चलें तो अपने तिरस्कार का पूर्ण प्रतिकार हो जायगा। यौगन्धरायण यह सब कुछ सिद्ध करने की प्रतिज्ञा करता है।

चौथे अंक में यह दर्शाया है कि यौगंधरायण गुप्त रीति से अपने मनुष्यों को महासेन की राजकीय संस्थाओं में विशेष कर हस्त्यागार (फीलखाने) में गात्रसेवक और हस्तिपक के स्वरूप में नियुक्त करवा देता है और उनके द्वारा एक दिन नलागिरि हाथी उन्मत्त करवा दिया जाता है। जब वह घोर उपद्रव करने लगता है और किसी के भी वश में नहीं आता, तब महासेन गजवशीकरण विद्या में विचक्षण उदयन को उसे नियंत्रित करने के लिये स्वतंत्र करता है। वह शीघ्र ही गजराज को वश में कर लेता है और महासेन की उपकृतज्ञता का पात्र बन जाता है। युवती राजकुमारी वासवदत्ता इसके पास वीणाभ्यास के लिये आती जाती रहती है और इनमें पारस्परिक स्नेह के अंकुर भी उग जाते हैं। तदनन्तर उदयन एक दिन यौगंधरायण के रचे हुए कूट-प्रबंध द्वारा वासवदत्ता सहित भद्रवती नाम की हथिनी पर सवार होकर उज्जैन से कौशाम्बी को रवाना हो जाता है। इस भेद के प्रकट होते ही उज्जैन में युद्ध प्रारंभ हो जाता है। यौगंधरायण और उसके पक्ष के पुरुष बड़ी वीरता के साथ लड़ते हैं, परंतु दैवयोग से उसकी तलवार विजयसुन्दर नाम के हाथी के दाँत से टकराकर टूट जाती है और वह पकड़ लिया जाता है। स्वामी-भक्त साहसी यौगंधरायण इस दुर्घटना से तनिक भी नहीं घबराता। वह प्रसन्नतापूर्वक कहता है--

वैरं भयं परिभवं च समं विहाय
कृत्वा नयैश्च विनयैश्च शरैश्च कर्म।

शत्रोः श्रियं च सुहृदामयशश्च हित्वा
प्राप्तो जयश्च नृपतिश्च महांश्च शब्दः ॥

आशय—वैर, भय, और अपयश को नितान्त ध्यान में न लाकर नीति, विनय और वीरता से शत्रु के यश और मित्रों के अपयश को मिटा कर मैंने [शत्रु पर] विजय, नरपति (वत्सराज) का छुटकारा और कीर्ति को प्राप्त किया है ।

जब वह बन्दी होकर राजमार्ग से ले जाया जाता है, तो वहाँ के झुंड के झुंड मनुष्य उसे देखने को आते हैं। राजपुरुष उनको दूर हटाने लगते हैं, परन्तु वह उनको ऐसा करने से रोकता है और कहता है कि मेरे किसी दर्शनाभिलाषी को मत हटाओ।

पश्यन्तु मां नरपतेः सचिवं ससत्वं*
राजानुरागनियमेन विपद्यमानम् ।
ये प्रार्थयन्ति च मनोभिरमात्यशब्दं,
तेषां स्थिरीभवतु नश्यतु वाभिलाषः ॥

आशय—राजभक्तिव्रत के कारण विपत्ति को प्राप्त हुए राजा (वत्सराज) के मुझ सचिव को सब कोई भले प्रकार से देखो। जिन पुरुषों के मन में "अमात्य" पद प्राप्त करने की लालसा है, वे मेरे इस उदाहरण से सोच समझकर अपनी जिज्ञासा को स्थिर करें—अथवा छोड़ दें ।

इतने में एक भट आकर राजपुरुष से कहता है कि मन्त्री भरतरोहक ने कहा है कि यौगन्धरायण को आयुधागार में रखना चाहिए, जहाँ पर अच्छा रक्षा-विधान है। यह सुन यौगन्धरायण को हँसी आ जाती है और वह कहता है कि वाह, कैसी हँसी की बात है—

---

* मूल में "पुरुषाः स सत्वाः" ऐसा पाठ है; परन्तु श्रीमान् केशवलाल जी ध्रुव ने "प्रधाननी प्रतिज्ञा" में "सचिवं ससत्वं" पाठ की कल्पना की है जो उत्तम है। आपने अपने गुजराती अनुवाद में कई पाठान्तरों की कल्पना की है जो बड़े चमत्कृत हैं।

अग्निं बद्ध्वा वत्सराजाभिधानं,
यस्मिन् काले सर्वतो रक्षितव्यम्।
तस्मिन् काले सुप्तमासीदमात्यै-
र्नीते रत्ने भाजने को निरोधः॥

आशय—वत्सराजरूपी अग्नि को बंधन में लाकर जिस समय देखभाल करना उचित था, उस समय तो अमात्य लोग सोते रहे; और अब रत्न के चुराए जाने पर बर्त्तन की ऐसी देख रेख करना किस काम का है।

पश्चात् यौगन्धरायण के बंधन खोल दिए जाते हैं और मंत्री भरतरोहक उससे मिलने को आता है। वह कहता है कि हमने पहले "यह यौगन्धरायण है, वह यौगन्धरायण है" इस प्रकार युद्ध में बताया जाता हुआ आपका नाम ही सुना, परंतु अब आपके साक्षात् दर्शन हुए हैं। वह इस पर उत्तर देता है कि अच्छा पश्यतु भवान् माम्—

एवं रुधिरदिग्धाङ्गं वैरंनियममास्थितम्।
गुरोरवजितं हत्वा शान्तं द्रौणिमिव स्थितम्॥

आशय—पिता के पराजय के कलंक को धोकर अश्वत्थामा के समान रुधिर से सनकर खड़े हुए मुझको आप पेट भर कर देखिए।

इस गर्व-पोषित उत्तर को सुनकर भरतरोहक कहता है कि उन्मत्त हाथी के संयोग से छल करके आप ऐसा शौर्याभिमान करते हैं? वह उत्तर देता है कि तनिक आप अपनी करतूतों को तो निहारें। क्या साल वृक्षों में बनावटी हाथी रखकर वत्सराज को बन्दी कर लेना छल नहीं था? हमने तो आपकी पूर्व में की हुई करतूतों की पुनरावृत्ति ही की है। वह कहता है कि अच्छा, उस बात को तो जाने दें; तनिक यह विचारें कि महासेन की कुमारी वासवदत्ता को जो शिष्या के रूप में वत्सराज के सुपुर्द की गई थी, चोर की सी तरह ले जाना आप कहाँ तक ठीक समझते हैं? यौगन्धरायण उत्तर देता है कि यह आप के समझने की भूल है। देखिए,

धर्मवृत्तिवाला वत्सराज कभी अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता। उस कन्या का विवाह-संकल्प हमारे महाराज के लिये पहले ही हो चुका था। फिर वह (भरतरोहक) कहता है कि देखिए, हमारे महाराज ने वत्सराज का बन्दी होने पर भी सत्कार किया। आप राज्यव्यवहार को पूर्ण रूप से जानते हैं। क्या समर में जीता हुआ वध के योग्य नहीं होता? यौगन्धरायण उत्तर देता है कि अजी इन बातों को रहने दीजिए; आपका राजा भी उसके हाथ में था; परंतु उसने उसे क्षति नहीं पहुँचाई, क्या इस बात को नहीं सोचते? भरतरोहक कहता है कि अच्छा, अब आप यह कहें कि महासेन के प्रतिकूल आचरण करके अपनी राजधानी कौशाम्बी पहुँचने का आपने क्या विचार किया है? वह उत्तर देता है कि वाह, इसकी आपने ख़ूब चिंता की, देखिए—

भवतां चाग्रतो यातः शेषकार्येषु का कथा।
समूलं वृक्षमुत्पाट्य शाखाश्छेत्तु कुतः श्रमः॥

आशय—आपके देखते देखते वत्सराज आपके सामने से चले गए, अब शेश कार्य्य की क्या कथा? जब वृक्ष को ही समूल उखाड़ दिया तो शाखाओं के काटने में परिश्रम ही क्या है?

तदनन्तर कंचुकी आता है और महासेन का सन्देश सुनाता है—

कारणैर्बहुभिर्युक्तैः कामं नापकृतं त्वया।
गुणेषु न तु मे द्वेषो भृङ्गारः प्रतिगृह्यताम्॥

आशय—महाराज कहते हैं कि आपने अनेक कारणों से हमारा अपकार नहीं किंतु उपकार किया है। आपके गुणों से मुझको द्वेष नहीं है; अतएव यह भृङ्गार (स्वर्णकलश) ग्रहण कीजिए।

यौगन्धरायण उसे ग्रहण करने में संकोच करता है, परंतु जब उसे यह पता लगता है कि महासेन अपनी कन्या का वत्सराज के साथ गान्धर्व रीति से विवाह स्वीकार करता है और विवाह की शेष रस्में एक चित्र पर वर वधू की आकृति बनवाकर पूरी कर-

खाने की तज़वीज करता है, तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। पटाक्षेप होकर नाटक समाप्त होता है।

भास के अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक की रचना क्लिष्ट है।

स्वप्नवासवदत्ता

उदयन और वासवदत्ता की कथा कथासरित्सागर में सविस्तर लिखी हुई है, परंतु भास की वर्णित की हुई कुछ बातों से उसमें थोड़ा बहुत विरोध आता है। कथासरित्सागर में लिखा है कि कौशांबी आकर उदयन अपने मंत्रियों पर राज्य-भार छोड़ वासवदत्ता के अनन्य प्रेम में आसक्त हो गया। मंत्रियों ने विचार किया कि यह राजा पांडवों के वंश में उत्पन्न हुआ है; इसके पूर्वज चक्रवर्ती राज्य भोगते थे, परंतु इसका शासन वत्सदेश मात्र में ही है। यह इस समय काम और मृगया के वशीभूत हो रहा है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे यह सचेत हो जाय और संपूर्ण पृथ्वी का राज्य इसके हाथ में आ जाय। ऐसा करने में ही हमारी राजभक्ति और मंत्रीपन की सफलता है। इस मनोरथ के सिद्ध करने में एक आपत्ति यह थी कि समीपवर्त्ती बलवान् मगध-राज्य के राजकुल और वत्सवालों में पारस्परिक सद्भाव नहीं था, जिससे यदि ये लोग अपने राज्य के विस्तार के लिये यत्न करते तो उनका इनके यत्नों को निष्फल करने की चेष्टा करना अवश्यंभावी था। उन दिनों में मगध का राजा "दर्शक" था और उसको एक बहिन थी जिसका नाम पद्मावती था। यह त्रिभुवन-विलोभनीयाकृति पद्मावती तब तक कुमारी ही थी और उदयन के सुचारु रूप, औदार्य और दीन-वत्सल-स्वभाव की प्रशंसा करनेवाली थी। मंत्रियों ने सोचा कि यदि किसी प्रकार से इस पद्मावती का उदयन से विवाह हो सके, तो राज्य बढ़ाने में न केवल आपत्ति ही दूर होगी वरन् मगध देश से बहुत सहायता मिलेगी। इस बात के होने में दो कठिनाइयाँ थीं। एक तो यह कि उदयन वासवदत्ता के होते हुए दूसरी स्त्री से

विवाह करना पसंद नहीं करता था; और दूसरे उदयन की पटरानी वासवदत्ता के होते हुए दर्शक पद्मावती को कनीयसी रानी के स्वरूप में ब्याहना पसंद नहीं कर सकता था। मंत्रियों ने सब आगा पीछा सोचा और वासवदत्ता को भी राज्य की विद्यमान अवनति और कल्पित उमंगों की वार्त्ता कह सुनाई जिसे सुन पतिहितचिंतक तथा साहस-व्यवसायिनी वासवदत्ता ने इष्ट-साधन में मंत्रियों की प्रपंचपूर्ण युक्तियों में भाग लेना स्वीकार किया। इसे स्वप्नवासवदत्ता नाटक की पूर्वपीठिका समझना चाहिए। नाटक की कथा अब लिखी जाती है—

पद्मावती तपोवन-निवासिनी अपनी माता से मिलकर लौटते हुए तपस्वी जनों को अभिप्रेत दान देने की घोषणा करवाती है। तपस्विनी के स्वरूप में वेष बदली हुई वासवदत्ता को अपने साथ लिए यौगन्धरायण वहाँ घूमता हुआ आता है और इस घोषणा को सुनकर यह कहता है कि यह मेरी बहिन है; इसका पति परदेश गया हुआ है; मैं कुछ काल के लिये इसे पद्मावती की निगरानी में रखना चाहता हूँ और उसके सपुर्द कर देता है। यह काम वह यों करता है कि जब कालांतर में वह वासवदत्ता को राजा के अर्पण करे तो पद्मावती, जिसका विवाह उदयन से कराने को वह यत्नवान् है, उसके सच्चरित्र की साक्षिणी रहे।

इतने में एक ब्रह्मचारी आता है और कुशल प्रश्नांतर इन लोगों से कहता है कि "मैं लावाणक नगर में (जो वत्स और मगध की सीमा पर है) वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ काल से निवास करता था। राजा उदयन भी वहाँ मृगया के लिये गया था। पीछे से उस नगर में आग लग गई जिसमें रानी वासवदत्ता जलकर मर गई और उसका परित्राण करने में प्रयत्नशील यौगन्धरायण मंत्री भी उसी अग्नि में स्वाहा हो गया। राजा लौटकर इस दुर्घटना को देख मूर्च्छित हो गया। रुमण्वान् उसको राजधानी में ले गया है और उसकी बहुत यत्नपूर्वक अन्वेक्षणा कर रहा है। नगर के

नष्ट हो जाने से मैं भी वहाँ से चला आया हूँ।" तदनंतर संध्या का समय हो जाता है और सब आपस में अभिवादन कर विदा होते हैं।

दूसरे और तीसरे अंक छोटे छोटे हैं और उनमें एक भी पद्य नहीं है। इन अंकों में पद्मावती की कंदुक-क्रीड़ा, उदयन का संयोग-वश राजगृह आना और दर्शक का अपनी बहिन पद्मावती को उसके साथ ब्याहना, वासवदत्ता का पद्मावती के लिये कौतुक-मंगल-माला गूँथना दिखाया है।

चौथे अंक में दिखाया है कि पद्मावती और वासवदत्ता प्रमदवन में आती हैं और फूलों की शोभा देखती हुई एक लतामण्डप में बैठ जाती हैं। राजा भी वसंतक को साथ लिए वहीं आता है और एक स्थल पर बैठकर पद्मावती की प्रतीक्षा करता है। थोड़ी ही देर में आकाश में पंक्ति बाँधे सारस पक्षी उड़ते हुए दिखाई देते हैं जिनको ध्यान से देखती हुई स्त्रियाँ राजा को देख लेती हैं। धूप बढ़ जाने से वसंतक राजा से कहता है कि अपने समीपवर्ती कुंज में चलें; और ज्यों ही वह उस कुंज में, जिसमें पद्मावती आदि पहले से ही बैठी हुई हैं, प्रवेश करने का प्रयास करता है, त्यों ही एक चेरी रानी की अनुमति से एक डाली को, जिस पर बहुत से भौंरे बैठे हुए हैं, हिला देती है। वे उड़ते हैं और वसंतक अन्दर आने का प्रयत्न त्यागकर पास ही राजा सहित बाहर बैठ जाता है और कुछ देर बाद राजा से कहता है कि देखिए, यह प्रमदवन सूना है। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ और वह यह कि आपकी एक रानी तो देवलोक को गई, दूसरी इस समय आपके पास नहीं है। अब आप सच सच कहिए कि आपको इन दोनों में से कौन सी अधिक प्यारी है। रानियाँ पीछे से कुंज में बैठी हुई इन बातों को सुन रही हैं। राजा बड़े संकट में पड़ जाता है और वसंतक के अति आग्रह करने पर लाचार होकर कहता है कि यद्यपि रूप, शील और माधुर्य के कारण मैं पद्मावती को विशेष आदरणीय समझता हूँ, परंतु तो भी वह वासवदत्ता में मुग्ध बने हुए मन को उधर से हटा नहीं सकती।

यह सुन एक चेटी कहती है कि देखिए, महाराज का कैसा अदाक्षिण्य है ! परंतु उत्कृष्ट विचारवाली पद्मावती उत्तर देती है कि नहीं, यह आर्य्यपुत्र की गुणविशिष्टता है कि वे अब भी आर्य्या वासवदत्ता के गुणों का स्मरण करते हैं। राजा इस संपर्क से अपनी भूतपूर्व रानी का अनुचिंतन करते हुए बाष्पाकुल हो जाता है और वसंतक मुख धोने के लिये जल लेने जाता है । परंतु ज्यों ही वह एक कमल के पत्ते में जल लेकर आता है, त्यों ही उसे मार्ग में पद्मा-वती रोक लेती है और स्वयं वह जल लेकर राजा को भेंट करती है। राजा उसको देखकर चौंक पड़ता है, परंतु अव्यक्त रूप से वसंतक द्वारा समझाए जाने से कहता है—

अये मानिनी काश फूले यहाँ हैं। निशानाथ जैसी जिन्हों की प्रभा है।
उड़े आँख में लेश मेरे गिरे हैं। इसी से, प्रिये ! आँसु आए हुए हैं ॥

पाँचवें अंक में यह बताया है कि पद्मावती के सिर में दर्द हो जाता है और एक चेटी इस समाचार को वासवदत्ता से, और वसंतक राजा से निवेदन करता है । राजा जो कि पहले ही से अपनी पूर्व सहधर्मिणी के वियोग की वेदना से विदीर्णहृदय है, विश्रम-स्थानभूत नवोढ़ा के अस्वास्थ्य का समाचार सुनते ही पर्या-कुल हो जाता है और तुरंत वसंतक के साथ समुद्रगृह को, जहाँ वह बतलाई जाती है, चल देता है। वे दोनों उस स्थान पर पहुँचते हैं, परंतु पद्मावती को वहाँ नहीं पाते। वसंतक कहता है कि कदा-चित् रानी यहाँ आकर चली गई हो। परंतु राजा कहता है कि बिछौने में कोई सलवट नहीं है, चादर ज्यों की त्यों पड़ी है, न तुलाई की घड़ी उघड़ी है, न तकिया किसी लेप से मैला हुआ है; इससे स्पष्ट है कि वह अभी आई ही नहीं । अतएव हम यहाँ बैठ उसकी प्रतीक्षा करें। वह पलँग पर बैठता है और थोड़ी ही देर में उसे शीतल समीर की सुगंध के प्रभाव से नींद आने लगती है जिसे रोकने के लिये वह वसंतक से कहता है कि मित्र ! कोई कथा कहो। वसंतक यह कहते हुए कि अच्छा आप हुँकार भरते जायँ,

कथा प्रारंभ करता है—"उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। वहाँ कई अत्यंत रमणीय स्नानागार हैं।" राजा सविच्छेद कहता है, क्या कहा? उज्जयिनी? वसंतक कहता है, अच्छा यदि आपको यह कथा पसन्द नहीं है तो दूसरी कहता हूँ। राजा कहता है, पसंद ना-पसन्द की बात नहीं है; किन्तु प्यारे मित्र!

स्मराम्यवन्त्याधिपते सुतायाः प्रस्थानकाले स्वजनं स्मरन्त्याः।
बाष्पं प्रवृद्धं नयनान्तलग्नं स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः॥

आशय—मुझ मन्दभाग्य को उज्जयनी शब्द के सुनते ही वह उज्जैन-नरेंद्र-नंदिनी याद आ गई। वह दृश्य ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने है कि जब हम उज्जैन से चले, तब कुटुंबीजनों का स्मरण कर स्नेह के अश्रु उस प्रिया वासवदत्ता ने मेरी गोद में गिराए थे।

वसंतक कहता है, तो आप दूसरी कथा सुनें—"ब्रह्मदत्त नाम का एक नगर है। वहाँ कांपिल्य नाम का राजा राज्य करता था"। राजा कहता है, क्या कहा? क्या कहा? वह वही अशुद्ध वाक्य फिर बोलता है, जिसे सुन राजा समझाता है कि मूर्ख। राजा ब्रह्मदत्त* और नगर

---

* यह तो निश्चय के साथ कौन कह सकता है कि वसंतक क्या कथा कहना चाहता था, परंतु इतना अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि वह उपस्थित प्रसंग के अनुकूल किसी प्राचीन प्रसिद्ध कथा को कहता। वाल्मीकि रामायण के बालकांड में विश्वामित्र के वंश की जो कथा लिखी हुई है, उसमें राजा ब्रह्मदत्त और नगर कांपिल्य दोनों मिल जाते हैं। तैंतीसवें सर्ग के निम्नलिखित श्लोक इस विषय में अवलोकनीय हैं।

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ ब्राह्ममनुत्तमम्।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चलिनः सुतम्॥
स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत्तदा।
कांपिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम्॥
स बुद्धिं कृतवान्राजा कुशनाभः सुधार्मिकः।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा॥

कांपिल्य ऐसा कह। तदन्तर वसन्तक राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य, राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य यों बेर बेर घोकता है और राजा को नींद आ जाती है। वसन्तक राजा को सोया हुआ देख ठंढ होने के कारण अपना अँगरखा लेने चल देता है। उधर चेटी वासवदत्ता के पास पहुँच पद्मावती की शिरोवेदना की सूचना देती है जिसे सुन वह आकुल हो तुरंत समुद्रगृह को, जहाँ पर वह बताई जाती है, चल देती है। वास्तव में पद्मावती समुद्रगृह में नहीं आती है। वहाँ राजा लेटा हुआ है। वासवदत्ता उस स्थान में सहसा घुस जाती है और सोए हुए राजा को पद्मावती ही समझ लेती है। वह यह देखकर प्रसन्न होती है कि इसे नींद आ गई है, यह नियमशील और चैन का साँस ले रही है और मन में समझती है कि अवश्य इसकी बेचैनी दूर हो गई होगी। वह सोचती है कि शय्या के एक भाग में करवट लेकर सोई हुई मानों यह सूचित कर रही है कि मुझे आलिंगन कर। अच्छा मैं भी इसके पास सो जाऊँ। ऐसा विचार कर वह भी सो जाती है। परन्तु ज्यों ही वह सोती है, त्यों ही राजा जिसका मन जागते हुए वासवदत्ता के स्मरण में लगा हुआ था, स्वप्न में कहता है "हा वासवदत्ता"! यह सुनते ही वह सहसा उठ खड़ी होती है और उसका भ्रम क्षणमात्र को निवारण हो जाता है। वह पहचान जाती है कि ये तो आर्य्यपुत्र हैं, न कि पद्मावती। राजा फिर स्वप्न में कहता है "हा अवंति-राजपुत्री!" वासवदत्ता को निश्चय हो जाता है कि राजा स्वप्नावस्था में हैं। वह यह सोच कि यहाँ और कोई तो है ही

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना॥
यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा॥
स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा॥ इत्यादि।

नहीं, अपने नेत्रों और हृदय को तृप्त करने के लिये तनिक ठहरने का उद्यम करती है। राजा फिर स्वप्न में कहता है "हा प्रिये! हा प्रिय शिष्ये! बोल तो सही"। वासवदत्ता उत्तर देती है, बोलती हूँ; स्वामी, बोलती हूँ। राजा फिर कहता है—"क्या रूठ गई"? वह कहती है नहीं, नहीं दुःखी हूँ। राजा फिर स्वप्न में ही कहता है—"यदि रुष्ट नहीं हो तो आभरण क्यों नहीं पहने हो?" रानी फिर वहीं खड़ी हुई सोचती है कि देखें, इसके आगे क्या करते हैं। राजा कहता है—"क्या विरचिका को याद करती हो* ?" वासवदत्ता सरोष कहती है—यहाँ पर भी विरचिका! राजा हाथ को थोड़ा सा फैलाता है और कहता है—लो, मैं तुम्हें प्रसन्न करूँ। वासवदत्ता यह समझकर कि मुझे बहुत देर हो गई और कोई देख न ले, राजा के पलंग से लटके हुए हाथ को धीरे से पलंग पर कर चलने का विचार करती है, परन्तु ज्यों ही वह राजा के हाथ को छूती है, त्यों ही राजा जाग पड़ता है। रानी तुरन्त भाग जाती है। राजा भी वासवदत्ता! ठहर! ठहर! कहता हुआ उसके पीछे भागता है, परन्तु पूर्ण सचेष्ट न होने से अंधाधुन्ध भागते हुए कमरे के किवाड़ से धक्का खाकर गिर पड़ता है। इतने ही में वसन्तक लौट आता है और कहता है—आप सो चुके ?। राजा कहता है कि मित्र! तुम्हें एक अत्यन्त आनन्द की बात सुनाता हूँ और वह यह है कि प्यारी वासवदत्ता जीवित है। वह अभी शय्या में सोते हुए मुझको जगाकर चली गई। उसके जल जानेकी झूठी खबर उड़ाकर रुमण्वान् ने मुझको ठग लिया है। वसन्तक कहता है कि अजी अब वासवदत्ता कहाँ है? उसे बीते दिन बीते। हाँ एक तरह से आपका कहना भी यथार्थ है। देखिए, मैं जो

* कथासरित्सागर में लिखा है कि विरचिका नाम की कोई भोगिनी थी; उससे उदयन ने गुप्त भोग किया था। यह रहस्य जब वासवदत्ता को ज्ञात हुआ तो वह बहुत अप्रसन्न हुई। पति का सपत्नी को स्मरण करना स्त्री को दुःखदायक होता ही है।

आपसे वह उज्जैन के स्नानालयवाली कथा कह रहा था, उसके संस्कार से वह याद आई हुई स्वप्न में साक्षात् हो गई होगी। इस पर राजा कहता है—

यदि होवे यह स्वप्न, धन्य धन्य अबुधित दशा।
करता रहे प्रसन्न, विभ्रम ही यदि होय यह॥

विदूषक कहता है कि रहने दीजिए, अब अपनी हँसी मत कराइए। इस नगरमें अवंतिसुंदरी नाम की एक यक्षिणी रहती है। संभव है, वही आपको दिखाई पड़ी हो। राजा पर ये चिकनी चुपड़ी बातें कुछ भी असर नहीं करतीं। वह फिर कहता है कि भाई!

स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम्।
चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम्॥

आशय—स्वप्नके पश्चात् जागे हुए मैंने अपने शीलकी रक्षा करती हुई, सुरमा-रहित नेत्रवाली तथा लंबे अलकोंवाली (वासवदत्ता) का मुख देखा।

वसंतक राजा को सान्त्वना देता है और इतने ही में महाराज दर्शक का एक कंचुकी आकर कहता है कि "महाराज! हमारे महाराज दर्शक ने कहलाया है कि अमात्य रुमण्वान् "आरुणि" को दबाने के लिये बहुत सेना लेकर आ पहुँचा है। मेरी भी विजयी चतुरंगिणी सेना तैय्यार है। शत्रुओं में फूट कर दी है। शत्रुओं के हाथ में आने पर भी आपके गुणों के संबंध में अनुरागी प्रजा को आश्वासन दे दिया है। शत्रुओं से रक्षा, शत्रु के ध्वंस करने में जो जो सहायक बातें हैं वे सब मैंने कर ली हैं। सेना गंगा के पार पहुँच चुकी है और अब आप गए हुए वत्सदेश (के विभाग) को पुनरपि अपने हाथ में आया हुआ समझिए।" यह सुन राजा युद्धके लिये चल देता है और पटाक्षेप होता है।

छठे अंक में जो इस रूपक का अंतिम अंक है, यह बताया है कि महासेन का भेजा हुआ रैभ्य गोत्र का कंचुकी, और रानी अंगारवती की भेजी हुई वसुन्धरा नाम की वासवदत्ता की धात्री आती है।

प्रतीहारी कहती है कि यह समय महाराज से मिलने के लिये उचित नहीं है। आज जब वे रणवास के झरोखे में थे, तब किसी ने वीणा बजाई। उसको सुनकर उन्होंने कहा कि यह शब्द "घोषवती" वीणा का सा है। तदनंतर महाराज ने स्वयं वीणा बजानेवाले के पास आकर पूछा कि तुमको यह कहाँ से प्राप्त हुई ? उसने उत्तर दिया कि यह मुझको नर्मदा नदी के किनारे दूब के झुंड में मिली। यदि आपको इससे कुछ प्रयोजन हो तो आप इसे रखिए। पश्चात् महाराज ने उसे अपनी छाती से लगा लिया और वे मूर्छित हो गए। जब सचेत हुए तो बोले "ऐ घोषवती ! तू मिल गई। परंतु वह (वासवदत्ता जो तुझे बजाया करती थी) नहीं मिलती"। यह ऐसा अनवसर है, अतएव मैं आप लोगों का यहाँ आना कैसे महाराज से निवेदन करूँ ? कंचुकी कहता है कि हमारे आने का संदेश प्रसंग के अनुकूल ही है; तुम अवश्य निवेदन करो। इतने में स्वयं राजा वीणा लिए हुए रणवास से उतरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और वे बड़े आर्द्र-हृदय से रानी वासवदत्ता को याद करते हैं। तदनंतर रैभ्य और वसुन्धरा का आगमन उनसे निवेदन किया जाता है। राजा सोचते हैं कि क्या यह वृत्तान्त (वासवदत्ता का जल जाना) इतना जल्दी उनके कानों तक पहुँच गया ? वे पद्मावती से इन लोगों के आने के विषय में कहते हैं और वह उत्तर देती है कि "बहुत उत्तम, मेरे बंधुवर्ग के कुशल वृत्तान्त को सुनना मुझको भी अभीष्ट है"। राजा कहता है—धन्य है कि तुम वासवदत्ता के बंधुवर्ग को अपना बंधुवर्ग मानती हो। यह औदार्य तुम्हारे कुल और शील के अनुकूल है। पद्मावती आसन पर नहीं बैठती और राजा के इस विषय में पूछने पर उत्तर देती है कि कदाचित् आपका यह दूसरा विवाह उन लोगों को अप्रिय लगेगा। राजा उसे वहीं बैठा लेता है और वह कहती है—पिता ने वा माता ने इन लोगों के द्वारा क्या कहला भेजा होगा, इस चिन्ता में मैं मग्न हूँ। राजा कहता है—मैं भी इसी संबंध में ऐसा डरा हुआ हूँ जैसे पुत्र पिता को अप्रसन्न करके डरता है। तदनंतर

कंचुकी का प्रवेश होता है और वह क्षेमकुशल वर्णन कर कहता है कि आपका वैरियों से हरा हुआ राज्य पुनरपि आपके अधिकार में कर लिया गया है; इसके लिये बधाई है। पश्चात् उसके साथ आई हुई वसुंधरा कहती है कि महारानी अंगारवती प्रसन्न हैं। आपका कुशल पूछा है। राजा वासवदत्ता का स्मरण कर वाष्पाकुल होकर कहता है, अम्ब ! यहाँ तो ऐसी कुशल हो गई। रैभ्य समझाता है कि आप संतोष करें। आर्यपुत्र से इस प्रकार अनुकम्पा की हुई महासेन की पुत्री मरी हुई भी अमर है। देखिए—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मा वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च ॥

आशय—जब मृत्यु आ जाती है तब कौन किसको रोक सकता है ? रस्सी के टूट जाने पर घड़े को गिरने से कौन बचा सकता है ? इस संसाररूपी वन में मनुष्य वृक्ष के समान समय समय पर नष्ट होते हैं और उत्पन्न होते हैं।

तदनंतर धात्री वसुंधरा कहती है कि महारानी अंगारवती ने कहा है कि वासवदत्ता तो सिधार गई। मेरे और महासेन के तो जैसे पुत्र गोपालक और पालक हैं, वैसे ही आप हैं। आपको कन्या देने के लिये पहले ही विचार रक्खा था, इसी लिये आपको उज्जयिनी लाए। वीणा सिखाने के बहाने से बिना अग्नि की साक्षी के ही आपका संबंध हो गया। अपनी चपलता से विवाह महोत्सव होने के पूर्व ही आप चले गए। पश्चात् हमने आपको और वासवदत्ता की प्रति-कृति चित्र में बनवाकर विवाह कृत्य पूरा किया। वही चित्र आपके पास भेजा है। इसको देखकर आप अपने चित्त को शांत करें। राजा अपनी सास के इन स्निग्ध वचनों की सराहना करता है और कहता है कि तुमने मुझ अपराधी का भी स्नेह नहीं बिसारा। पद्मा-वती जो कि निरंतर वासवदत्ता के गुणगान सुनने से उसके विषय

में अत्यंत कुतूहलाक्रांत थी, कहती है "आर्य्यपुत्र ! मैं चित्र में लिखे हुए गुरुजनों के दर्शन तथा उनको नमस्कार करना चाहती हूँ।" धात्री उसे वासवदत्ता का चित्र दे देती है और वह उसे देखकर सशंक हो मन में सोचती है कि यह आकृति तो आर्या आवंतिका (तपस्विनी के वेष में यौगंधरायण का बताया हुआ वासवदत्ता का नाम) से बहुत कुछ मिलता है। वह पूछती है कि आर्य्यपुत्र ! क्या यह आर्या की आकृति के समान ही है ? राजा कहता है कि समान क्या, मानो साक्षात् है। हाय--

अस्य स्निग्धस्य वर्णस्य विपत्तिर्दारुणा कथम्।
इदं च मुखमाधुर्यं कथं दूषितमग्निना॥

आशय--इस कोमल रूप पर यह दारुण विपत्ति कैसे आई ! हाय इस मुखमाधुर्य को अग्नि ने कैसे बिगाड़ा।

पद्मावती कहती है कि आर्य्यपुत्र की तसवीर को देखकर मुझको ठीक ज्ञान हो जायगा कि यह आर्या के सदृश है या नहीं। वह राजा का चित्र ले लेती है और उसे ठीक राजा की आकृति के समान खिंचा हुआ पाती है। राजा पूछता है कि यह क्या बात है ? जब से आपने यह चित्र देखा है, तब से आपको प्रसन्न होते हुए भी उद्विग्न के समान देखता हूँ। वह उत्तर देती है कि इस प्रतिकृति के समान ही स्वरूपवाली एक स्त्री यहाँ रहती है। जब मैं कन्या थी, तब एक ब्राह्मण ने "यह मेरी बहन है" ऐसा कहकर मुझे धरोहर की तरह सौंप दिया। इतने ही में प्रतीहारी आकर निवेदन करती है कि उज्जयिनी का एक ब्राह्मण आया हुआ है। वह कहता है कि मेरी बहन महारानी के पास धरोहर है। राजा उसे योग्य शिष्टाचार के साथ अंदर बुलवाता है और उसका शब्द सुनकर मन में कहता है कि यह तो पहले कभी मिला हुआ सा मनुष्य है। इसकी बोली तो पहले सुनी हुई सी है। राजा बड़े विस्मय में पड़ जाता है और ज्यों ही पद्मावती तुरंत जाकर आवंतिका को लेकर आती है, त्यों ही वसुंधरा धात्री उसे देखते ही कहती है--अरे ! यह तो राजकुमारी

वासवदत्ता है। ब्राह्मण कहता है—नहीं नहीं, यह तो मेरी बहन है। राजा अत्यंत विस्मयाकुल और साश्चर्य हो जाता है और कहता है कि क्या यह वही स्वप्न मुझको फिर दिखाई दे रहा है? क्या गज़ब है। तदनंतर वासवदत्ता और यौगंधरायण अपने आपको प्रकट कर देते हैं। पद्मावती भी अत्यंत चकित हो जाती है और कहती है कि आर्ये! आपको न जानकर मैंने आपसे सखीजन के समान व्यवहार कर शिष्टाचार का उल्लंघन किया, इसके लिये आपके चरणों में शिर नवाकर क्षमा चाहती हूँ। वह उसे सप्रेम उठा लेती है। तदनंतर सब लोग इस शुभ समाचार को उज्जैनवालों को निवेदन करने को जाते हैं और नाटक समाप्त होता है।

अविमारक

कुन्तिभोज नाम का राजा अपनी स्त्री से पुत्री कुरङ्गी के विवाह के विषय में कुछ बात चीत करता है। इतने ही में उसका अमात्य कौञ्जायन वहाँ आकर निवेदन करता है कि राजकुमारी उद्यान में गई थी। वहाँ अकस्मात् एक मदान्ध हाथी ने उसके रथ पर आक्रमण किया और वह एक परव्यसन-सहायी पुरुष के द्वारा, जिसके कुलशील का पता लगाने अमात्य भूतिक गया है, बड़ी कुशलता के साथ बचाई गई। राजा इस समाचार को बड़ी अकुलाहट के साथ सुनता है। इतने ही में भूतिक भी आ जाता है और वह प्रासंगिक वृत्तान्त पूछे जाने पर कहता है कि जिस पुरुष ने इस संकट में सहायता की है, उसका नाम अविमारक है। उसने अपने आप को अन्त्यज प्रसिद्ध कर रक्खा है, परन्तु इसमें कुछ भेद है; क्योंकि वह रूप में देवताओं के समान है; उसकी बोलचाल वेदज्ञों के समान है; उसकी सुकुमारता, बल और तेज साक्षात् क्षत्रियों का सा है। फिर भी वह अन्त्यज ही निकले तो यह कहना पड़ेगा कि हमारा शास्त्रानुशीलन व्यर्थ ही रहा। राजा मंत्री को इस विषय में अधिक अनुसंधान करने की प्रेरणा करता है और राजकुमारी के पाणिग्रहण के विषय में आए हुए काशिराज के तथा अन्य दूतों के

विषय में कुछ वार्तालाप कर विपत्ति-विमुक्त पुत्री तथा उस उपद्रव के संबंध में सहानुभूति प्रकट करने को आए हुए महाजनों से मिलने चला जाता है। यह प्रथम अंक का सार हुआ।

अविमारक का "संतुष्ट" नामक मित्र, जो इस नाटक में विदूषक है, घूमता हुआ आता है और एक चेटी को देख कर पूछता है, कहो तुम यहाँ कैसे ? वह कहती है कि मैं भोजन का निमंत्रण देने के लिये किसी ब्राह्मण को ढूँढ़ रही हूँ। संतुष्ट कहता है—वाह ! मैं जो उपस्थित हूँ। मुझे क्या श्रमणक (बौद्ध साधु) समझ रक्खा है ? वह कहती है कि तुम अवैदिक हो। यह सुन संतुष्ट कहता है कि रामायण नाम का एक नाट्य-शास्त्र है। उसके ५ श्लोक मैंने वर्ष भर के भीतर ही पढ़े हैं। इतना ही नहीं किंतु उनका अर्थ भी जानता हूँ। अतएव तुम्हें मुझ जैसा अक्षरज्ञ और अर्थज्ञ विप्र मिलना दुर्लभ है। उसके पांडित्य की परीक्षा करने के लिये वह अपनी उँगली की अँगूठी दिखाकर पूछती है कि बताओ यह क्या अक्षर है ? निरक्षर भट्टाचार्य कुछ सोचकर कहता है कि यह अक्षर तो मेरी पुस्तक में है ही नहीं। चेटी इतने ही में उसके हाथ की अँगूठी देख लेती है जिसे वह चट उतार कर बड़े चाव से उसे देखने को दे देता है। वह उसे लेकर भाग जाती है। अविमारक कुरंगी के रूप के अनुरूप यौवन और यौवन के सदृश सौकुमार्य को निहार मोहित हो जाता है और उस उपप्लव से आकर उसी के चिन्तन में मग्न रहता है। कुरंगी पर भी इस युवा का वैसा ही प्रभाव पड़ता है और उसकी धात्री इसके निवास-स्थान पर दो एक चेटियों को साथ लेकर आती है। अविमारक चिन्ताग्रस्त हो अकेला बैठा हुआ अपने आप ही अपनी प्रियतमा की प्रशंसा में कुछ उच्चारण करता है। धात्री पूछती है—आप क्या चिन्तन करते हैं ? वह उत्तर देता है कि योग शास्त्र। इस पर वह कहती है कि हमारे महलों में आप से भी अधिक योग का चिन्तन करनेवाला एक प्राणी है। उसके साथ आप का अच्छा योग विधान होगा।

देख! ऐसा वार्तालाप कर वे उसे गुप्त रूप से राजमहल में आने को प्रस्तुत कर लेती है। यह द्वितीय अंक का सार है।

तीसरे अंक में यह बताया है कि एक चेटी कुरंगी को सूचना देती है कि आप काशिराज के पुत्र जयवर्मा के लिये दे दी गईं। इसको वह स्वीकार नहीं करती। अविमारक खड्ग और रज्जु हाथ में लिए चोर का वेष धर कुरंगी से मिलने को चलता है। प्रस्थान करते समय वह सोचता है कि युवा अवस्था भी क्या अपूर्व अवस्था है—

रागं विजृम्भयति संश्रयते प्रमादं
दोषान् न चिन्तयति साहसमभ्युपैति।
स्वच्छन्दतो व्रजति नेच्छति नीतिमार्गं
बुद्धिं शुभां सुविदुषामवशीकरोति॥

आशय—यह राग को बढ़ाती है, प्रमाद को आश्रय देती है, दोषों का चिन्तन नहीं करती, साहस को सहसा अंगीकार कर लेती है, स्वच्छन्द भटकती है, न्यायमार्ग में प्रेम नहीं करती। यहाँ तक इसका प्रभाव है कि अच्छे अच्छे विद्वानों की भी शुभ बुद्धि को अनियंत्रित कर डालती है।

कवि ने इसके आगे अविमारक ने रात्री में प्रवेश करते हुए मार्ग और राजकुल में जो दृश्य देखे, उन्हें सविस्तर वर्णन करते हुए कुरंगी का सानुराग मिलाप दिखाया है।

चौथे अंक में यह दिखाया है कि प्रच्छन्न रूप से कुरंगी के साथ सहवास करते हुए अविमारक को एक वर्ष हो जाता है; परंतु उस समय के उपरांत यह रहस्य राजा के कानों तक पहुँच जाने से उसे कन्यापुर से निकलना पड़ता है। वह अपनी प्रिया के वियोग रूपी अग्नि से अत्यंत संतप्त होकर एक पर्वत से गिरकर अपने प्राण परित्याग करने की चेष्टा करता है। उस अवसर पर मेघनाद नामक एक विद्याधर अपनी सहधर्मिणी सौदामिनी के साथ मलयपर्वत पर भगवान् अगस्त्य के आराधन के लिये किए जानेवाले उत्सव में सम्मिलित होने को जाता हुआ वहाँ आ पहुँचता है। वह अविमारक

में भी मिलता है और उसके रहस्य को जान करुणाकृष्ट हो उसे एक अँगूठी दे देता है, जिसमें ऐसा प्रभाव है कि यदि कोई उसे दहिने हाथ की उँगली में पहन ले तो वह अदृश्य और बाएँ हाथ की उँगली में पहन ले तो प्रकृतिस्थ हो जाता है। अविमारक इस अँगूठी को लेकर वापस आता है और मार्ग में अपने मित्र संतुष्ट का, जिससे मिले बहुत दिन हो गए थे, सानुराग चिंतन करता है। वह कहता कि यदि उस ब्राह्मण ने मेरा महलों में से निर्गमन सुन लिया है तब तो अच्छा है; नहीं तो वह बहुत संतप्त होगा। मेरा भी जीवन उसके बिना किस काम का है? क्योंकि—

स हि—गोष्ठीषु हास्यः समरेषु यौधः शोके गुरुः साहसिकः परेषु।
महोत्सवो मे हृदि किं प्रलापैर्द्विधा विभक्तं खलु मे शरीरम्॥

आशय—वही अपने (संतुष्ट) समाज में साक्षात् हँसी है, युद्ध में योद्धा है, शोक में गुरु के समान है, शत्रुओं के उपस्थित होने पर वह साहसी है, मेरे हृदय का महोत्सव है, अधिक कहने से क्या, हम मानों एक जान दो शरीर हैं।

थोड़ी देर बाद वह अपने मित्र से मिल जाता है और अँगूठी पाने की कथा कहकर उसे भी उसका प्रभाव दिखा उसे साथ ले अंतःपुर में जाता है। इस प्रकार चतुर्थ अंक समाप्त होता है।

अविमारक का महलों से चला जाना कुरंगी को अत्यंत विह्वल कर देता है। वह अस्वस्थ हो जाती है और उसकी माता उसके लिये औषध का उपचार करती है जो निरर्थक सिद्ध होता है। वह दृष्टि-विलोभन का बहाना कर प्रासाद के ऊपर चढ़ जाती है। इतने ही में अविमारक भी अपने मित्र के साथ उस ओर आ जाता है और दूर ही से उसे देख अपने मित्र को दिखाकर कहता है—

वयस्य! दृष्टा सा कुरङ्गी। यैषा,

रोगादकालागुरुचन्दनार्द्रा, विमुक्तभूषा गतहावभावा।
विभाति निर्व्याजमनोहराङ्गी, वेदश्रुतिर्हेतुविवर्जितेव॥

आशय—प्यारे सखा! आप कुरंगी को देखिए? देखिए, वह रोग

के कारण बिना अवसर भी अगर, चंदनादि सुगंधियाँ लगाकर तर हो रही है। न कोई आभरण पहने हुए है, न किसी प्रकार का उसमें हावभाव है। अकृत्रिम मनोहर अंगवाली वह ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे बिना हेतु (प्रमाण) वेद की ऋचा।

वह उसे देख संतुष्ट हो कहता है कि आप अपने लिये कहा करते थे कि मैं संसार में सुरूप हूँ। परंतु आप इसके स्वभावरमणीय रूप से पराजित कर दिए गए। मैं जानता हूँ कि यह आपके वियोग से दुबली हो गई है। उधर कुरंगी नलिनिका से, जो उसके स्वास्थ्य संबंधी समाचार पूछने आती है, मिलती है और उष्ण श्वास लेती हुई, चारों ओर देखती हुई, नेत्रों से नीर बहाती हुई, फाँसी लगाकर मरने को तैयार होती है। परंतु इतने में सहसा बिजली की कड़क सुन घबरा जाती है और रक्षा के लिये पुकारती है। अविमारक जो कुछ दूर से छिपकर इस दृश्य को देख रहा था, तुरंत आगे बढ़कर उसे पकड़ लेता है और सांत्वना देता हुआ कहता है—

अयं खल्वस्याः परिष्वङ्गः,

सततपरिचितो मनोभियोगादधिकरसः प्रथमात् समागमात्।

रणशिरसि नृपेण साहसाप्तः विजय इवाद्य मयानुभूयते॥

आशय—आज यह परिष्वङ्ग (आलिंगन) कितना अपूर्व है! यह कोई नया नहीं है, तो भी सबसे प्रथम के आलिंगन से अधिक रसवाला है। मैं इस समय मानों युद्ध में राजा के साहस से प्राप्त किए हुए विजय के जैसा आनंद अनुभव कर रहा हूँ।

संतुष्ट इनको वाष्पाकुल देख मन में विचारता है कि मुझको भी मित्र के दुःख को देख दुःखी हो रोना चाहिए। वह रोने का यत्न भी करता है परंतु विफल हो कहता है—क्या करूँ, मेरे तो नेत्रों में से एक भी आँसू नहीं गिरता। जब मेरा बाप मरा था, तब भी बहुत व्यवसाय करने पर मैं रुदन करना प्रारंभ कर सका था। वह अनुत्सुक रुदन करता है जिसे सुन अविमारक कहता है कि बस! हँसी रहने दो (अच्छलो हि स्नेहो नाम) स्नेह में छल को तनिक

भी स्थान नहीं है। (प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे, समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः) समझदार और मूर्ख का शरीर कार्ययोग में एक सा प्रयुक्त दिखाई देता है न कि बुद्धि। तदनंतर नलिनिका अंगरागादि लेकर कुरंगी के पास आती है और अविमारक से मिलती है और पूछती है कि आप किस प्रकार यहाँ आ सके। वह उसका अपने मित्र संतुष्ट से परिचय कराता है और कहता है कि मेरे यहाँ आने की कथा अथ से इति तक तुमको यह बतलावेगा। तदनंतर अविमारक कुरंगी को परम दर्शनीय मेघमंडल दिखाता हुआ कहता है—

व्योमार्णवोर्मिसदृशा निनदन्ति मेघा
मेघप्ररोहसदृशाः प्रपतन्ति धाराः।
रक्षोङ्गनाभ्रुकुटिवत् तडितः स्फुरन्ति
प्राप्तोऽप्रयौवनघनस्तनमर्दकालः॥

आशय—आकाशरूपी समुद्र में तरंगरूपी मेघ शब्द कर रहे हैं, मेघ की वृद्धि के समान धाराएँ गिर रही हैं, राक्षसों की स्त्रियों के सक्रोध भौंह चढ़ाने के समान बिजली चमक रही है, सचमुच यह विहार करने योग्य समय उपस्थित हुआ है।

फिर मेंह बरसने लगता है और वे दोनों अंदर चले जाते हैं। यों पाँचवाँ अंक समाप्त होता है।

(शेष आगे)

(७) श्रीमती अहिल्याबाई

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद जी जोधपुर]

हुलकरों के घराने में अहिल्याबाई साहिब भी वैसी ही वीर प्रकृति की रानी हुई थीं जैसी छत्रपति महाराज शिवाजी के घराने में ताराबाई साहिबा थीं। इनका जन्म सिंधिया कुल में हुआ था और शादी हुलकर घराने में महाराज मल्हारराव के बेटे खंडेराव से हुई थी। इन दोनों चाँद सूरज के संयोग से दो लड़का-लड़की रूपी तारे या रत्न उत्पन्न हुए थे। लड़के का नाम मालीराव और लड़की का मजताबाई था।

खंडेराव बाप के जीते जी ही भरतपुर के घेरे में गोली लगने से वीर-लोक को चले गए थे जिससे मल्हारराव महाराज के पीछे संवत् १८२५ में मालेराव हुलकर गद्दी पर बैठे और ६ महीने पीछे ही भूत* लग जाने से मर गए। बाई साहिबा ने शोक-संताप और विलाप तो बहुत किया, पर बस की बात नहीं थी। धीरज धरकर संतोष कर लिया। राज का काम तो बन्द नहीं रह सकता था और फिर ऐसे गोलमाल के समय में जब कि हर तरफ गदर मचा हुआ था और रात दिन की पकड़ धकड़ में सावधान रहने के बिना काम नहीं चलता था। इसलिये लाचारी से अहिल्याबाई साहिबा ने गद्दी पर बैठकर राज करना शुरू किया। पुराना घाघ दीवान गंगाधर मैदान खाली देखकर अपना ही अख्तियार रखना चाहता था और

---

* मालेराव ने एक निरपराध पटवे को मार डाला था। वह भूत बनकर उनको लगा और बकरा कि मैं महाराज की जान लूँगा। अहिल्याबाई साहिबा ने तरह तरह से न्योहरे और विनती करके उसे राजी करना चाहा, परंतु वह राजी न हुआ। निदान महाराज के प्राण लेकर गया। हुलकर राज्य में यह बात बहुत प्रसिद्ध है और मालवे की हिंदी उर्दू तवारीखों में भी सविस्तर लिखी है।

बाई साहिबा के कर्ता धर्ता रहने से उसका मनचाहा नहीं हो सकता था। इस वास्ते उसने यह बहाना खड़ा करना चाहा कि हुलकरों के घराने में से कोई बच्चा बाई साहिबा की गोद में देकर मालीराव की जगह बैठावे और राज का सब काम उसके नाम से आप करता रहे। पर यह बात बाई साहिबा के सामने उसके मुँह से नहीं निकल सकती थी; इसलिये उसने पूने में जाकर श्रीमंत पेशवा के भाई राघोबा को रुपयों का लालच देकर अपने शामिल कर लिया और वहाँ से बाई साहिबा के पास आकर कहा कि बगैर मर्द के राज का काम नहीं चल सकता। कौन फौज को सँभालेगा और कौन श्रीमंत पेशवा का हुक्म आने पर उनके लश्कर में हाजिर होकर दुश्मनों से लड़ने को जायगा? जब ये बातें न होंगी तो राज जाता रहेगा। इससे यह ठीक होगा कि कोई लड़का गोद ले लिया जाय। राघोबा दादा का भी यही कहना है। यदि आप गोद न लें तो वह जबरदस्ती किसी लड़के को आपकी गोद में रख देगा। उस वक्त यदि आप उसका कहना नहीं मानेंगी तो वह लड़ने को आवेगा। तब कौन यहाँ उसका सामना करेगा?

बाई साहिबा ने यह सुनकर उसको बहुत फटकारा और कहा कि यह क्या मूर्खता की बात तूने कही। न मुझे राघोबा का कुछ देना है और न लड़का गोद लेना है। राघोबा दादा कौन है और क्यों जबरदस्ती लड़का गोद देगा। यह तूने क्या कहा। मैं जो कहूँ सो सुन ले कि मेरे बेटे के पीछे मेरे सिवाय कोई मल्हारराव महाराज की गद्दी का मालिक नहीं है। मैं एक महाराज के बेटे की रानी और दूसरे महाराज की माँ हूँ और मेरा हक है कि मैं जो चाहूँ सो करूँ और जिसे चाहूँ उसे रखूँ; और जिसे न चाहूँ उसे कौन रख सकता है।

दीवान यह सुनकर बहुत खिसियाना हुआ और अपना सा मुँह लेकर चला गया। तब बाई साहिबा ने सब बड़े बड़े सरदारों को बुलाया और उनसे भी वही कहा जो दीवान से कहा था और फिर उनको समझाया कि दीवान जो करना चाहता है, उसमें

क्या क्या बुराई है और फिर कैसे कैसे पराई टाँगें अपने घर में अड़ती हैं।

उन्होंने भी बाई साहिबा की बात पसंद की और धर्म कम देकर कहा कि यदि राघोबा इस मामले में टाँग अड़ावेगा तो हम उससे लड़ेंगे और आपकी बात न जाने देंगे।

दीवान को कहाँ चैन पड़ता था। वह फिर राघोबा के पास गया। राघोबा ने बाई साहिबा को बड़ी ताकीद से लिखा कि हमारी बात मानो, लड़का गोद ले लो, काम दीवान को सौंप दो; नहीं तो हम आवेंगे और जबरदस्ती लड़का गोद दे देंगे।

बाई साहिबा ने जवाब लिखा कि स्त्रियों से भी कोई लड़ता है। जो मर्द होते हैं वे ऐसी बात से बहुत बचते हैं। हमसे लड़ोगे तो तुम्हीं बदनाम होगे, इज्जत जायगी; और यहाँ से गई हुई इज्जत फिर कभी वापस नहीं आवेगी। मेरा कुछ नहीं जायगा। जीती तो सारे नगर में यश छा जायगा; हारी तो लोग कहेंगे स्त्री थी। और तुम जो जीते भी तो दुनिया क्या कहेगी। यही कहेगी कि एक अबला विधवा स्त्री को मारा, क्या बड़ा काम किया। और जो हारे और भागे तो फिर क्या कहेगा। यह कलंक का टीका कभी तुम्हारे माथे से नहीं मिटेगा, कहीं मुँह नहीं दिखा सकोगे।

राघोबा को यह लिखकर श्रीमंत पेशवा को भी सब हाल की अरजी लिखी और राघोबा दादा से लड़ने की तैयारी की। सरदारों को बुलाया और हुलकरों का सब राज्य संकल्प कर दिया। यह सुनकर राघोबा दादा फौज लेकर आया। बाई साहिबा भी लड़ने को उठ खड़ी हुईं। चार कमानें हाथी के हौदे में बाँधीं; तीरों के दस्ते भी रख लिए, हथियार लगाए बख़्तर पहना, हाथी पर बैठीं। सब फौज साथ ली, लड़ने को चढ़ीं, राघोबा के सामने गईं।

राघोबा के सरदारों ने जब बाई साहिबा को इस तरह से काली कंकाली कालिका का रूप धारण किए हुए आते देखा तो उनके शस्त्र ढीले पड़ गए। राघोबा से कहने लगे कि हम तो इस

लड़ाई में आपका साथ नहीं देंगे और बाई साहिबा से लड़कर कलंक का टीका अपने माथे पर नहीं लगवावेंगे। यह सुनकर राघोबा का मुँह उतर गया। तब तो महाजी सिंधिया और जानू जी भोसला ने भी कहा कि घर में ही शिकार खेलते हो और अपने पुरखाओं के बनाए हुए सरदार को बिगाड़ते हो। हम हुलकर के घराने को न मिटावेंगे, औरत की जात पर हथियार उठाकर मर्द न कहलावेंगे। आप हमारे और इनके मालिक हैं। यदि आपको यही मंजूर है तो पहले आप चलें। हम भी पीछे से आ जायँगे।

ये दोनों सरदार भी हुलकर की तरह पेशवा के राज्य की छत के स्तंभ थे। राघोबा ने जो इनका भी यह मत देखा तो इनको समझाने लगा कि मैं तो हुलकर का घर रखने के लिये आया हूँ। चाहता हूँ कि अहल्या बाई कोई लड़का अपनी जाति का गोद ले लें जिसमें राज बना रहे, फ़ौज भी बनी रहे, हमारी चाकरी में भी फर्क़ न पड़े। स्त्रियों से ये काम नहीं हो सकते हैं। परन्तु वह हमारा कहना भी नहीं मानती हैं और मान-मर्य्यादा छोड़कर हमारा सामना भी करती हैं; फिर उनको क्यों दंड न दिया जायगा।

उन्होंने कहा कि यदि कोई मर्द हो तो आप जैसा कहें, उसको वैसा ही दंड दें; पर इसको क्या दंड दें। यह तो आप लड़ने मरने को तैयार है। लड़े बिना इसको कोई दंड नहीं दिया जा सकता और लड़ने में कुछ लाभ नहीं; क्योंकि न जीतने में कुछ जस है और न हारने में। बात बनाने की जगह है। दोनों सूरतों में बदनामी है। और फिर श्रीमंत पेशवा का भी कुछ हुक्म नहीं है। हम सब के मालिक तो वे ही हैं। इतना बड़ा काम उनसे बिना पूछे करने में बड़ी जोखिम की बात है।

निदान इन बातों से लड़ाई कुछ दिनों के लिये टल गई। राघोबा के न आने से बाई साहिबा भी रणभूमि से छावनी में लौट आईं; मगर लड़ने के वास्ते हर दम कमर बाँधे रहती थीं। उनके शरीर में वीर रस का ऐसा आवेश हो गया था कि लड़ने और मरने के वास्ते

उनकी बोटी बोटी फड़कती थी। जैसे पिछले वर्षों में रानी दुर्गावती और चाँद बीबी ने अपने शत्रुओं से लड़कर साके किए थे, वैसे ही वे भी करके चाहती थीं कि रणक्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हों और भारत भूमि की वीर बालाओं की सूची में अपना नाम भी लिखा जायँ। उनकी तरफ से तो मरने में कुछ देर नहीं थी, परन्तु ईश्वर की इच्छा और ही थी; इसलिये उनकी यह मनोकामना तो पूरी न हुई, परन्तु दूसरी तरह से उनको जगत् में उतना ही यश मिल गया जितना कि लड़ने और जीतने, वा वीर वृत्ति से प्राण देने में मिलता।

श्रीमंत माधवराव पेशवा साहब के पास जब बाई साहिबा की अरज़ी और अपने दादा साहब की चढ़ाई की ख़बर पहुँची तो उन्होंने राघोबा दादा को लिखा कि ख़बरदार, अहल्याबाई से मत लड़ना। उन पर कुछ जियादती भी न करना। हुलकर के घराने की मुखिया अब वही हैं। तुम भी उनको ऐसा ही समझो और उनका सब तरह से मन और मान रक्खो।

जब यह हुक्म भी राघोबा के पास पहुँचा तो वह लड़ाई का इरादा छोड़ बैठा। इससे सब प्रजा को बहुत ख़ुशी हुई और बाई के चित्त को भी शान्ति हो गई। अब वे तसल्ली से राज के सब काम करने और देखने लगीं। पर औरत की ज़ात थी। कई काम नहीं भी कर सकती थीं जो मर्दों के करने के थे, जिनमें मुख्य काम फ़ौज की सँभाल का था और उन दिनों में इससे बड़ा और कोई काम भी नहीं था। इसलिये बाई साहिबा ने बहुत सोच समझकर सब लोगों की सम्मति से तुकू जी हुलकर को बुलाकर सारी फौज का मुखिया बना दिया।

तुकू जी हुलकर मल्हारराव महाराज के चचेरे भाई आनूजी के बेटे थे। बहुत बहादुर और बुद्धिमान् थे। यही गुण देखकर मल्हार राव महाराज ने उनको एक पायगाह * का सरदार बना दिया था।

---

* सवारों का रिसाला।

उनके कामों और चाल चलन को भी वे बहुत सराहा करते थे। बाई साहिब ने भी इन्हीं बातों को पसंद करके तुकू जी को फ़ौज का ही काम नहीं सौंपा, वरन् पीछे से राज का ही मालिक कर दिया।

कुछ दिनों पीछे राघोबा पूना को जाने लगे तो बाई साहिबा ने तुकू जी को भेजकर उन्हें महेसर में बुलाया और पेशवाई करके बड़े अदब से उनकी पधरावनी की; और ऐसी धूम धाम से मेज-बानी दी कि उनके दिल में जो कुछ मलाल था, वह सब बाई साहिबा की इस सेवा और शुश्रूषा से भुल गया।

जाते वक्त भी बाई साहिबा कुछ दूर उनको पहुँचाने गई और तुकू जी को सेना सहित उनके साथ पूना में भेज दिया। पेशवा ने भी ख़ुश होकर तुकू जी का हुलकरों की फौज पर अफ़सर होना मंजूर कर लिया और अपनी सरकार से भी उस ओहदे की खिल-अत उनको बख़्श दी।

जब तुकू जी पूना से सन्मानपूर्वक प्रतिष्ठा प्राप्त करके वापस आए और बाई साहिबा को सब तरफ से संतोष हो गया तो गंगा-धर दीवान दिल में बहुत डरा। अब उसको बाई साहिबा से अपने क़सूर माफ कराने के सिवाय और कोई उपाय नहीं रहा था। वह बड़े काम का आदमी था और पहले बहुत कुछ खैरख़्वाह और नेकनाम रह चुका था। परन्तु कमनसीबी से बाई साहिबा का अपराधी होकर उनको राजी नहीं रख सका था। तो भी अब बाई साहिबा ने बुद्धिमानी और क़द्रदानी से उसके सब कसूर माफ़ कर दिए और काम करने का भी हुकम दे दिया। इस उदारता से उदारचित्त बाई साहिबा का जगत् में बहुत यश फैला और सब लोगों ने उनकी बहुत तारीफ़ की कि जो आदमी राजनीति के धर्म से प्राण-दंड पर्यंत का भागी था, उस पर इतनी कृपा और अनुग्रह किया। बाई साहिबा धन्य हैं! इतनी क्षमा और कृपालुता इन्हीं लक्ष्मी-स्वरूपा के सिवाय और किससे बन आवे।

तुक्कूजी ने अधिकार पाते ही सब जगह एक एक आदमी अपना भी भेज दिया था जिससे एक की जगह दो दो हाकिमों का हुक्म चलने से लोग कहने लगे थे कि यह बात कब तक निभेगी। एक दिन सब खेल बिगड़ जायगा; क्योंकि एक म्यान में दो तलवारें कहीं नहीं समाती हैं। इस प्रसंग से कई नटखट लोगों ने बाई साहिबा और तुक्कूजी के बीच में विरोध फैलाने की चेष्टा भी की थी; परंतु कुछ दाल नहीं गली, क्योंकि जब सौ सयानों का भी एक ही मन होता है, तब ये तो दो ही सयाने थे।

तुक्कूजी उमर में बाई साहिबा से बड़े थे, तो भी उनको माँ कहते थे; क्योंकि बड़ी भावज थीं; और उनका ऐसा हुक्म बजाते थे और ऐसे शुद्ध मन से सेवा करते थे कि बिरला ही कोई पेट का बेटा करेगा। बाई साहिब भी उनको बेटे के समान ही समझती थीं और उन पर बहुत दया रखती थीं। परन्तु उमर में उनसे छोटी थीं, इसलिये तुक्कूजी को मोहर छाप में अपना बेटा नहीं खुदाने दिया, मल्हारराव का बेटा खुदवाया था।

नारद गणेश नामक एक सरदार बाई साहिबा से दिल में लाग रखता और उनका बुरा चेतता था। उसने बहुत वर्षों तक तुक्कूजी को बाई साहिबा की तरफ़ से बहकाया; परंतु तुक्कूजी बिलकुल नहीं बहके। उसकी और बात तो मान लेते थे, किन्तु बाई साहिबा के विषय में कुछ नहीं सुनते थे; क्योंकि वे खूब जानते थे कि यदि मैं कुछ भी सिर उठाऊँगा, तो सब लोग मेरे दुश्मन हो जायँगे और मैं सारे संसार में बदनाम होकर निकाला जाऊँगा। क्योंकि बाई साहिबा बहुत नेक थीं; रैयत, फौज, ज़मीदारों, सरदारों और छोटे बड़े आदमियों पर मेहरबानी रखती थीं। मुसाफिरों तक की सार-सँभाल और परवरिश करती थीं। किसी का भी दिल नहीं दुखाती थीं। उनके इन सद्गुणों से सब उनके तावेदार थे, उनके हुक्म पर जान देने को तैयार थे। इसी लिये तुक्कूजी बहुत सावधान रहते थे और अपनी हद से आगे कदम नहीं बढ़ाते थे। यही सबब था जो उनकी और

बाई साहिबा की आद्यंत खूब निभ गई और यह इस कलिकाल में बहुत ही अजब बात थी।

बाईजी के राज्य के दो भाग थे। एक भाग तो सतपुड़ा पहाड़ के दक्षिण में था और दूसरा उत्तर में राजपूताना, बुंदेलखंड और हिन्दुस्तान की तरफ़।

जब तुक्कूजी दक्खिन में होते तो सतपुड़े के दक्षिण के परगने सब उनके अधिकार में हो जाते थे। बुँदेलखंड, राजपूताना और हिंदुस्तान के मुल्क बाई साहिबा के अधीन रहते थे। और जब इधर आते तो उधर के मुल्क बाई साहिबा के कब्जे में हो जाते। और मज़ा यह कि इस लौटफेर में उन देशों का कुछ भी नहीं बिगड़ता था। मालवे और नीमाड़ देश हमेशा बाई साहिब के पास रहा करते थे। इनमें बाई साहिब की ज़िंदगी तक तुक्कूजी कुछ दखल न कर सके। बाई साहिब के खजाने में २२ लाख की आमदनी होती थी। इसके सिवा ४ लाख रुपए और दो परगनों के आते थे। यह सब रुपया बाई साहिब जिस तरह से उचित समझतीं, ख़र्च करती थीं। इसके उपरांत जो और आमदनी होती थी, वह फौज की तनख्वाह में दी जाती थी। उसका हिसाब बनाया जाता था। मामूली खर्च और फौज की तनखाह चुकाने के बाद जो रुपया बचता, वह खजाने में जमा हो जाता था और बिना किसी बड़ी जरूरत के फिर नहीं निकाला जाता था। हाँ, जब कभी कोई बड़ा काम आ पड़ता, तब वह रुपया खर्च होता था। जो नौकर अपनी खुशी से लश्कर के साथ बाहर जाते थे, उनकी तनखाह तुक्कूजी देते थे। औरों से लड़ना, फौज को दूसरे मुल्कों पर ले जाना और दुश्मनों से सुलह करना वगैरः काम बाई साहिब के हुक्म बिना नहीं होते थे।

तुक्कूजी बड़े बड़े मुकदमों को बाई साहब के हजूर में भिजवाते थे। दूसरे रईस बाई साहिब को ही रईस जानते थे। सब वकील बाई साहिब की खिदमत में हाजिर रहा करते थे। बाई साहबा के वकील पूना, हैदराबाद, श्रीरंगपट्टन, नागपुर, लखनऊ और कलकत्ते

में रहते थे। छोटे छोटे रईसों के भी वकील बाई साहब के दरबार में मौजूद थे। जिन राजाओं से बाई साहिब टाँका लेती थीं, उनके पास अपने मोतमिदों और मुख़ारों को रखती थीं। इस इंतजाम से अच्छी तरह साबित होता है कि जब तक बाई साहिब ज़िंदा रहीं, बड़ी धूमधाम से राज करती थीं। हर एक काम अक्ल और तदबीर से होता था; बेइंतजामी और अंधाधुंधी नहीं थी*। रैयत आबाद और शाद थी। दोस्त खुश और दोस्त पामाल थे। किसीको सिर उठाने की ताकत नहीं थी। हर एक को उनका भय था। और यही कारण बाई साहब की नामवरी का था कि सेंधिया के मुल्क में तो फसाद था; वहाँ सरदार जालिम और हाकिम अन्यायी थे; अमनचैन नहीं था; और बाई साहब खुद इंतजाम फरमाती थीं। हर एक की दाद देती थीं। सतजुग का जमाना था। सब राजी खुशी थे। गैर मुल्कों से रैयत भाग भागकर उनके मुल्क में आती थी। बाई साहिब की नेकनामी होती थी जिससे उनकी रियासत बड़ी और उम्दा कहलाती थी। बाई साहिब के पिछले समय में महाजी सेंधिया की रियासत अकल तदबीर से, बड़ी बड़ी फतहों के होने तथा दगाबाजी और फरेब से बादशाही हाथ आ जाने से हुलकरों की रियासत से बढ़ गई थी; पर बंदोबस्त न होने से उतनी आसूदा न थी क्योंकि बाई साहब परगनों की नर्म जमाँबंदी करती थीं; महसूल जियादा नहीं लेती थीं जिससे मुल्क आबाद था, रैयत खुश थी, परगनों की आमदनी अधिक और फौज कम थी। परन्तु बाई साहिब की नेकनीयती से यह थोड़ी फौज ही मुल्क की हिफाजत के वास्ते बहुत थी। बाई साहब को यह भी यकीन था कि उनके नाम का दबदबा और फौज का डर अमन का सबब था। हिंदू धर्म में औरतों को परदा

---

* यहाँ से उर्दू तवारीख मालवे की नक़ल (जो एक मुसलमान मुंशी ने बनाई है) इस अभिप्राय से की जाती है कि एक निष्पक्ष अंग्रेजी नौकर का लिखा हुआ देशी लिखावटों से ज्यादा प्रामाणिक हो सकता है।

करना वाजिब नहीं है। बाई साहब परदे में नहीं रहती थीं; दरबार में आकर राज के काम करती थीं। सब परगनों का बंदोबस्त बहुत नरमी से होता था। वतनदारों के हक का बहुत खयाल रहता था। इनसाफ के वक्त खुदा का खौफ़ और अपने ईमान का खयाल रहता था। अपना हो चाहे दूसरा हो, सब का वाजबी इनसाफ़ होता था। रहम-दिल होने पर भी किसी की खातिर मंजूर नहीं थी, न किसी की हिमायत काम आती थी। जालिम सजा पाता था, फरयादी अपनी दाद को पहुँचता था; और बाई साहब हलके से हलके मुकदमे की भी खूब तहकीकात किया करतीं। जब सच झूठ का निरूपण हो जाता था, तो वाजबी फैसले का हुक्म फरमाती थीं। इस न्याय और निर्धार से बाई साहब के मित्र तो क्या, शत्रु भी राज़ी थे, अदब से उनका नाम लेते थे। अब बाई साहब वैकुंठ को जा चुकी हैं। न वह जमाना है और न कोई आदमी ही उनके ज़माने का जिंदा रहा है; लेकिन बाई साहिब का नाम सब छोटे बड़ों की जबान पर जगह पकड़ गया है। यह मालूम होता है कि बाई साहब को बहुत जमाना नहीं हुआ है। मैं* जब इन्दौर में आया, अहल्याबाई का नाम लोगों की जबान पर पाया। पहले तो जाना कि नौकर और उनके वसीलेवाले खुशामद से जियादा तारीफ़ करते हैं, बढ़ावे से बात बढ़ाकर करते हैं। बाई साहब आखिर तो औरत की जात थीं। चौदहो विद्या-निधान कहाँ से हो गईं। इसलिये गैर लोगों से पूछा। उन सब ने भी बहुत बढ़ाकर कहा। फिर तो यकीन हो गया और यह जान लिया कि बाई साहब को खुदा की दी हुई अकल थी। और इसमें भी शक नहीं कि उनको गैब से कोई मदद मिलती थी। उन्होंने कभी किसी चुगलखोर और स्वार्थी की बात नहीं सुनी। बाई साहब अकसर यह कहा करती थीं कि हरेक काम का जवाब भगवान को देना है। एक दिन जरूर पूछताछ होगी। दुनिया चंदरोजा है, चार दिन का बसेरा है, मौत हर दम ज़िंदगी के साथ है।

* अर्थात् मुनशी करीमअली तवारीख मालवे का कर्ता।

इस पर अपने को भूल जाना कौन अकल की बात है। आखिर एक दिन मरना है। जो आखिरत का तोशा (पुण्य धर्म) पास हो तो वह मरना नहीं जीना है। अहलकार जो कभी चालाकी से लालच में डालते और फायदा बतलाकर जुल्म की तरफ ले जाना चाहते तो बाई साहिब किसी की नहीं सुनतीं और फरमातीं कि हम मरनेवाले हैं, दुनिया से एक दिन जाने को हैं, हमेशा कौन रहा है और रहेगा; आख़िर तो पैदा करनेवाले से काम पड़ेगा। वहाँ कौन जवाब देगा, जब नेकी बदी का सवाल होगा। मरनेवाले को बहुत सावधानी से संसार में काम करने की जरूरत है। जो खालिक की शर्म नहीं करते, यह बात अकलमंदी से दूर है। दो दिन की जिंदगी पर गरूर और जुल्म करना, छल कपट से चलना! मुझे तो नरक की आग का डर है; तुम्हें खयाल सीमोजर (चाँदी सोना) है।

बाई साहिब ने सब कामों के वक्त मुकर्रर किए थे। बिला तसाहुल वह वक्त पर होते थे। बाई साहब दिन निकलने से पहले जागती थीं। उस वक्त मामूली काम और पूजा करती थीं। फिर देर तक पुरान सुनती थीं। फिर ख़ैरात करती थीं। खुद ब्राह्मणों को खाना खिलाती थीं। जब सब खाना खा लेते तो खुद तनावल फरमाती थीं। वह भी बेमजे होता था। बढ़िया खाना बाई जी ने छोड़ दिया था। खाना खाने के बाद पूजा होती थी। थोड़ा वक्त आराम करने में जाता था। जब बेदार होती थीं, पोशाक जेब-बदन फरमाकर दरबार में इजलास करती थी। शाम तक गरीबों और मजलूमों की दाद देती थीं। शाम को फिर पूजा करती थीं। फिर खासा नोशजाँ फरमाती थीं। जब पहर रात गुजरती, दरबार खास की तैयारी होती। आधी रात तक रियासत के काम होते। अहम काम अंजाम पाते। इसके बाद आराम करती थीं। हर रोज बिला नागा यही कायदा रखती थीं। जब कोई काम जरूरी इत्तफाक से पेश आता या कोई दिन व्रत या त्योहार का होता तो वह भी करती थीं। लेकिन मामूली कामों में फरक नहीं आने देती थीं। कौल और इक-

दार का निबाह थी। वादा पूरा होता था। दूसरे सरदारों से अहदो-पैमान ऐसे मजबूत कर लिए थे कि किसी को सिर उठाने की ताक़त नहीं होती थी। उनके इलाके पर किसी ने हमला नहीं किया। हमला कैसा, आँख उठाकर नहीं देखा। एक बार उदयपुर के राणा* ने सिर उठाया। उसने अपनी कौम के सरदार की मदद के वास्ते जिससे महाराज मल्हार राव हुलकर ने रामपुरा वगैरः मुल्क ले लिया था, बाई साहिब के मुल्क पर हमला किया; लेकिन हार झक मार कर चला गया। सबसे अजब यह बात थी कि उनके राज में उनके नौकरों ने भी कभी आपस में लड़ाई नहीं की।

बाई साहिब ने कभी किसी की चुगली और चावत नहीं सुनी। चुगली चावत करनेवालों की जबान बंद रही। दंगा फसाद करनेवालों और लुटेरों पर सख्ती होती थी; उनको सज़ा मिलती थी। सब को डर था। चोरी और लूट का कोई नाम नहीं जानता था। ख़ास और मवास का चर्चा नहीं था। क्योंकर यह होता? उनके अहद में हरेक आसूदा था। उनके इलाके में कंगाल नाम को नहीं था।

बाई साहिब के कुल इलाके में एक दीवान था। वही अपनी तरफ से कारकुन रखता था। अरकान रियासत (मुसाहिब) बदले नहीं जाते थे। पुराने नमकख्वार बुरे काम नहीं करते थे। यह बात जाहिर है कि पुराने नौकर की अच्छी कार्रवाई सब कोई जानता है। जब नौकर को अपनी नौकरी का भरोसा नहीं होगा, तो अपने फायदे के सिवा कोई खैरख्वाही का काम न करेगा। इस जमाने में कामदार अकसर बदले जाते हैं। नहीं मालूम सबके सरदार इसमें क्या फायदा समझते हैं। इसके सिवाय पुराने नौकरों का पेट भरा होता था। वे ग़बन और लूट खसोट नहीं करते थे। नए नौकर भूखे होते हैं। जब रैयत को लूटते हैं, तब आसूदा होते हैं। बाई साहिब किसी को मौकूफ नहीं करती थीं। कसूरों से आँख बचा जाती थीं और कहती थीं कि जान ले मारना इतना बुरा नहीं है जितना बुरा रोजी से

---

* राणा लड़सी।

छुड़ा देना है; क्योंकि उसका वबाल तो एक ही जान पर पड़ता है, और इसका दुख एक घराने को होता है।

इन्दौर इस दौर (समय) में एक गुमनाम गाँव था। बाई साहिब ने मालदार शहर बना दिया। उनको इन्दौर की आबादी का बहुत खयाल था। इन्दौर के रहनेवाले सब सुखी थे। एक बार तकूजी हुलकर इन्दौर में आए। स्वार्थी दोषियों ने कहा, इस शहर में बहुत माल है; फौज का खर्च न मिलने से बुरा हाल है। कुछ रुपया यहाँ से लीजिए और सिपाहियों को बाँट दीजिए। एक मालदार साहूकार उन्हीं दिनों मर गया था। उन्होंने उसका माल छीन लिया। उसकी औरत महेसर में बाई साहिब के पास गई; नालिशी हुई। बाई तकूजी पर बहुत खफा हुईं। उसका सब माल दिलवा दिया और अपनी तरफ से खिलअत भी इनायत किया। तुकूजी को हुक्म भेजा कि इन्दौर से अभी कूच कर जाओ, मेरी रैयत को न सताओ। तकूजी ने अपना कसूर माफ कराया और इन्दौर से कूच कर दिया।

महाजी सिंधिया बाई साहब के मददगार तो थे, परंतु इस बहाने से अपना काम बनाते थे। बाई साहिब उनकी चालों को नहीं समझती थीं। उन्होंने पहले पहले उनका भेद नहीं जाना। निदान महाजी सिंधिया ने बाई साहिब से ३० लाख रुपया उधार लिया और खत भी लिख दिया, परंतु उनको रुपया चुकाने का ध्यान नहीं था। हाँ, अपने अफसरों को यह कह रखा था कि जब बाई साहिब मदद माँगें तो फौरन दो। दोनों के इलाके ऐसे मिले हुए थे कि एक दूसरे के राज्य में कुछ फर्क नहीं कर सकते थे और एक दूसरे की मदद भी इतनी जल्दी कर सकते थे कि दूसरा सरदार नहीं कर सकता था। इसमें भी सिंधिया की यह चाल और घात थी कि बाई साहिब उनकी तरक्की को न रोकें। सो ऐसा ही हुआ कि पेशवा साहिब का बहुत मुल्क सिंधिया ने दबा लिया और बाई ने कुछ न कहा और न हिस्सा लिया।

बाई साहिब टाँकेदार (कर देनेवालों) से ऐसी नर्मी बरतती थीं

और ऐसी मेहरबानी करती थीं कि वे कर देने में कभी देर नहीं करते थे; बिना तकाजे ही दे देते थे। अगर कभी किसी तरफ से देर हो जाती तो बाई साहिब की उस पर खफगी होती। वह डर जाता और फौरन रुपया पहुँचा देता।

बाई साहब ने लुटेरे ग्रामीणों के हक़ मुकर्रर कर दिए थे जिससे वे चोरी आदि नहीं करते थे। बाई साहिब चाहती थीं कि भीलों और गोंड़ों को भी इसी तरह अपने अहसान के जाल में फँसा लें और प्रजा को उनके जुल्म से बचावें। परंतु इस कमबख्त कौम ने अपनी आदत नहीं छोड़ी और लोगों को सताने से हाथ नहीं खींचा। तब लाचार होकर बाई साहब ने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया। जो जीते बचे वे बाई साहिब का मुल्क छोड़कर चले गए। बाई साहिब ने जगह जगह चौकियाँ बैठा दीं; पर रहमदिली से उनकी कौड़ियाँ बंद नहीं कीं जो उनको मिलती थीं। अर्थात् जब कोई पहाड़ों में होकर जाता था तो भील लोग उनसे कौड़ियाँ ले लेते थे और अपना यह हक लेकर उनको जाने देते थे। बाई साहिब ने उनको बंजर जमीन दी थी और उनसे यह शर्त कर ली थी कि रास्ते की रखवाली करें। अगर कोई मुसाफिर लुट जाय तो उसके माल की कीमत दें।

निदान बाई साहिब ने वे तदबीरें की थीं कि जिनसे प्रजा सुखी रहे, व्यापारियों और मुसासिरों को तकलीफ न हो। यों हर एक को फायदा पहुँचता था और सब छोटे बड़े का दिल खुश रहता था। इसीसे लोग बाई साहिब को अवतार कहते हैं, उनको पूजते हैं और नाम का अदब करते हैं।

बाई साहिब खैरात बहुत करती थीं। सब छोटे बड़े को देती थीं। जब हुलकरों का मुल्क और खजाना उनके हाथ आया तो उन्होंने सब रुपया अच्छे कामों में लगाया। बहुत से किले बनवाए, घाट तैयार कराए, जाम के घाट को बड़ी मेहनत से बहुत सा रुपया खर्च करके बनवा, मुसाफिरों के आने जाने का रास्ता सुगम कर

दिया, या महेसर में घाट बनवाए, अपने इलाके में बहुत मंदिर चुनाए; कितनी ही धर्मशालाएँ कुएँ और बावड़ियाँ बनवाईं और बाहर के इलाकों में भी दूर दूर इमारतें खड़ी कराईं। जगन्नाथ, द्वारिका, केदारनाथ, रामेश्वर, काशी, गया, प्रयाग, हरद्वार, नाथद्वारा, पुष्करजी, नासिक, मथुरा, चित्रकूट और अयोध्या वगैरह तीर्थों में बड़े बड़े मंदिर बनवाए, बाग लगवाए। जगह जगह अपना नाम किया। अपनी यादगार छोड़ी। हर जगह रुपया जाता था। सदावरत बँटता और गरीबों को खाना दिया जाता। मूर्तियों के नहाने को गंगाजल आता था। इसमें बहुत रुपया खर्च होता था। बहुधा जाति जाति के लोगों को बुलाकर खाना खिलाती थीं। गरमियों के दिनों में सबीलें (पौसरे) लगाती थीं। मुसाफिरों को पानी पिलवाती* थीं। जाड़ों में छोटे बड़ों को जड़ावर देती थीं। उनके अहसानों का दरवाजा यहाँ तक खुला हुआ था कि चौपायों, पखेरुओं और मछलियों को भी चुगा पानी पिलवाती थीं। महेसर के पास हल चलते में बैलों को दाना दिलवातीं और पानी पिलवाती थीं। बाई साहिब को उन पखेरुओं पर भी दया आती थी जिनको किसान खेतों में नहीं चुगने देते थे। इसलिए किसान को खेती का मोल दे देती थीं और उनका अनाज पखेरुओं को खिलवाती थीं। फरमाती थीं कि किसानों को खेत की रखवाली करना जरूर है, क्योंकि पेट से लाचार हैं; परंतु पखेरुओं की रोजी भी अनाज ही है, इनको भी खाने देना चाहिए।

ब्राह्मण इनके समय में बहुत खैरात पाते थे। लुटेरे भी तरह तरह से लेते थे; पर यह खर्च बाई साहिब का अकारथ नहीं जाता था। इससे बाई साहिब के राज्य की मजबूती ज्यादा थी। इस खैरात से वह बात हासिल थी कि जो उससे दूना खर्च करके भी फौज रखतीं तो हासिल न होती।

मरहठे और हिंदू सरदार बाई साहिब से लड़ना पाप समझते

* तवारीख में लिखा है कि हल में जुते हुए बैलों को बाई साहिब के नौकर पानी पिलाते फिरते थे।

थे। सब बाई साहिब का अदब करते थे। निजाम और टीपू को भी बाई साहिब का लिहाज था। हिंदू सरदारों को उनका बहुत ध्यान था। हिंदू क्या मुसलमान भी उनका बहुत बखान करते थे। ये मोहर्रम में ताजिये भी बनवाती थीं, नज़र नियाज भी करती थीं, मरसिये भी सुनती थीं, ताजिये के साथ कई कदम पैदल भी जाती थीं। दोनों ईदों के दिन काजियों को खिलअत और सवारी के वास्ते हाथी देती थीं। बड़े पीर की ग्यारहवीं होती थी। शबरात को हलुआ पकता था, आतिशबाजी छोड़ी जाती थी।

गरीबी और खाकसारी बाई साहिब के मिजाज में बहुत थी। किसी का दिल नहीं दुखाती थीं। हर एक काम फुरती और लायकी से करती थीं। औरत होकर मरदों के कान काटती थीं। वे कभी खफा नहीं होती थीं; और जो होती थीं तो सब लोग डर जाते थे। बड़े बड़े इज्जतदार भी सामने नहीं आते थे। खुशामद करनेवालों से नाराज होती थीं। अपनी तारीफ नहीं सुनती थीं। एक बार एक ब्राह्मण बाई साहिब की तारीफ में एक किताब लिखकर लाया। पढ़कर सुनाने लगा। बाई साहिब ने कहा कि मैं औरत हूँ, खोटी अकल की हूँ, कब तारीफ के लायक हूँ। यह कहकर किताब नर्मदा में फेंकवा दी। ब्राह्मण निराश होकर चला गया।

बाई साहिब गरूर से दूर थीं, अपने धर्म में पक्की थीं; तो भी दूसरे के धर्म को बुरा नहीं कहती थीं। तजरुबेकार, होशियार और बुर्दबार थीं। किसी से कुछ विरोध और वैरभाव नहीं रखती थीं जिससे खुदा राजी और प्रजा सुखी रहे, वही काम दिन रात करती थीं।

बाई साहिब ठेठ से शोक संताप में लीन रहीं। जवानी में ही अपने खाविंद खंडेराव के मारे जाने से राँड हो गईं। अभी यह दुख नहीं भूली थीं कि महाराज मल्हारराव के मरने का दूसरा दुख हुआ॥ उनके शोक के आँसू नहीं थमे थे कि महाराज मालीराव उनके इकलौते बेटे उनको रोती तड़पती छोड़कर स्वर्गवासी हो गए। आखिर में पहले बाई साहिब का जवान दोहिता मरा। एक बरस पीछे

उसका बाप और बाई साहिब जमाई यशवंतराव बहेलिया दुनिया से कूच कर गया। मजताबाई उसके साथ सती होने को तैयार हुई। बाई साहिब राम नाम सत करने लगीं। बाई साहिब ने मजताबाई को मना किया और समझाया कि मुझे बुढ़ापे में अकेली न छोड़। मैं पहले ही राम की सताई हुई हूँ, तू मुझसे मुँह न मोड़। और जो अकेली छोड़ती है तो किसे सौंपती है। मेरा कलेजा फटा जाता है। तू जानती है कि कोख का दुख बुरा होता है। तू मरे, मैं जिऊँ, यह कहीं हुआ है। पहले तू मुझे मरघट में पहुँचा, फिर तू जा। मजताबाई ने कहा—तुम बूढ़ी हो, कुछ दिन की पाहुनी हो; थोड़े ही समय में नेकनामी से बैकुंठ को सिधार जाओगी। मेरे तो एक बेटा था, वह मर गया और पति भी मुझे छोड़ गया। अब बतलाओ कि जब तुम न होगी तो मेरी उमर कैसे कटेगी। फिर मरने का अवसर कब मिलेगा, राम जाने क्या परिणाम होगा। तुम मेरा कसूर माफ करो और मुझे खुशी से मरने दो।

बाई साहिब यह सुनकर रोने लगी, मूर्छा खाकर गिर पड़ीं, मुँह पीला पड़ गया, छाती धड़कने लगी, बदन पसीने पसीने हो गया। होश जाता रहा, कँपकँपी लग गई, उठ उठकर रोने पीटने और बेटी का मुँह देखने लगीं। अंत को कलेजा थामकर चुप हो गईं। जब देखा कि बेटी मरने और जान पर खेल जाने को तैयार है, समझाने का समय नहीं रहा है तो सबर की सिल छाती पर रखकर कहा कि खैर! जो होना था सो हो गया; और फिर मेरे देखते देखते हुआ। अब मजताबाई का आखिरी दर्शन तो कर लूँ। इस समय जो मौत मुझ पर मेहरबानी करे तो मैं भी मरूँ और अपने दुख की समाप्ति करूँ।

यशवंतराव और मजताबाई की चिता तैयार हो रही थी। सब लोग रो रहे थे। यशवंतराव की लाश के पास एक तरफ मजताबाई और दूसरी तरफ बाई साहिब उदास खड़ी थीं। जिसे देखो वही शोक के कपड़े पहने हुए था। जब लोग लाश को उठाकर ले चले तो

मजताबाई उसके साथ पैदल मरने को चली। सब उसको देखते थे। बाई साहिब भी गिरती पड़ती लड़खड़ाती हुई चली जाती थीं। कभी जमाई की बैकुंठी और कभी बेटी का मरना देखकर रोती-चिल्लाती, तड़पती और तिलमिलाती थीं। जब बैकुंठी श्मशान में पहुँची और मजताबाई अपने पति की लाश को गोद में लेकर चिता पर बैठी और बाई साहिब उसके पास खड़ी होकर मजताबाई का मुँह देखने गईं तो ब्राह्मण दोनों तरफ से उनकी बाँहें पकड़े हुए थे; क्योंकि उनको बाई साहिब के गिर पड़ने का डर था। बाई साहिब का जी घबराता था, कलेजा मुँह को आता था, शोक शरीर पर छा गया था, धीरज दिल से जाता रहा था। वहाँ कलेजा थामे चुप खड़ी थीं, न रोती थीं न मुँह से कुछ कहती थीं। परंतु जब चिता जल उठी और मजताबाई का जीता हुआ नाजुक बदन जलने लगा तो यह देखकर बाई साहिब अधीर हो गईं। चिल्लाने लगीं और आप जल मरने को ब्राह्मणों से अपनी बाँहों को छुड़ाने और उनके हाथों को दाँतों से काटने लगीं। जब उन्होंने छोड़ा तो बेहोश होकर गिर पड़ीं। जब बेटी जलती थी, माँ को कुछ खबर न थी। जब होश आया तो बेटी जलकर राख हो चुकी थी। बाई साहिब उसको रो पीटकर नर्मदा में नहाईं, घर आईं, तीन दिन तक न कुछ खाया पिया, न किसी से कुछ कहा।

जनरल मालकम लिखते हैं कि यह हाल उन लोगों से मालूम करके लिखा है कि जिन्होंने अपनी आँखों से देखा था। निदान जब बाई साहिब का दिल कुछ ठिकाने आया तो मजता बाई का मंदिर बनवाया। ऐसे दुःख और शोक संताप से जो बाई साहिब के ऊपर आ पड़े थे, उनको बहुत कमजोरी हो गई थी। कई रोग उठने लग गए थे जिनके बढ़ जाने से सन् १७८६ (संवत् १८५३) में स्वर्ग को सिधारीं। उस समय उनकी उमर ६० वर्ष की थी जिसमें ३० वर्ष उन्होंने राज किया था। जनरल मालकम के इतिहास में ४० वर्ष राज करना लिखा है। शायद भूल से लिखा है; क्योंकि सन् १७६८

में महाराज मल्हार राव मरे थे। सन् १७६६ में मालीराव स्वर्गवासी हुए थे और सन् १७९६ में बाई साहिब वैकुंठ को गईं। तो फिर किस तरह उन्होंने ३० वर्ष राज किया ? हाँ यह हो सकता है कि जब वे विधवा हुई थीं तो उनकी उम्र २० वर्ष की हो और अपने पति के पीछे ५० वर्ष जीती रही हों। यों ४० वर्ष लिख दिए होंगे।

बाई साहिब मझोले कद की, दुबले बदन की और पक्के रंग की थीं। यहाँ तक कि सेंट्रल इंडिया के एजेंट गवर्नर जनरल मेजर जनरल एच० डी० डेली के मीर मुंशी सैयद करीम अली की बनाई हुई उर्दू तवारीख मालवा से लिखा गया है जो सन् १२९० हिजरी में समाप्त हुई थी और रतलाम राज्य के छापेखाने रत्न-प्रकाश में छपी थी।

अहिल्याबाई कामधेनु

अहिल्याबाई साहिब के राजकाज, धर्म-पुण्य, शील-स्वभाव और दुःख सुख का थोड़ा सा वर्णन तो ऊपर आ गया; पर एक बात जो उर्दू अंग्रेजी की तवारीख लिखनेवालों से रह गई थी और हिंदू पंडितों के लिखने की थी, वह भी हम नाममात्र को लिखे देते हैं; क्योंकि उसकी हमें अधिक वाकिफी नहीं है, सुनी है।

बाई साहिब के राज्य में जो अच्छे पंडित रहते थे और जो बाहर से उनका नाम सुनकर आते थे, उन सब की एक सभा बनाकर उनको धर्मशास्त्र का एक बड़ा ग्रंथ बड़ी जाँच परताल से बनाने का हुक्म दिया था और उसके वास्ते धर्मशास्त्र के पुराने ग्रंथ भी जगह जगह से मँहगे मोलों के मँगाकर संग्रह कर अपने पुस्तक-भंडार में संग्रह कर दिए थे। उनके आधार पर पंडितों ने एक बड़ा ग्रंथ अहिल्या कामधेनु नाम का बनाया जिसमें धर्मशास्त्र की सब जरूरी बातें आई हैं। इस ग्रंथ से बाई साहिब का नाम देशी और विदेशी भाषा के इतिहासों के समान संस्कृत साहित्य में लिखा जाकर भी अमर हो गया है।

अहिल्याबाई साहिब की मूर्ति और मानता

इंदौर के छत्री बाग में जहाँ अगले राजाओं को दाग दिया गया है और उनके उम्दा देवल बने हैं, जिनको छत्री कहते हैं, खंडेराव हुलकर की छत्री में अहल्याबाई साहिब की भी मूर्त्ति है। अहल्या सती नहीं हुई थीं, इसलिये उनकी मूर्ति के पास इनकी मूर्ति नहीं है; और सतियों की हैं। इनकी तो एक छोटी सी मूर्ति उन मूर्तियों से अलग दीवार के ताक में रखी है। उन सतियों की मूर्तियों को तो केसरिया कसूमल कपड़े और जड़ाऊ गहने पहिनाए हुए हैं और इनकी मूर्ति के सफेद कपड़े हैं और गहना भी वैसा नहीं है; क्योंकि यह विधवा थीं। परंतु इनकी पूजा और मानता सबसे ज्यादा होती है, चढ़ावा और प्रसाद भी ज्यादा चढ़ता है। लोग उनकी मूर्ति के दर्शन करके मुरादें माँगते हैं। जब किसी की मुराद पूरी हो जाती है तो वह सोने चाँदी की चूड़ियाँ, पोशाक और पेड़े चढ़ाता है। यह उनकी नेकी, नेकनीयती और न्यायनीति का फल है जो मरे पीछे भी ऐसी पुजा प्रतिष्ठा और मानता होती है।

संवत् १९५७ में मैंने भी बाई साहिब की मूर्त्ति के दर्शन किए थे जब कि मैं जोधपुर दरबार के हुक्म से मारवाड़ की प्रजा को लेने के वास्ते।मालवे में गया था जो संवत् १९५६ में काल पड़ने से उधर चली गई थी।

अहिल्या-उत्सव

जीते जी कद्र बशर की नहीं होती प्यारे।
याद आएगी तुम्हें मेरी वफा मेरे बाद॥

इतना लंबा समय बीत जाने पर अब कई वर्षों से अहिल्याबाई की यादगार का यह उत्सव इंदौर में होने लगा है जिसकी खुशी मनाने के लिये शहर के और बाहर के सब शामिल होते हैं। गरीबों और फकीरों को खैरात बाँटी जाती है। उस दिन महारानी अहिल्या-बाई की सवारी बड़ी धूमधाम और मजे से निकाली जाती है।

शहर में चहल-पहल और लोगों के दिलों में उत्साह की उमंग खूब होती है। पालकी में फूलों से सजी हुई तसवीर के दर्शन करके सब अपना जन्म सफल करते हैं।

पालकी के आगे ३० औरतें घोड़ों पर सवार नंगी तलवारें लिए हुए होती हैं। पीछे भी ऐसी ही हथियारबंद औरतों का एक दल होता है। जब राघोबा दादा ने बाई साहिब पर चढ़ाई की थी और दीवान गंगाधर भी उससे जा मिला था, तो भी बाई साहिब ने हिम्मत नहीं हारी थी और ५०० लड़ाकी औरतों को लेकर उससे लड़ने गई थीं और कहला भेजा कि मुझे क्या, मैं तो एक अबला हूँ; हार गई तो कोई बात शर्माने की नहीं है। परंतु जो कहीं तुम हारे तो दुनिया में मुँह दिखाने के लायक नहीं रहोगे। यह सुनकर राघोबा की बाई साहिब से लड़ने की हिम्मत न हुई।

बाई साहिब का बोलबाला औरतों की फौज से रहा, इसलिये इस उत्सव की यादगार सवार पैदल औरतें उनकी सवारी के आगे निकाली जाती हैं।

(६) जगडूचरित

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

संस्कृत में जीवनचरित संबंधी पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं; और जो मिलती भी हैं तो वे किसी राजा, मंत्री या संन्यासी के जीवन-चरित का निर्देश करती हैं। प्रजावर्ग में से किसी विशिष्ट पुरुष की जीवनी के अभिधायक ग्रंथ "जगडूचरित" के अतिरिक्त और बहुत कम अभी तक हमारे देखने में आए। संस्कृत ग्रंथ में ३८८ श्लोक हैं जो ७ सर्गों में विभक्त हैं। विक्रम संवत् १९५२ में यह गुजराती अनुवाद सहित बम्बई में छपा है। ग्रन्थकार के विषय में इतना ही ज्ञात है कि उसका नाम सर्वानन्दसूरि था। वह धनप्रभसूरि का शिष्य था और संभवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग या पंद्रहवीं के आरंभ में हुआ होगा। निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ। भारतवर्ष में आज से ७०० वर्ष पूर्व विद्यमान वाणिज्य व्यवसाय तथा सामाजिक स्थिति का अनुसंधान करने में यह ग्रन्थ कई अंशों में सहायता देता है। इसके प्रत्येक सर्ग का सार नीचे लिखा जाता है:—

पहला सर्ग—श्लोक ४५

जिनाधिनाथ पार्श्व, सरस्वती, गुरु धनप्रभसूरि तथा ऋषभदेव को नमस्कार कर थोड़ी सी भूमिका बाँध कवि ने लिखा है कि प्रतिदिन विद्वानों से संसेवित एवं राजा लोगों से भी सम्मानित कल्याणवान् एक "श्रीमाल" वंश है, जिसमें "वियदु" नाम का एक नर-रत्न उत्पन्न हुआ। वह व्यापारियों में अग्रगण्य, विवेक और विनय आदि गुणों का धाम तथा जैन धर्म के मर्म का ज्ञाता था। उसने अनेक जिन-मंदिर, कूएँ, बावड़ी, सत्र (अन्नक्षेत्र) और प्रपा (प्याऊ) बनवाकर कीर्ति प्राप्त की। उसका पुत्र "वरणांग" हुआ। वह बड़ा

रूपवान था और कच्छदेश की "कन्था" (कंथकोट) नगरी में रहता था। उसने संघ का अधिपति बनकर शत्रुंजय (पालिताने) का पर्वत और रैवत (गिरनार) की यात्रा की और दोनों को पुष्कल दान दिए। उसके पुत्र का नाम "वास" था। वह धर्मात्मा सज्जनों की सेवा करनेवाला, बुद्धिमान्, विद्वान् तथा दानी था। उसके वीसल, वीरदेव, नेमि, चांडु और वत्स नाम के ५ पुत्र हुए। "वीसल" बड़ा गुणवान्, धर्मात्मा और दीर्घायु हुआ। उसके लक्ष, सुलक्षण, सील और सोही नाम के ४ पुत्र हुए। लक्ष कीर्तिमान, सामुद्रिक शास्त्र का अच्छा ज्ञाता, याचकों को पुष्कल दान देनेवाला, जैनधर्म-परायण और लोकप्रिय हुआ। सुलक्षण और सोही भी अपने सदाचार के द्वारा सज्जनों के मनों को हरनेवाले हुए। परन्तु इन सब भाइयों में "सोल" सबसे अधिक व्यवसायी, ज्ञानशील और यशस्वी हुआ। उसकी स्त्री का नाम "लक्ष्मी" था।

दूसरा सर्ग—श्लोक २८

व्यवसायशील 'सोल' अधिक ऋद्धि उपार्जन करने के विचार से सकुटुंब कंथकोट को त्याग "भद्रेश्वर"* आ बसा। कवि लिखता है कि यह एक टापू है। देवताओं के मंदिरों के घंटों की ध्वनि से यह निरंतर कूजित रहता है। इस में अनेक जौहरियों की दूकानें हैं जो विपुल धनराशि से भरी हुई हैं। प्रजा सुखशांति-संपन्न, ऐश्वर्यवान्, विद्यानुरागी, ईश्वरभक्त, गुरुजनों की आज्ञाकारी, बंधुवर्ग की परितोषक, दंभ, लोभ, मद, मत्सरता से शून्य, दानशील तथा पुण्य बुद्धिवाली है। यहाँ की स्त्रियाँ सदा प्रसन्न रहती हुई अपना कालक्षेप निरंतर गाने बजाने तथा तोता मैनाओं के विनोद से करती रहती हैं। यहाँ झरोखेदार बहुत बड़ी बड़ी इमारतें

---

* भद्रेश्वर कच्छ के पूर्वी तट पर था जिसके खंडहर मात्र अब बचे हुए हैं। हाल में जो नया भद्रेश्वर बसा है, उससे पूर्व में प्राचीन भद्रेश्वर के चिह्न दूर दूर तक पाए जाते हैं।

खूब सजी हुई हैं, नाना जलाशय और उद्यान सुशोभित हैं, मौसिम मनोहर रहता है और ग्रीष्म का आतंक नहीं सताता। "घुघुंरा" नाम की देवी यहाँ विशेष रूप से पूजी जाती है।

तीसरा सर्ग-श्लोक ६१

सोल के जगडू, राज और पद्म नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनका विवाह क्रमशः यशोमती, राजल्लदेवी और पद्मा नाम की कन्याओं से हुआ। ऐसे कुल में उत्पन्न होने से, जहाँ पूर्वजों की उपार्जित संपत्ति पहले से ही पर्याप्त रूप से विद्यमान थी, दान-व्यसनी, गुणवान् तथा पुण्यशील जगडू को धनसंबंधी चिन्ता तनिक भी नहीं थी। एक समय का वृत्तांत है कि इसने नगर के समीप पशुपालक (ग्वाले) को अपनी बकरियाँ चराते हुए देखा। उन बकरियों में से एक की गर्दन में एक अच्छी मणि बँधी हुई थी, जिसके महत्व को देख इसका मन लोभायमान हो गया। इसने मूल्य देकर उसे ले लिया और बड़े मान के साथ अपने पास रक्खा।

जगडू के एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम प्रीतिमती रक्खा गया। दिन प्रति दिन बढ़ती हुई वह कन्या अपनी गति और मधुर वाणी से सबके मन को आनन्ददायिनी हुई। जगडू ने उसका विवाह यशोदेव नाम के एक पुरुष से किया; परंतु दुर्भाग्यवश वह विवाह के थोड़े ही दिन बाद मर गया। तब जगडू अपनी जाति के बुद्धिमान और वृद्ध पुरुषों की अनुमति से अपनी कन्या का पुनर्विवाह करने को तैयार हुआ*। उस अवसर पर दो कुलीन वृद्धा तथा चतुर विधवा स्त्रियाँ खूब शृङ्गार सजकर उससे बोलीं कि जब आप अपनी विधवा पुत्री के लिये वर ढूँढ़ने जा रहे हैं, तो कोई हमारे योग्य भी वर ढूँढ लाइएगा†। यह सुनकर वह बेचारा लज्जित हो गया और पंचों के विवेकपूर्ण निर्णय का लाभ नहीं उठा सका।

* ततः स्वज्ञातिवृद्धानाम् अनुमत्यैव धीमताम् ।
वराय दातुमन्यस्मै तनयामुपचक्रमे ॥ (३।९१)

† वृद्धे कुशाङ्गने द्वे केचिद्वैधव्य दूषिते ।

२८

जगडू के एक कन्या ही थी जिसका वर्णन अभी कर चुके हैं। उसके तथा उसके भाइयों के कोई पुत्र न होने से वह बहुत म्लान मन रहता था। एक दिन अपनी स्त्री से उसकी इस विषय में बात-चीत हो पड़ी और उसके परामर्श से वह पुत्रार्थी समुद्र के किनारे देवाराधन के लिये चला गया। पुत्र के विषय में वह भग्न-मनोरथ ही रहा। कालांतर में उसके भाई के दो पुत्र (विक्रमसिंह और धाँधो) और एक कन्या (हंसी) उत्पन्न हुई।

चौथा सर्ग—श्लोक ३६

भद्रेश्वर से जगडू का जहाज निर्विघ्न समुद्र में आया जाया करता था। उसका वाणिज्य खूब बढ़ रहा था। उसके यहाँ उपकेश (ओसवाल) कुल में उत्पन्न जयंतसिंह नामक एक प्रवीण कर्मचारी था। वह बहुत सा पोतभार (Cargo) लेकर आर्द्रपुर (जिसे आज काल "एडन" कहते हैं) में आया और वहाँ एक बड़ा मकान किराए पर लेकर ठहरा*। उसने समुद्र के किनारे पर पड़े हुए एक पत्थर को देख अपने सेवक से उसे ले आने को कहा। इसी अवसर पर स्तम्भपुर के मुसलमान व्यापारी के एक जहाज़ के अधिकारी की भी दृष्टि उस पर पड़ी। उसने उसे नहीं लेने दिया और कहा कि जो इस नगर के राजा को एक सहस्र दीनार† देगा, वह इस पत्थर को लेगा। जयंतसिंह ने कहा कि हाँ, मैं इतना धन देकर अभी इसे राजा से ले लेता हूँ। उसने कहा—अच्छा मैं इससे भी दूना दूँगा, देखूँ तुम कैसे लेते हो। यों परस्पर विवाद हो पड़ा। अंत में साहसी जयंतसिंह ने ही तीन लाख दीनार देकर उसे ले लिया। उस मुसलमान

शृंगार स्कारमाश्रित्य तमूचतुरिति स्फुटम् ॥ (३।२४)
पुण्यावैधव्ययुक्ताया अपि चेद्वरमीक्षसे।
तदावयोरपि श्रीमन्विधेहि वरवीक्षणम् ॥ (३।२५)

* कस्यापि गेहं किल भाटकेन तस्थौ गृहीत्वाथ ततो विशालम्। (४।४)

† दीनार सोने का एक सिक्का था जिसकी तौल ३२ रत्ती होती थी।

के पास इतनी पूँजी भी न थी जिससे वह बड़ा ही लज्जित हो गया। जयंतसिंह ने भद्रेश्वर आकर जगडू से यह सारा वृत्तांत कहा। जगडू ने उस पर इस विचार से प्रसन्नता प्रकट की कि उसने यह काम अपने स्वामी की मानरक्षा के लिये किया था और उसे रेशमी वस्त्र तथा एक अँगूठी भेंट की। इतना ही नहीं किंतु उसको अधिक वेतन देकर उसे विदेश भेजने के बजाय अपने पास ही रख लिया और उस पत्थर को अपने घर के आँगन में पैर धोने के स्थान पर लगवा दिया। इसके पश्चात् कवि ने लिखा है कि भद्रपुर का अधिष्ठाता भद्रदेव योगीश्वर का स्वरूप बनाकर भिक्षा के निमित्त जगडू के निवास-स्थान पर आया। जगडू के भाई "राज" की स्त्री राजलदेवी उसे भिक्षा देने लगी। तब वह उससे बोला कि हे कल्याणी! तुम घर के स्वामी को मेरे पास बुला लाओ। स्त्री ने तुरंत जगडू को बुलवाया और उसने वहाँ आकर एकाग्र दृष्टि से उस पत्थर की ओर देखते हुए उस योगी को प्रणाम किया। योगी ने उससे कहा कि तुम इस पत्थर को यहाँ से अपने घर के भीतर ले जाओ। जगडू ने वैसा ही किया और जब उसे तोड़ा तो उसमेंसे अनेक बहुमूल्य रत्न निकले और एक ताम्रपत्र निकला जिस पर यह लिखा हुआ था कि इन मनोहर रत्नों को यहाँ महाराज दिलीप ने रक्खा था। वह योगी इस प्रकार जगडू को रत्नराशि दे अंतर्धान हो गया। (इस वर्णन का यही तत्वार्थ प्रतीत होता है कि कुछ काल तक वह पत्थर यों ही बेपरवाही से रक्खा रहा। अंत में किसी समय किसी प्रवीण परीक्षक ने उसकी वास्तविकता बतलाई हो जिससे उसके लिये दिए हुए मूल्य से कितना ही अधिक धन जगडू ने उपार्जन किया हो)।

पाँचवाँ सर्ग—श्लोक ४२

उस समय पारकर (सिंध का एक विभाग) देश में प्रतापशाली "पीठदेव" नाम का राजा राज्य करता था। वह कच्छदेश पर आक्रमण करता हुआ भद्रेश्वर पर आया और वहाँ पर चौलुक्य राजा

भीमदेव के बनवाए हुए किले को नष्ट कर लूट का माल ले वापस चला गया। पीछे से जगडू ने एक ऊँचा क़िला बनवाना प्रारंभ किया। परंतु जब वह बनता था, तब किसी असूयक ने यह बात पीठदेव के कानों तक पहुँचा दी। उसने अपना दूत भेजा, जिसने आकर जगडू से कहा कि हमारे राजा ने तुमसे यह कहलवाया है कि यदि सींग-वाला गधा मिले तो तुम इस क़िले को बनाओ; अन्यथा वृथा विरोध करके क्यों अपने कुटुंब का नाश करने को तत्पर होते हो। जगडू साधारण मनुष्य के समान धमकी में आ जानेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने राजदूत से कहा कि अच्छा, मैं पहले एक गधे के मस्तक पर सींग बनवाकर तब इस क़िले को बनवा लूँगा। दूत इस निरादर-सूचक वचन को सुन फिर कहने लगा कि द्रव्य के अभिमान में पड़कर क्यों तुम वृथा अपना सर्वनाश करवाते हो। देखो, दीपक से वैर-कर पतंग अपना ही नाश करता है। अतः शत्रुओं के दमन करनेवाले प्रतापशाली हमारे प्रभु की अप्रसन्नता उत्पन्न कर तुम क्या लाभ उठा सकोगे? वह तुम को क्षण भर में नष्ट कर सकता है। वस्तुतः वह तुम जैसे तुच्छ से लड़ाई लड़ते हुए लज्जित होता है। जगडू ने फिर भी निर्भय हो उसे सूखा जवाब दिया जिसे सुन वह अपने स्थान को चला गया और अपने स्वामी को सब वृत्तांत कह सुनाया।

जगडू भी यह प्रबल वैर हो जाने पर निश्चिंत नहीं रहा। वह अणहिल्लपुर (पाटण) पहुँचा और खासी भेंट दे गुजरात के कर्त्ता हर्त्ता लवणप्रसाद* से मिला। उसने इस प्रसिद्ध व्यापारी का सत्कार किया और इसके प्रार्थनानुसार इसे रक्षा के लिये पर्याप्त सेना दी, जिसे इसने अपने यहाँ क़िला बनवाने के ६ महीने पीछे तक रक्खा। तदनंतर थोड़े से संरक्षक रखकर उसे वापस भेज दिया। जगडू ने उस क़िले के एक कोने में सोने के सींगवाला एक सुंदर पत्थर

---

* लवणप्रसाद गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव दूसरे (भोले भीम १२३५–१२९८) का सामंत और धोलके का जागीरदार था। वह भीमदेव का मंत्री और उसके राज्य का प्रबंधकर्ता था।

का गधा और उसके नीचे पीठदेव की माता की मूर्ति बनवाई। पीठदेव उसका कुछ नहीं कर सका, किंतु संधि करके उसने अपना पीछा छुड़ाया। एक अवसर पर वह राजा यहाँ आया और क़िले में उस अपमान भरी मूर्ति को देखकर इतना लज्जित और दुःखी हुआ कि उसके मुख से रुधिर आने लगा और वह मर गया। सिंधुराज इस घटना को सुनकर बहुत घबराया और जगडू से मान-दान देकर प्रीति की।

छठा सर्ग—श्लोक १३७

उस समय श्रीमान् "परमदेव" नाम के एक तपोनिधि सूरि (जैन गुरु) थे जिन्होंने आचाम्लवर्धमान* नाम का तप किया और विक्रम संवत् १३०२ मार्गशीर्ष सुदि ५ को श्रवण नक्षत्र में "कटपद्र" नाम के ग्राम में देवपाल के घर पारण किया। शंखेशपार्श्वनाथ के मंदिर में उन्होंने ७ यक्षों को, जो संघों में विघ्न उत्पन्न किया करते थे, प्रबोध (उपदेश) किया और वहीं देवाराधन कर दुर्जनशल्य नाम के राजा का कोढ़ दूर किया। उसकी कृतज्ञता में उसने उस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। ये सूरि जगडू के कुलगुरु थे। जब वे भद्रेश्वर पधारे तो जगडू ने बहुत सन्मानपूर्वक उनका स्वागत किया। श्रद्धालु जगडू के आग्रह से गुरुजी उसके स्थान पर बहुत दिनों तक रहे, और उन्होंने वहाँ पर भावसार कुल में उत्पन्न मदना नाम की श्राविका को आचाम्लवर्धमान तप करवाया; परंतु वह उसे निर्विघ्न समाप्त नहीं कर सकी।

फिर गुरुजी की प्रेरणा से जगडू ने संघयात्रा का विचार किया। उन दिनों अणहिलपुर (पाटण) में वीसलदेव† राजा राज्य करता

---

* आचाम्लवर्धमान अर्थात् आंबेल जैनोंके व्रतोंमें से एक है।

† वीसलदेव—धोलका के बघेल (सोलंकी) सामंत लवणप्रसादका पौत्र और वीरधवलका पुत्र था। उसने भीमदेव (दूसरे) के उत्तराधिकारी

था। जगडू ने उसे बहुत से रत्न भेंट किए। यों उसको प्रसन्न कर वह भद्रेश्वर आया और अपनी तीर्थयात्रा का प्रबंध किया। सहस्रों धनवान् तथा जिन-तत्त्वज्ञ उसके साथ यात्रा में सम्मिलित हुए। गुरु ने उसके ललाट पर संघाधिपति का तिलक किया और अनेक गाजे बाजे, हाथी, घोड़े, गाड़ी, भाट और चारणों के साथ शुभ मुहूर्त में उस संघ ने प्रस्थान किया। जगडू स्थान स्थान पर वस्त्र, पात्र, सुवर्ण आदि का दान करता हुआ तथा जैन मंदिरों पर ध्वजा चढ़ाता हुआ शत्रुंजय तथा रैवतक की यात्रा कर भद्रेश्वर लौट आया और वहाँ पर श्रीवीरसूरि के बनवाए हुए वीरनाथ के मंदिर पर सोने का कलश और दंड (ध्वजस्तंभ) चढ़ाया। वहाँ अपनी पुत्री के कल्याणार्थ उसने आरासन (संगम) पर पत्थर की ३ देवकुलिकाएँ (देहरियाँ) और एक सुंदर अष्टापद बनवाया। उसने अपनी भतीजी हंसी के श्रेय के लिये १७० जिन मूर्त्तियाँ बनवाईं और अपनी पुत्री के नाम से अतिशय तेजस्वी त्रिखण्ड पार्श्वनाथ की मूर्ति के ऊपर सोने का पत्तर चढ़वाया। उसने कुमारपाल और मूलराज्य के बनाए हुए तालाबों को गहरा खुदवाया और कर्णवापिका का जीर्णोद्धार कराया। समग्र जिन बिम्बों(मूर्त्तियों) के पूजन के लिये उसने उस नगर में एक विशाल पुष्पवाटिका बनवाई। उसने "कपिल कोट" नगर में काल से जीर्ण बने हुए नेमिमाधव के मंदिर का और रम्य "कुम्भडपुर" में हरिशंकर के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। तदनंतर "ढंकापुरी" (ढाक काठियावाड़) में आदिनाथ का नवीन मंन्दिर बनवाया। वर्धमान (बढ़वाण) में उसने २४ तीर्थंकरों का बहुत बड़ा प्रासाद बनवाया और वहाँ एक महोत्सव करके मम्माणिक पत्थर की वीरनाथ की मूर्ति पधराई। "शतवाठी" नगरी में ५२ जिन मूर्त्तियों वाला नाभेय (ऋषभदेव) का मंदिर, विमलाचल (शत्रुंजय) की चोटी पर उसने ७ देवकुलिकाएँ और सुलक्षणपुर के समीप "देव-

त्रिभुवनपालसे गुजरातका राज्य छीना और वि० सं० ११०० से ११९८ तक राज्य किया।

कुल" नाम के नगर में उसने शांतिनाथ का मंदिर बनवाया। अपने गुरु के निमित्त उसने भद्रेश्वर में एक पौषधशाला* बनवाई और शंखेश्वर पार्श्वनाथ का चाँदी के पगलेवाला पीतल का एक चैत्य बनवाया। गुरु की पौषधशाला में उसने शयनार्थ शुल्बमय पट्ट (ताँबे का तख्त) बनवाया और उन गुरु के शिष्य श्रीषेण को एक महोत्सव करा कर आचार्य पद पर स्थापित किया। समुद्र के किनारे जहाँ पूर्व काल में सुस्थितदेव प्रगट हुए थे, वहाँ पर उसने एक देवकुलिका बनवाई। भद्रेश्वरपुर में उसने मुसलमानों के लिये भी एक मसजिद बनवाई†। जलाशय तो उसने स्थान स्थान पर सैकड़ों ही बनवाए।

परमदेव सूरि ने जगडू से एकांत में कहा कि विक्रम संवत् १३१२ के बाद ३ वर्ष तक सर्वदेशव्यापी दुर्भिक्ष का योग है; अतः तू अपने चतुर पुरुषों को देश देश में भेजकर सब प्रकार के धान्यों का संग्रह कर और उस कठिन अवसर पर जगत् को जीवन दान दे यशोपार्जन कर। जगडू ने वैसा ही सब प्रबंध कर लिया और वास्तव में हुआ भी वैसा ही जैसा कि गुरुजी ने पहले कह दिया था। वि० संवत् १३१३ में वर्षा का अभाव रहा, दुर्भिक्ष का आतंक प्रारंभ हो गया। दो वर्षों में तो ऐसी अवस्था हो गई कि राजाओं के कोष्ठागारों (कोठारों) में भी अन्न न रहा और एक द्रम्म‡ के १३ चने तक बिके।

अणहिलवाडे के राजा श्री बीसलदेव ने अपने यहाँ अन्न के निःशेष हो जाने से नागड़ मंत्री के द्वारा जगडू को बुलवाया। व्यापारी जनों की श्रेणी सहित उस गुणी जगडू ने राजा को रत्नों का

* अपासरा या पोसाल (पौषधशाला) में निवास करनेवाले जैन साधुओं के लिये अन्न, वस्त्र, पुस्तक की पहिले व्यवस्था होती थी।

† मसीतिं कारयामास बीमकी मंत्रिनाममौ।
भद्रेश्वरपुरे म्लेच्छपचौ कारणतः खलु ॥ (६—६४)

‡ द्रम्म—चार आने के मूल्य का चाँदी का सिक्का।

नज़राना कर प्रणाम किया*। राजा उसे देख विस्मित हुआ। तदनंतर राजा के मन की बात जाननेवाले किसी चतुर चारण ने अर्थान्तर न्यास से कहा कि हे सोल-सुत! आप के समान किसी दूसरे का पुण्य नहीं है; क्योंकि मनुष्यों की वामकुक्षि में प्रवेश कर उसकी रंगबिरंगी आँतों को कौन देख सकता है† ? (अर्थात् शरीर को तो सब कोई देखते हैं, परंतु पेट में भभकती भूख को देखकर आपके सिवाय कौन भोजन दे उसका दुख दूर कर सकता है)। यह कथन सुन राजा ने जगडू से कहा कि मैंने सुना है कि आपके पास अन्न के ७०० गोदाम हैं। अतः मैंने आपसे अन्न लेने की इच्छा से आपको बुलवाया है। यह सुन वह निरभिमानी मानव जाति का हितचिंतक हँसा और कहने लगा कि नाथ! मेरा तो अन्न है नहीं, यदि मेरे इस कथन में संदेह हो तो आप गोदामों की ईंटों में लगे हुए ताम्रपत्र के अक्षरों को देख लीजिए। तदनंतर ताम्रपत्र मँगवाया जिसमें लिखा था कि जगडू ने इस अन्न का रंकों के लिये संकल्प कर दिया है‡। तदनंतर उसने सभा में वीसलदेव से यह कहते हुए कि यदि दुर्भिक्ष-पीडित होकर किसी के प्राण जायँगे तो वह पाप मुझको लगेगा, फिर उसने आठ सहस्र अनाज के मूट (१ मूट = ५० मन का) राजा को दिए। इस लोकोपकारक कर्म से प्रसन्न हो सोमेश्वरादि कवीश्वरों तथा नर नारियों ने जगडू की बहुत प्रशंसा की और आशीर्वाद दिए। इस सर्ग में ९२ से १२२ वें श्लोक तक जगडू की प्रशंसा का ही वर्णन है। तदनंतर लिखा है कि जगडू अपनी

---

* व्यवहारिजनश्रेणी संश्रितोऽथ नरेश्वरम्।
दिव्यरत्नोपदापाणिस्तमानमदयं गुणी॥ (६—७६)

† सोलपुत्र भवत्तुल्यं पुण्यं नोऽन्यस्य विद्यते।
नृवामकुक्षौ कः पश्येत्कर्बुरांत्रं प्रविश्य च॥ (६—८२)

‡ ताम्रपत्रस्थिताम्वर्णाम्पार्थिवास्त्वित्यवाचयत्।
जगडूः कल्पयामास रंकार्थं हि कणानमून्॥ (६—८८)

प्रशंसा सुन शालीनता के कारण नम्रानन हो गया और उन कवियों को पुरस्कार दे राजा से आज्ञा ले भद्रेश्वर को लौटा।

उसने सिंधुदेश के राजा हमीर को १२ हज़ार, मुईज्जुद्दीन को २१ हजार, काशी के राजा प्रतापसिंह को ३२ हजार, चक्री (चक्रवर्ती) पदधारी स्कंधिल के राजा को १२ हजार मूड़े अन्न दिया और ११२ दानशालाएँ खोलीं। उसने करोड़ों लज्जापिंडों * में सोने के दीनार रखकर कुलीन जनों को रात के समय दिए। उसने ९९९००० अन्न के मूड़े तथा १८ करोड़ द्रम्म अर्थियों को दुर्भिक्ष में दिए।

सातवाँ सर्ग—श्लोक ३९

संतापमय तीन वर्षों के बाद अनुकूल वृष्टि हुई जिसने पृथ्वी तथा प्रजा के विदीर्ण हृदयों को फिर से हरा भरा किया। यद्यपि स्थान स्थान पर उपकृतज्ञता का उद्गार जगडू के चित्त को प्रसन्न करनेवाला था, तथापि इस समय उसके गुरु परमदेव के आकस्मिक स्वर्गवास ने उसको अत्यन्त सशोक कर दिया। तदनन्तर उसने संघ के साथ रैवतक की एक यात्रा और की और सुपात्रों को दान दिया।

बीसलराज की आज्ञा से नागड़ नाम का मुख्य मंत्री भद्रेश्वर आया। जगडू ने उसका समुचित सत्कार किया। इस राजा की एक नाव जिसमें घोड़े लदे थे, तूफान के मारे समुद्र के पास ही डूब गई। २० घोड़े समुद्र में मरकर डूब गए। एक जीता हुआ दिखाई देने लगा जिसको पकड़ने के लिये नागड़ यत्न करने लगा। जगडू ने कहा—आप रहने दें, यह पशु आप का नहीं है। मंत्री ने कहा नहीं, यह सरकारी है। यों कुछ वितर्क होने लगा। अंत में वह घोड़ा जगडू का ही निकला और उसने मंत्री से कहा कि समुद्र का मुझ को वरदान है। वह मेरी वस्तु को नहीं डुबाता।

---

* लज्जापिंड—अकाल के समय कुलीन लोगों के पास जो भीख नहीं माँग सकते या मजदूरी नहीं कर सकते, गुप्त रीति से पहुँचाए जानेवाले लड्डू।

१८

एक दिन श्रीषेणसूरि अट्टेश्वर में सरीसृपों के विषय पर व्याख्यान दे रहे थे। उस समय कोई दुष्ट योगी वहाँ चला आया। उसने इनसे सर्प के विषय में बहुत वादविवाद किया और समग्र सभ्यों को चकित कर दिया। इसकी प्रेरणा से एक सर्प ने सूरी जी की उँगली काट ली। उसके जाने के पश्चात् सूरी जी ने कहा कि मैं विष उतारने के लिये अंदर के कमरे में ध्यान करने जाता हूँ। वह योगी अपनी सम्मोहनी विद्या सिद्ध करने के लिये मेरी खोपड़ी लेने का इच्छुक है; अतः तुम लोग नंगी तलवार लिए द्वार पर डटे रहो। हुँकार शब्द सुनते ही द्वार खोलना। मुझे पद्मासन साधे बैठा हुआ पाओगे। वैसा ही हुआ। सूरीजी ने विष उतार दिया। वह योगी लज्जित हो गया और इनकी प्रशंसा करने लगा। सूरीजी ने योगी से कहा कि आज से ७ वें दिन मुझे तुम्हारी इस सर्प द्वारा मृत्यु दिखाई देती है। वह योगी वहाँ से कंथकोट चला गया और वहाँ किसी और योगी से वाद कर श्रीषेण के वचनानुसार उस सर्प द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ।

जगडू ने श्रीषेण के परामर्श से अनेक परोपकारी कार्य, तीर्थाटनादि किए और वृद्धावस्था प्राप्त कर देह त्यागा। लोग उसकी मृत्यु को सुन कहने लगे कि वास्तव में आज बलि, शिवि, जीमूतवाहन, विक्रम और भोज अंतर्धान हुए हैं। देहली के सुलतान ने अफसोस के मारे अपना ताज फेंक दिया। अर्जुनदेव* बहुत रोया। सिंधु के राजा ने दो दिन तक भोजन नहीं किया। गुरुजी के कहने सुनने से उसके भाई राज और पद्म किसी प्रकार धैर्य धारण कर धर्म कार्य करने लगे।

इस काव्य से पाया जाता है कि जगडू व्यापार के काम में निपुण और बड़ा ही धनाढ्य होने के अतिरिक्त साहसी, वीर, धर्मनिष्ठ और दीन दुःखियों का बड़ा सहायता करनेवाला था। जैन धर्मावलम्बी होने पर भी उसको अन्य धर्मों से तनिक भी द्वेष न था। इसी से

---

* अर्जुन देव गुजरात के राजा वीसलदेव का उत्तराधिकारी और उसके भाई प्रतापमल का पुत्र होना चाहिए।

उसने शिव और विष्णु के मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और मुसलमानों के लिये मसजिद बनवाई थी। उसके विचार भी संकीर्ण न थे; क्योंकि उसने अपनी विधवा पुत्री का फिर विवाह करने का विचार कर उसके लिये अपनी ज्ञाति की आज्ञा भी प्राप्त कर चुका था; परंतु अपने कुटुंब की दो वृद्ध स्त्रियों के बाधा डालने से ही वह ऐसा करने में हिचका था।

(१०) उर्दू का प्रथम कवि

[लेखक—बा० ब्रजरत्न दास, काशी ।]

भारत वर्ष में जब मुसलमान आक्रमणकारी आकर बसने लगे तब वे आरंभ में अधिकतर बादशाही कैंपों अर्थात् सैनिक पड़ावों में ही रहते थे जिनके बाज़ार को तुर्की भाषा में उर्दू कहते हैं। इस पड़ाव के व्यापारी आदि सब हिन्दू ही रहते थे जिनसे लेन देन के लिये एक ऐसी भाषा की आवश्यकता हुई जिसे दोनों समझ सकें। स्वभावतः कोई कार्य जिस प्रकार सहज में हो सकता है, उसे ही सब पसंद करते हैं। तुर्की, फ़ारसी आदि भाषाएँ हिंदी से अधिक जटिल थीं; इसलिये हिंदुओं के फारसी आदि भाषाएँ सीखने के शताब्दियों पहले मुसलमानों ने हिंदी में बोलना सीख लिया था। वे कविता आदि भी इसी भाषा में करने लगे थे; जैसे अमीर खुसरो, अकरम-फ़ैज़ आदि। हिंदी भाषा जिसमें कुछ फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्द मिल गए थे, उर्दू की भाषा कहलाने लगी।

इस उर्दू नाम की व्यावहारिक भाषा का जन्म-स्थान उत्तरी भारत का कोई उर्दू था और लगभग पाँच शताब्दी तक यह केवल इसी रूप में रही। विद्वानों ने इसे तब तक नहीं अपनाया था और स्यात् ही यह कभी साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त करती यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती। उर्दू के साहित्य का आरंभ दक्षिण में हुआ और वह दखिनी कहलाई। मीर हसन अपनी पुस्तक 'तज़किरः' में लिखते हैं कि रेख़्तः आरंभ में दखिनी भाषा से निकली मीर साहेब जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं, एक शेर इस विषय में लिखते हैं—

ख़ूगर नहीं कुछ यों ही हम रेख़्तःगोई के।
माशूक़ था जो अपना बाशिन्दा दकिन का था॥

इस समय तक इस भाषा के लिये रेख्तः या हिंदी ही लिखा जाता था और जहाँ तक ज्ञात हो सका है, उर्दू नहीं लिखा मिला है। दक्षिण में जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गए, तब उनकी सरकारी और दरबारी भाषा फ़ारसी ही थी और प्रजा की तैलंगी, कनाड़ी आदि जो आर्य भाषाओं से भिन्न द्राविड़ी भाषाएँ थीं। जब 'उर्दू' नाम की हिन्दी दक्षिण में आई और साहित्यिक रूप धारण करने लगी, तब द्राविड़ी भाषाएँ तो अजनबी थीं, इस कारण उसने उनसे कोई सरोकार नहीं रखा, पर फ़ारसी का रंग उस पर अच्छी तरह चढ़ गया। क्योंकि एक तो फ़ारसी भी आर्य भाषा मानी जाती है और दूसरे शताब्दियों से दोनों का साथ था। इस प्रकार उत्तर से लाई गई इस छोटी सी धारा में फ़ारसी की प्रबल उल्टी धारा का जल नहर काटकर ला मिलाया गया जिससे उसकी धारा भी उल्टी बह चली। फ़ारसी छंद शास्त्र के नियमों से बनी हुई कविता में फ़ारसी ही के उपमान, उपमेय, विचार, कथाएँ आदि भी आ मिलीं और उर्दू नाम की हिंदी वस्तुतः उर्दू हो गई। अब इस प्रकार उर्दू और हिंदी के पार्थक्य का कारण वस्तुत: फ़ारसी छंद शास्त्र है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि फ़ारसी लिपि भी उस पार्थक्य को बढ़ाने में सहायता देती है, पर केवल लिपि के कारण भाषा दूसरी नहीं हो सकती। यदि यह साहित्यिक आरंभ उत्तरी भारत में होता जहाँ बादशाही महलों और मुसलमान विद्वानों की सभाओं को छोड़ चारों ओर हिंदी ही हिंदी थी, तब संभवतः हिंदी पिंगल शास्त्र का ही वह अनुकरण करती और कोई पृथक् भाषा का रूप न धारण कर सकती।

इन विचारों से यह भी प्रकट हो गया कि उर्दू का प्रथम कवि उर्दू साहित्य तथा उर्दू भाषा के जन्मदाता होने का भी गौरव प्राप्त करेगा। बहुत दिनों तक लोगों को यही धारणा रही कि उर्दू का प्रथम कवि अहमदाबाद-निवासी वलीउल्ला उपनाम वली था। परंतु अब यह धारणा अशुद्ध मान ली गई है। वली विक्रमीय अठारहवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया है। इसके अनंतर वली के बारे में यह विचार दृढ़ हुआ कि यही वह प्रथम कवि है जिसने फ़ारसी दीवानों के ढंग पर उर्दू में पहला दीवान बनाया है और अभी तक यह मत सर्वमान्य समझा जाता है। खोज या जाँच ने, जो सर्वदा इसी घात में लगी रहती है, इस विचार को अशुद्ध प्रमाणित करने के लिये एक नया संग्रह भी प्रकट कर दिया है। यह संग्रह वली के एक शताब्दी से अधिक पहले अकबर के समसामयिक गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह की रचना है।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह

जगद्दाहक हलाकूखाँ ने जब तेरहवीं शताब्दी ईसवी में बग़दाद राज्य का अंत कर दिया था, तब तातारी जातियाँ यहाँ आकर चारों ओर फैल गईं जिनमें से एक जाति ने जो आक़क़वीनलू कहलाती थी, पंदरहवी शताब्दी में बग़दाद पर अधिकार कर लिया। आक़क़वीनलू का अर्थ सफ़ेद मेंढ़ा है और इस जाति के झंडे पर यही चिह्न बना हुआ था। गोलकुंडा का राज्य स्थापित करनेवाला इसी वंश का था।

क़राक़वीनलू जाति के तातारियों ने इस जातिवालों को निकाल कर उस राज्य पर अधिकार कर लिया और इनके सरदार को ऐसा घेरा कि उसे जान बचाने के लिये देश-त्याग करना पड़ा। दक्षिण के बहमनी सुलतानों के ऐश्वर्य और उनके सरदारों की प्रतिष्ठा तथा वैभव का समाचार सुनकर सुलतान कुली बहमनी सुलतान महमूद शाह के दरबार में पहुँचा। महमूद शाह ने इसे होनहार समझ कर अपना कृपापात्र बना लिया। महमूद शाह स्वयं विषयी और आरामतलब बादशाह था। उसके सरदार आपस के द्वेष के कारण षड्यंत्र रचा करते थे और इसी में एक बार बादशाह स्वयं बलिदान हो चुका था, पर किसी प्रकार बच गया। सरदारगण इधर उधर जागीरें दबाकर नए राज्य स्थापित करने में लगे हुए थे

और महमूद शाह अपनी रंगरलियों में मतवाला हो रहा था। फरिश्ता लिखता है कि दिल्ली और लाहौर के गवैये और ईरान, खुरासान के बजानेवाले सर्वदा हाज़िर रहते और क़िस्सा कहानी कहनेवाले महफ़िल को गर्म रखते थे।

सुलतान कुली ने अपनी वीरता और कार्य-दक्षता से शीघ्र ही कुतुबुल्मुल्क की पदवी प्राप्त कर ली और तेलिंगाना का सूबेदार नियुक्त हुआ। यद्यपि इस्माइल आदिलखाँ, मलिक अहमद निज़ामुल्मुल्क और अलाउद्दीन एतमादुल्मुल्क ने महमूद शाह के जीते ही स्वतंत्रता का झंडा खड़ा कर दिया था, परंतु सुलतान कुली ने ऐसा न कर बराबर खुतबे और सिक्के में महमूद शाह का नाम रखा था। सं० १५७५ वि० में महमूद शाह की मृत्यु पर इसने कुतुब शाह की पदवी धारण की और गोलकुंडा को राजधानी बनाकर स्वतंत्रता से छत्तीस वर्ष राज्य किया। उसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबंध भी जो बहमनी सुलतानों के समय में ढीला पड़ गया था, फिर से ठीक किया।

सं० १६०० वि० में सुलतानकुली अपने पुत्र जमशेद द्वारा मारा गया जिसने सात वर्ष राज्य किया। सं० १६०७ वि० में जमशेद का भाई इब्राहीम सुलतान हुआ जिसने तालीकोट के युद्ध में योग दिया। इसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबंध भी दृढ़ कर राज्य में शांति फैलाई। सं० १६३७ वि० में उसकी मृत्यु होने पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। बीजापुर और गोलकुंडा से बराबर युद्ध होता रहता था, इसलिये मुहम्मद कुली ने अपनी बहन मलिकैज़माँ का विवाह इब्राहीम आदिलशाह से करके उससे मित्रता कर ली। शांति-स्थापन करके राज्य के कर, नियम आदि में बहुत कुछ उन्नति की, मसजिदें, मदरसे, अनाथालय, सराय आदि प्रजा के हितार्थ बनवाईं और दान पुण्य के लिये चार लाख रुपया राज्य से दिलवाया।

मुहम्मद कुली ने गोलकुंडा से कुछ हटकर एक नया नगर

बसाया जिसका नाम पहले एक प्रेयसी के नाम पर भागनगर* रखा था, पर अब वह हैदराबाद के नाम से प्रसिद्ध है। फरिश्ता ने अपने ग्रंथ में इस नगर की बहुत प्रशंसा लिखी है और जिसने उस समय के दिल्ली, आगरा आदि प्रसिद्ध नगरों को देखा था, उसके लिये इतना लिखना ही बहुत है। इस नगर के बड़े बड़े महलों को, जिसे इस सुलतान ने बनवाया था, देखकर फ्रेंच यात्री टैवर्नियर ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया था कि 'बागों के बड़े बड़े वृक्ष जो भिन्न भिन्न मरातिबों में लगे हैं, उनके बोझ को ये छतें किस प्रकार सँभाले हुए हैं'।

मुहम्मद कुली को इमारत बनवाने के व्यसन के सिवा साहित्य से भी बहुत प्रेम था और वह स्वयं भी कवि था। स्वयं अच्छा लिखनेवाला था और ईरान तक से नस्तालीक़ और नस्ख़ लिखनेवाले इसके दरबार में आए थे। यह गुणग्राहक और गुणियों को पहचाननेवाला था। प्रसिद्ध मीर जुमला भी इसीका वज़ीर था जिसने कर्नोल और कड़प्पा विजय किए जाने पर वहाँ शांति-स्थापन किया था।

मुहम्मद कुली का काव्यसंग्रह

यह हस्तलिखित ग्रन्थ इस समय हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में है। यह पुराने समय के बहुत अच्छे काग़ज़ पर नस्ख़ चाल के हरफों में लिखा हुआ है। इस संग्रह में लगभग अठारह सौ पृष्ठ हैं। मुहम्मद कुली कुतुबशाह के भतीजे और उत्तराधिकारी मुहम्मद कुतुबशाह ने अपने चाचा की ग़ज़लों को क्रम से लगाकर यह हस्तलिखित प्रति तैयार कराई और पहले पृष्ठ पर अपने हाथ से इन्होंने लिखा है जिसका आशय है कि पूज्य चाचा मुहम्मद कुली कुतुबशाह का कुलियात (दीवान अर्थात् संग्रह) पूर्ण हुआ और यह मुहीउद्दीन लेखक द्वारा १ रजब सन १०२५ हि० को लिखा जाकर राजधानी हैदराबाद में सुरक्षित हुआ।

इसी पृष्ठ पर मुहम्मद कुतुबशाह के लेख के ऊपर लिखा है कि

---

* मुंतख़बुत्तवारीख़ जि० ३ पृ० १६३।

'मुहम्मद कुली कुतुबुलमुल्क की गज़ल जिसमें फ़ारसी और दक्खिनी शैर हैं, अब्दुल्ला कुतुबुलमुल्क की लूट में से हैदराबाद के सरकारी पुस्तकालय में लाया गया।' इस लेख से यह प्रकट है कि हैदराबाद राज्य का कोई मुंशी अपने सुलतानों का नाम इस प्रकार लिखने का साहस न करता और यह मुगल साम्राज्य के किसी मुंशी का लिखा हो सकता है। जब औरंगजेब ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया, तब उसने लूट के साथ वहाँ के पुस्तकालय की चुनी हुई पुस्तकें भी दिल्ली भेजीं। जब दिल्ली लुटी, तब यह पुस्तक घूमती फिरती कलकत्ते पहुँची और वहाँ से फिर अपने स्थान पर हैदराबाद लौट आई। दिल्ली पहुँचने पर वहाँ के राजकीय पुस्तकालय के मुंशी का वह लेख हो सकता है।

सुलतान मुहम्मद कुतुबशाह ने जो स्वयं कवि था, इस ग्रन्थ में मसनवी, क़सीदे, तरजीहबंद, फ़ारसी मर्सिए, दखिनी मर्सिए. फारसी गज़लें, दखिनी गज़लें और रुबाइयाँ इसी क्रम से संगृहीत कीं और इस ग्रंथ के प्रारंभ में स्वयं एक पद्यमय भूमिका लिखी जिसमें इन सब बातों को लिख दिया है। इस भूमिका के दो तीन शैर उद्धृत किए जाते हैं।

जो ख़ासा है यों शायराँ का हर एक।
निरें बिन कहे वस्फ़ बतियाँ कितेक॥
मगर शाह कह बैत पचास हज़ार।
धरे वस्फ़ आपस सों कहूँ बैत आर॥
तुम अब ख़त्म खुतबे कों ज़िल्ले अलाह।
किए मंग अली व्ली थे पनाह॥

मुहम्मद कुतुबशाह का उपनाम ज़िल्लेअलाह था और इनके चाचा मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने पचास हज़ार शैर कहे थे।

मुहम्मद कुली क़ुतुबशाह की कविता

मुहम्मद कुली कुतुबशाह का समय भारतवर्ष के लिये साहित्य की बहुत उन्नति का समय था। सम्राट् अकबर के दरबार में फ़ारसी

और हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक मौजूद थे जिनमें अबुल्फ़ज़ल सा अद्वितीय गद्य लेखक, फ़ैज़ी और उर्फ़ी से उद्दंड कवि, गंग भाट और ख़ानख़ाना से हिंदी के विख्यात कवि थे। हिंदी का यह सौरकाल था और सूरदास, तुलसीदास, नंददास आदि से महात्माओं की पीयूषवर्षिणी कविता भक्तों के हृदय को आज तक प्रफुल्लित करती है। महाकवि केशवदास भक्तिमार्ग को छोड़ शृङ्गार रस का स्वाद ले रहे थे। ऐसे समय में प्राचीन उर्दू अर्थात् दखिनी का दक्षिण में जन्म हुआ था। यद्यपि फ़ारसी छंदशास्त्र के साँचे में ढलने के कारण हिंदी भाषा का नया रूप बन गया था, परंतु पुराना आकार भी बहुत समय तक बना रहा। उस समय तो हिंदी के बहुत कुछ शब्द, हिंदी की वाक्य-रचना और हिंदी का असर इस नई भाषा पर बना हुआ था और इसी से मुहम्मद कुली कुतुबशाह की गज़लें प्राचीन उर्दू के सच्चे रूप का कुछ कुछ पता देती हैं।

प्रोफेसर आज़ाद ने व्रजभाषा से उर्दू की उत्पत्ति बतलाई है, पर वह उनकी भ्रांति मात्र है। मुहम्मद कुली कुतुबशाह के पहले की उर्दू नाम की भाषा केवल फ़ारसी आदि के शब्द लिए हुए वह हिंदी थी जिसे हिंदू मुसलमान बातचीत और व्यवहार में काम में लाते थे और वह व्यावहारिक भाषा व्रजभाषा नहीं थी। उर्दू के साहित्यिक आरंभ की भाषा भी व्रजभाषा नहीं थी जैसा कि मुहम्मद कुली कुतुबशाह की गज़लें पढ़ने से मालूम होगा। इन्होंने अपनी कविता में हिंदी और फ़ारसी का ऐसा मिश्रण किया है कि वह सोने चाँदी की गंगा-जमुनी की तरह झिलमिलाता है। इनके बाद के कवियों को यह धूपछाँह रंग या दो प्रकार का स्वाद ठीक नहीं मालूम हुआ और इन लोगों ने फ़ारसी शब्दों, कथानकों, उपमाओं का मुलम्मा या मेल करके इसे एक रंग या एक स्वाद कर दिया।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह की कविता बहुत ऊँचे दर्जे की न होने पर भी हीन नहीं कही जा सकती। किसी भाषा के आरंभिक काल के कवि के समान इनकी कविता भी अच्छी ही मानी जायगी।

इनकी भाषा में दखिनी शब्द भी बहुत आए हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

कुफ़र रीत क्या हौर इसलाम रीत।
हर एक रीत में इश्क़ का राज़ है॥ *
बिनती कहो पिया कों हम सेज के न आवे ?
उस बाज मुँज गुमे ना मुँज बाज क्यों गुमावे॥ †
ज़ोहद रया थे बहु दिन बदनाम हो रहा हूँ।
प्याले पिला परम के कर नेकनाम साक़ी॥१
तुम बिनु रहा न जावे अन नीरकुज न भावे।
बिरहा किता सतावे मन सेति मन मिलादो॥२
तुम्हारा मया होना मुँज चूक ऊपर।
कि मैं बाली हूँ और नादाँ बिचारी॥
उनींदी हैं मुंज नयन तुज याद सेती।
कहो तुम नयन में है काँ की खुमारी॥३
यों आज दिसता है सखी उस वक्त का मसलत मुँजे।
जा बैठूँगा मैख़ाने में उस ठौर है इशरत मुँजे॥

---

* हौर = और। राज़ = भेद।

† गुमना = समय काटना। बाज = बिना। अर्थात् उसके बिना मेरा समय नहीं कटता, मैं बेचैन हूँ, तो उसे मेरे बिना कैसे चैन आता है।

१ ज़ोहद (अ०) = तपस्या। रया (अ०) = वाह्याडंबरपूर्ण। थे = से। साक़ी (अ०) मदिरा पिलानेवाला। तपस्या के आडंबर के कारण बहुत दिनों से बदनाम हो रहा हूँ; इससे प्रेम रूपी मदिरा पिलाकर नेकनाम कर दे।

२ खुमारी—जागने से या मद्यपान से चढ़ी हुई आँखें।

३ मौलवी अब्दुलहक़ ने उनींदी का अर्थ बेनींद की लिखा है, पर यह ठीक नहीं है। उनींदी अर्थात् नींद से भरी हुई। अर्थ हुआ कि मैं बालिका और अबोध हूँ; इससे मेरी भूल पर भी तुम्हें प्रेम दिखलाना उचित है। तुम्हारी याद में जागने ही से मेरी आँखें उनींदी हो रही हैं। पर यह तो बतलाओ कि तुम कहाँ गए थे कि तुम्हारी आँखों में खुमारी भरी हुई है।

प्याला परम का हाथ लेउँ दूजाँ के सँग थे दूर हूँ।
है खूब जे कुज जग मने सो है सदा दौलत मुँजे ॥१
सदा फूल बन और मद है मुँजे।
नहीं है खुमारी कभी हौर दे ॥
सँपूरन है तुज जोत सों सब जगत।
नहीं खाली है नूर थे कोई शै ॥२
गरजा है मेघ सर थे ताज़ः हुआ है बुस्ताँ।
फूलों की बास पाया बुलबुल हज़ारदस्ताँ ॥
आ नौनिहाल फूलाँ हैं जामे खूप सो बादः।
नरगिस अपस पलक सों झाड़ू करे शबिस्ताँ ॥
मुंज इश्क़ के गदा कों औरंग शाही देता।
सब आशिक़ाँ मुँज आगे हैं तिफ्ल जों दबिस्ताँ ॥३

इस प्रकार के शेरों में जिनमें मदिरा और मदिरापान का ज़िक्र बराबर चला आ रहा है, फ़ारसी की रंगत साफ़ झलकती है। फारसी भाषा पर इस मदिरा का तेज़ रंग बहुत चढ़ा हुआ है। पर इस कवि ने अपनी भाषा में उसका नीम रंग रखकर उसकी शोभा बढ़ा दी है। इस कवि ने केवल प्रेम ही पर नहीं लिखा है वरन् अन्यान्य विषयों पर भी लिखा है जिनमें मानुषिक विचार और प्राकृतिक वर्णन भी सम्मिलित हैं। फलों, मेवों, पक्षियों आदि पर भी कविताएँ लिखी हैं।

---

१ मसलत—[अ० मसलहत] उपयुक्त सम्मति। इशरत—(फा०) आराम। जे कुज = जो कुछ।

२ सँपूरन—(सं० संपूर्ण) भरा हुआ। उर्दू लेखक ने इसका अर्थ पूर्ण चंद्र समझकर लिखा है, पर वह अशुद्ध है।

३ सर थे—नए सिरे से। बुस्ताँ—(फा०) बाग। जाम—(फा०) प्याला। बादः—(फा०) शराब। शबिस्ताँ—(फा०) एकांत स्थान। मसजिद का वह भाग जहाँ निमाज़ पढ़ते हैं। औरंग—(फा०) तख्त, सिंहासन। तिफ्ल—[फा०] लड़का। दबिस्ताँ—[फा०] पाठशाला।

सड़क से बाग़ को देखत खुले मुँज बाग़ के गुंचे।
सो उस गुंचे के बासाँ थे लग्या जग जगमगन सारा॥
चमन के फ़ूल फ़ूले देख सखियाँ का मुख याद आया।
सुहाता था मुहम्मद फल नमन उनके नयन सारा॥ *
दिसे नासिक कली चंपा भवाँ दो पात हैं तिसके।
भँवर तिल देख उस जा का हुआ हैरान मन सारा॥
दिसें जामुन के फल बन में नीलम के नमन सालिम।
नज़र लागे त्यों मेवायाँ को राख्या हैं जतन सारा॥ १

डूबते हुए सूर्य का कई प्रकार से वर्णन किया है; जैसे—

निसि के समुंदे स्याम में सोने का रोज़क डूब्या।
डूबने में तिरने लगे बुड़बुड़े कई लख हज़ार॥ २

रात्रिरूपि नीले समुद्र में सोने की नाव डूब गई, जिसके डूबने से लाखों बुलबुले सितारों की तरह दिखलाई पड़ने लगे।

चर्ख़ के ख़ुमख़ाने में सूर पिया जानो मद।
मस्त हो जाकर पड्या ग़र्ब के चश्मे मँझार॥

आकाश के शराबख़ाने में सूर्य ने अधिक मदिरापान कर लिया जिससे मत्त होकर पश्चिम के तालाब में जाकर गिर पड़ा।

चंद्र पर रूपक बाँधा है कि—

खन के सो हौज़ ख़ाने रैन भर्या नीर ज्यों।
चाँद फ़ूयारा नमन तारे बुँदा नीर सार॥

---

* इस शेर का जो पाठ 'उर्दू' में दिया है, उसकी धारा ठीक नहीं थी इसी से कुछ पाठ-भेद कर दिया गया है।

१ मुँज बाग़ के गुंचे—भाव है कि मेरे हृदय की कलियाँ खिल गईं।

फूल देखकर सखियों का मुख ध्यान पर चढ़ गया। चंपा की कली नाक के समान, भौंह उसके दो पत्तों के समान और भौंरे तिल से जान पड़ते थे।

२ उर्दू लिपि में हिंदी लिखने से इसके मूल के पाठ में कई अशुद्धियाँ रह गई हैं।

आकाश रूपी तालाब में रात्रि रूपी (नीला) जल भरा हुआ है जिसमें चाँद रूपी फुहारे से निकली हुई बूँदें तारे के समान बिखरी हुई हैं।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह की कविता के जो नमूने ऊपर दिए गए हैं, उनमें फ़ारसी कविता का रंगरूप अच्छी तरह प्रकट हो रहा है। भाव, विचार, उपमा आदि फ़ारसी की हैं और छंद भी उसी के साँचे में ढले हुए हैं। पर इन सब के होते भी एक बात शुद्ध हिंदी या भारतीय है जो इसकी समग्र कविता में एक रूप से पाई जाती है। फ़ारसी की कविता में पुरुष प्रेम अर्थात् आशिक़ होता है और स्त्री प्रेम की पात्र अर्थात् माशूक़ होती है; पर हिंदी में इसके बिलकुल विपरीत होता है। विरहाग्नि में जलना हो तो स्त्रियाँ जलें, सौतों का कष्ट उठाना हो तो वे उठावें और पुरुष पर प्रेम प्रकट करना हो तो वे करें। पुरुष ने इन सब बातों में स्त्रियों से असहयोग करने की ठान ली है। पर फ़ारसी कविता स्त्रियों के प्रति अधिक उदार है और उसमें पुरुष ही सब कष्टों को झेलता है। पर यह औदार्य कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह इस उदाहरण से व्यक्त हो जायगा। यह सर्वमान्य होगा कि जब प्रेम एकांगी नहीं है तब विरह में दोनों को कष्ट होता है और स्त्री के अधिक सुकुमार और असहनशील होने के कारण उसका विरह पहले ही प्रकट हो जाता है। किसी प्रकार के कष्ट को स्वभावतः पुरुष स्त्री से अधिक सहन करने के योग्य होता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसीके द्वारा कवि विरहाग्नि-जनित क्लेशों को प्रकट करे। पुरुषों का आहें भरना, रोना, गाना किसी सीमा तक ही उचित है; पर स्त्रियों के लिये यह सीमाबद्ध नहीं हो सकता। अस्तु, यही हिंदी कविता का रंग है जो इनके काव्य-संग्रह में सर्वत्र झलकता है।

इस विषय का उल्लेख करते हुए जहाँगीर बादशाह के समय की एक घटना का वर्णन करना उचित जान पड़ता है। एक समय जहाँगीर के सामने क़व्वाल अमीर ख़ुसरो की ग़ज़ल गा रहा था

और वह बड़ी प्रसन्नता से सुन रहे थे। जब उसने निम्नलिखित शैर गाया—

तू शबानः मीनुमाई बेह बरे कि बूदी इमशब।
कि हनोज़ चश्मे मस्त अस्त असरे ख़ुमार दारद॥

तो जहाँगीर एकाएक बिगड़ गया और क़व्वाल को पिटवाकर निकलवा दिया। वह इतना क्रुद्ध हो गया था कि लोगों ने झट मुल्ला नक़शी मेहकुन को बुलवाया जिस पर जहाँगीर की बड़ी कृपा रहती थी। इन्हें देखते ही जहाँगीर ने कहा कि देखो अमीर ख़ुसरो कैसी निर्लज्जता का भाव लाया है। भला कोई भला आदमी अपनी प्रेयसी या विवाहिता से ऐसी बात कह सकता है। मुल्ला ने कहा कि अमीर ख़ुसरो का भारतवर्ष में ही पालन हुआ था, इसलिये वे यहीं के विचारों के अनुकूल कविता करते थे। यह शैर भी उसी विचार के अनुसार है जिसका भाव यह है कि स्त्री अपने पति को उलाहना देती है कि तू आज रात्रि को किसी अन्य स्त्री के यहाँ रहा है; क्योंकि अभी तक तेरी आँखों में जागने तथा मद्यपान की ख़ुमारी भरी हुई है।

यदि उर्दू के कवि-संसार के दो चार उच्च कोटि के कवियों को अलग कर दिया जाय तो चार शताब्दी पहले की शृंगारिक कविता और आधुनिक समय की कविता में कोई नई बात नहीं दिखलाई देती। यदि दोनों में कुछ भिन्नता है तो वह भाषा की भिन्नता तथा सफ़ाई के सिवा और कुछ नहीं है। वे ही विचार, वे ही भाव, छंद आदि आज तक चले आ रहे हैं।

(१२) महाकवि भास और उसका नाटक-चक्र

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

[पत्रिका, भाग ४, पृष्ठ १८१ के आगे]

छठे अंक में दिखाया है कि कुंतिभोज का भेजा हुआ दूत सौराष्ट्र से लौटकर कहता है कि वहाँ के अमात्यों ने यह कहा है कि सौवीरराज आपके ही नगर में गुप्त-रूप से निवास कर रहे हैं। इस पर राजा उसका पूर्ण अन्वेषण कराता है और पता लग जाने पर अत्यन्त स्नेह से उससे मिलता है। बचपन से सख्य-भाव रखनेवाला सौवीरराज, कुंतिभोज के इतने सत्कारयुक्त स्वागत करने पर भी, उचित उत्साह से उससे नहीं मिलता; अतएव उसे कहना पड़ता है कि—

चिन्ताकुलत्वं व्रजतीव बुद्धिर्वाक्यं च बाष्पाहतगद्गदं च।
नेत्रे सबाष्पे मुखमप्रसन्नं किं हर्षकाले क्रियते विकारः॥

आशय—मित्र! यह क्या बात है? आपका मन चिंताकुल सा हो रहा है, आपसे बोला भी नहीं जाता, नेत्रों में नीर आ गया है, मुख उदास हो रहा है, हर्ष के समय यह क्या विपरीत अवस्था कर रक्खी है?

वह उत्तर देता है कि मित्र, यह बात नहीं कि मैं आपके मिलने से अप्रसन्न हूँ, किंतु पुत्र-स्नेह बहुत बलवान् है। चंडभार्गव नामक अत्यंत कोपशील ब्रह्मर्षि हैं। वे एक समय हमारे देश में आए और वहाँ पर एक स्थान पर उनका एक शिष्य व्याघ्र से मारा गया। मैं भी उस अवसर पर आखेट करता हुआ उस स्थल पर पहुँच गया। ऋषि ने अपने मृत शिष्य को अपने हाथों में ले रक्खा था और वे

मुझे देखते ही मेरे ऊपर कठोर शब्दों की वर्षा करने लगे। मैंने उनसे कहा—

न भाषसे वृत्तमुपैषि रोषं निष्कारणं प्रक्षिपसि प्रकामम्।
अभाजनं त्वं तपसां प्रकोपाद् ब्रह्मर्षिरूपेण भवाञ्छ्वपाकः॥

आशय—आप बात तो बताते नहीं, रुष्ट हो रहे हैं, व्यर्थ ही जी चाहे जैसे भला बुरा कह रहे हैं, क्रोध के कारण आप तपस्वी होने के योग्य नहीं, वस्तुतः ब्रह्मर्षि के रूप में आप श्वपाक हैं।

इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझ को पुत्र-कलत्र सहित श्वपाक बनने का शाप दिया। हमारा पुत्र विष्णुसेन (जो अवि नाम के राक्षस के वध करने से अविमारक कहलाता है) हमारे साथ था; परंतु एक वर्ष से उसका कुछ भी पता नहीं। यह शोक मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहा है। जिस समय ये बातें चीतें हो रही हैं, उस समय नारद मुनि यह सोचकर कि कुंतिभोज के पिता दुर्योधन ने हमारी चिरकाल तक सेवा की थी, वहाँ पधारते हैं और अपने योगबल से अविमारक का कुरंगी के साथ स्नेह हो जाना आदि घटनाएँ प्रकट कर देते हैं। पिता को अपने पुत्र की प्राप्ति से अत्यंत हर्ष होता है और कुंतिभोज भी, जो पहले ही से अपनी कन्या कुरंगी का विवाह अविमारक से करना चाहता था, इस अपूर्व मिलाप से संतुष्ट होता है। नारद वर-वधु को आशीर्वाद देते हैं और नाटक समाप्त होता है।

चारुदत्त

उज्जैन निवासी चारुदत्त जो एक समय बहुत धनवान् था, परंतु अब निर्धन हो चुका है, अपने अल्प विभवानुसार देवार्चन करता हुआ मन में सोचता है कि मनस्वी (समझदार) के लिये तो दरिद्रता साक्षात् मृत्यु है। भेद इतना ही है कि मृत्यु को प्राप्त हुआ श्वास नहीं लेता, किंतु दरिद्रता को प्राप्त हुआ श्वास लेता रहता है। देखो, मेरे जिन आँगनों में उत्तमोत्तम बलियों को दूर दूर से आ आकर हंस और सारस खाया करते थे, वहाँ पर आज उन पूर्व

बलियों में से जो जौ के दाने बिखर कर उग गए हैं, उन्हें कीड़े चबा रहे हैं। इतने ही में उसके पास उसका मैत्रेय नामक मित्र आ जाता है और अनेक प्रकार से उसे सांत्वना देता है। चारुदत्त कहता है कि हाँ, यह ठीक है, मेरा धन सहानुभूति के कार्य्यों में समाप्त हो गया। मुझे याद नहीं कि मैंने कभी किसी अर्थी जन को अकृतार्थ रक्खा हो। अतएव—

सत्यं न मे धनविनाशगता विचिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि पुनर्भवन्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनश्रियो मे
यत् सौहृदानि सुजने शिथिलीभवन्ति॥

आशय—सचमुच मुझको धन के नाश हो जाने की तो चिंता नहीं, भाग्यक्रम से धन तो नष्ट होकर फिर भी हो जाया करता है, परंतु वास्तव में मेरे हृदय को यह बात अवश्य विदीर्ण करती है कि मुझको नष्ट-वैभव जान लोगों ने मुझसे सख्य-भाव भी शिथिल कर डाला।

इस प्रकार चारुदत्त और मैत्रेय का पारस्परिक वार्त्तालाप होता है और मैत्रेय रदनिका नाम की चेटी को साथ में लेकर बलि देने को जाता है। इधर मार्ग में जाती हुई एक बहुत समृद्धिशाली राजवेश्या की पुत्री वसंतसेना का, जो चारुदत्त के विविध गुणों को सुनकर उससे अनुराग करती थी, उज्जैन के राजा का साला "शकार" और उसका सहचर "विट" पीछा करता है। वे उसे अनेक प्रकार से प्रलोभन और तर्जना देते हैं, परंतु वह उनका अनवधान करती हुई भागती जाती है। रात्रि का समय होने के कारण वे एक दूसरे को भले प्रकार से गली में नहीं देख सकते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि शकार जो वहाँ के मकानों से अधिक परिचित है, वसंतसेना को भाग गई जानकर अपने सहचर से कहता है कि यह युवती सार्थवाह (मुखिया) के पुत्र चारुदत्त से अनुराग करती है। और यह उसीके निवास स्थान का

पक्षद्वार है। वसंतसेना इस वृत्त से, जो उसके लिये अत्यंत लाभदायक है, तुरंत अपना हित सिद्ध करती है। ज्यों ही मैत्रेय दीपक लेकर द्वार खोलकर बाहर निकलता है, त्यों ही दीवार के पास खड़ी हुई वसंतसेना उसे बुझा देती है और चुपके से घर के अंदर घुस जाती है। मैत्रेय स्वयं तो दीपक जलाने को वापस चला जाता है और चेटी रदनिका को पूजा की सामग्री लेकर आगे चलने को कह जाता है। यह बेचारी वसंतसेना के धोखे में शकार और विट से पकड़ ली जाती है और वृथा घसीटी जाती है। पीछे से मैत्रेय दीपक लेकर आता है और सब भेद खुल जाता है। विट इस अनुचित घटना के लिये क्षमा माँगता है, परंतु स्मर-शर-प्रहार-परवश शकार यह जानकर कि यह मैत्रेय चारुदत्त का मिलनेवाला है, उससे कहता है कि तुम मेरा नाम लेकर उस सार्थवाह-पुत्र से कह देना कि वसंतसेना बहुत सा ज़ेवर पहने हुए तुम्हारे घर में घुस गई है। उसे कल दिन निकलते ही मेरे अर्पण करना, अन्यथा तुम्हारे धन-जीवन की कुशल नहीं है। ये बेचारे चुपचाप सुनकर वापस चले आते हैं और सौम्य वृत्ति से यह दुर्घटना चारुदत्त को सुनाते हैं। वसंतसेना, जो समीप ही खड़ी हुई है, अपने आपको प्रकट करने का सुअवसर समझ कर कहती है—"मैं बिना आपकी आज्ञा के आपके स्थान में घुस आने के लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ। जैसा आपसे निवेदन किया गया है, कुछ पापी मेरे आभूषण के लालच से मुझको बलात्कार पकड़ने की चेष्टा करते हैं; अतएव मैं इन्हें आपके पास रखकर इन (मैत्रेय) को अपने साथ रक्षार्थ लेकर अपने घर जाना चाहती हूँ"। चारुदत्त इस बात को सहर्ष स्वीकार करता है और मैत्रेय को वसंतसेना के साथ भेजता है। यहाँ प्रथम अंक समाप्त होता है।

दूसरे अंक में यह बताया है कि वसन्तसेना अकेली बैठी हुई अपने प्रियतम के विषय में अनायास कुछ उच्चारण करती है। उसे सुन उसकी चतुर दासी युक्तिपूर्वक प्रश्न करने लग जाती है और

उससे चारुदत्त के प्रति प्रेम का आविष्करण करा लेती है। इस प्रेम को पोषण करनेवाली दो और भी घटनाएँ इस अवसर पर होती हैं। उनमें से प्रथम यह कि शरण चाहता हुआ संवाहक नाम का एक पुरुष वहाँ आकर कहता है—"मैं पाटलीपुत्र का रहनेवाला एक वैश्य हूँ। मन्द भाग्य से संवाहक वृत्ति से अपना निर्वाह करता हूँ। लोगों के मुख से उज्जैन की बहुत प्रशंसा सुनकर अपना कुतूहल शमन करने यहाँ चला आया और एक सार्थवाह-पुत्र के यहाँ नियुक्त होकर सेवा करने लगा। मैं आपसे उस पुरुष-रत्न के गुणों का क्या वर्णन करूँ! वह बहुत सुंदर है, परंतु उसे अपने सौंदर्य्य का लेश मात्र भी गर्व नहीं; उसका स्वभाव बहुत ही ललित और मधुर है। वह किसी को दान देकर कभी उस दान की चर्चा नहीं करता; थोड़े से भी उपकार को बारंबार स्मरण करता है। मैं बड़े आनंद के साथ उसके यहाँ काम करता रहा, परंतु विभव की मन्दता के कारण उस आर्य्य को मुझसे यह कहना पड़ा कि अब तुम और जगह नौकरी तलाश कर लो। मैं यह सोचकर कि मुझे कहाँ ऐसा नर-रत्न मिलेगा, इसके कोमल, ललित, मधुर शरीर के स्पर्श से कृतार्थ किए हुए अपने हाथ को मैं क्योंकर साधारण शरीर के संमर्दन से शोचनीय करूँगा, द्यूतोपजीवी बन गया। तदनंतर मैंने बहुत दिनों तक द्यूत में विजय पाई; परंतु एक दिन मैं भी एक पुरुष से १० सुवर्ण हार गया और आज दैव संयोग से उसने मुझको मार्ग में पकड़ लिया। उसके भय से मैं यहाँ आया हूँ।" वसंतसेना यह निर्णय कर कि वह सार्थवाह पुत्र चारुदत्त ही है जिसकी इसने प्रशंसा की है, प्रसन्न होकर उस मनुष्य को जो उससे द्रव्य मांगता था, द्रव्य देकर विसर्जित करा देती है और ऋण से मुक्त हुआ तथा इस द्यूतरूपी दुष्कर्म से लज्जित हुआ संवाहक धन्यवाद देता हुआ कहता है कि निर्वेद (अनुताप) के कारण मैं आज ही परिव्राजक बन जाऊँगा। यदि आपका कोई परिजन इस संवाहन कला को सीखे तो मैं उसे सिखाकर अनुगृहीत

होऊँगा। वसंतसेना उत्तर देती है कि जिसके लिये आपने यह कला सीखी है, वही पुनरपि आपका सेवनीय होगा। यह सुनते ही वह प्रसन्न होकर चला जाता है।

दूसरी घटना यह होती है कि एक हाथी उन्मत्त होकर बहुत उपद्रव करने लगता है। वह मार्ग में एक संन्यासी को, जो रँगे हुए कपड़ों के कारण अधिक लक्षणीय था, सहसा पकड़ लेता है और सूँड़ से लपेट दाँतों पर घुमाता है। इस भयंकर दृश्य को देखकर लोग हाहाकार करते हैं; परंतु वसंतसेना का एक साहसी सेवक निःशंक आगे बढ़कर अपने शारीरिक बल से उस हाथी पर विजय पा उस संन्यासी को निराबाध छुड़ा लाता है। दर्शक लोग इस सेवक के असामान्य साहस की अत्यंत सराहना करते हैं; परंतु उनमें से एक पुरुष (जो वास्तव में चारुदत्त है) मौखिक सराहना करके ही अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ न समझ अपनी दरिद्रता की परवाह न कर अपने एक पुरुषद्वारा नित्य उपयोग में आनेवाला प्रावारक (लबादा) उसको भेंट करने के लिये भिजवाता है। वह उसे लेकर घर आता है और बड़े उत्साह से सारा वृत्तांत वसंतसेना को सुनाता है, जिसे सुनकर वह बहुत प्रसन्न होती है और उससे उस दानी महाशय का नाम पूछती है। वह नाम तो नहीं बताता, परंतु उसको इस घटना-स्थल की ओर, जो उसके निवास-स्थान के समीप ही था, ले जाकर उँगली के निर्देश से यज्ञोपवीत मात्र धारण किए उस पुरुष को अपने घर को जाते हुए दिखा देता है। वसंतसेना उसको, जो दरिद्र चारुदत्त है, पहचान जाती है और उसके दुर्लभ गुणों से और भी अधिक आकर्षित हो जाती है।

तृतीय अंक में यह दिखाया है कि चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय सहित एक संगीतोत्सव में जाता है और वहाँ पर एक से एक बढ़िया गीत सुनते सुनते उसे आधी रात हो जाती है। वह वहाँ से लौटकर घर आता है और मैत्रेय से कहता है—

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी
ललाटदेशादुपसर्पतीव माम्।
अदृश्यमाना चपला जरेव या
मनुष्यवीर्यं परिभूय वर्धते॥

आशय—मित्र! जैसे अदृश्यमान चपला वृद्धावस्था के मनुष्य के बल को दबाकर बढ़ती है, वैसे ही नेत्रों का सहारा लेती हुई यह नींद मेरे ललाट स्थान से धीरे धीरे नीचे आ रही है।

चारुदत्त मैत्रेय को सोने के लिये कहता है, परंतु इतने ही में एक चेटी आकर वसंतसेना के आभरण की पेटी लाकर कहती है कि आज अष्टमी है, पूर्व प्रतिज्ञानुसार आज के दिन आप इसकी रक्षा करें। मैत्रेय को वह पेटी लेनी पड़ती है। इतने ही में सज्जलक नाम का एक पुरुष, जो वसंतसेना की चेटी मदनिका में आसक्त है; परंतु उसके निष्क्रय (स्वतंत्र) कराने के लिये द्रव्य देने में असमर्थ है, चोरी करने को निकलता है। वह चारुदत्त के मकान पर आता है और उसके बगीचे में घुस जाता है। फिर अंदर चक्कर लगाता है और देखता है कि कौन सी जगह जल के कारण ढीली सी है जहाँ छेद करने से आहट न हो, भीतों में कहाँ पर दरार है जहाँ सेंध आसानी से लग सकेगी, मूत्रादि के खार से ईंटें ढीली हुई हों ऐसा इस मकान का कौन सा भाग है, कहाँ ऐसी जगह है जहाँ स्त्रियाँ न हों और मेरा यत्न पूर्ण-रूप से सिद्ध हो। उसे एक यथेष्ट स्थान मिल जाता है और वह सेंध लगा लेता है। सेंध की लम्बाई चौड़ाई नापने के लिये अन्य साधन के अभाव से वह अपने यज्ञोपवीत को ही कर्मसूत्र बना लेता है। मकान के भीतर प्रवेश करके वह देख-भाल करता है, परंतु उसे कोई बहुमूल्य पदार्थ न दिखाई पड़ने से वह उदासीन हो जाता है। इतने ही में मैत्रेय स्वप्नावस्था में कहता है—"अजी यह सुवर्ण भांड ले लो"। यह सुनकर वह चोर सावधानी से यह परीक्षा करने लगता है कि यह उच्चारण करनेवाला यथार्थ रूप से सोया हुआ है या सोने का बहाना किए हुए मुझको चिढ़ाता

है। वह देखता है कि इसका साँस निःशंक है और ऊँचा-नीचा नहीं है, एक समान चल रहा है, शरीर जोड़ों पर पूरा पूरा फैला हुआ है; इतना ही नहीं बल्कि शय्या से भी अधिक लंबा है, आँखें मिची हुई हैं, पलकें ज़रा भी नहीं हिलतीं; और इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बनावटी रूप से यह सोया हुआ होता तो अपने सामने ही रक्खे हुए दीपक को इतनी देर तक सहन न कर सकता। इतना निश्चय करके वह अपने पास से एक कीड़े को निकालकर फेंकता है जो दीपक को बुझा देता है। थोड़ी देर में मैत्रेय फिर कहता है—"अरे रे! दीपक बुझ गया; अरे चारुदत्त तुम इस पिटारी को ले लो"। और ज्यों ही वह उसे हाथ में ले आगे करता है, त्यों ही चोर उसे ग्रहण करके चला जाता है। मैत्रेय तो यही समझता है कि चारुदत्त ने उसे ले लिया; परंतु थोड़ी देर बाद एक चेटी आकर चिल्लाती है–"उठो, उठो, चोरों ने सेंध लगा दी"। चारुदत्त और मैत्रेय उठते हैं और उन्हें उस वसंतसेना के अलंकार का चोरी हो जाना बहुत संताप उत्पन्न कराता है। चारुदत्त मन में सोचता है–

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।
शङ्कनीया हि दोषेषु निष्प्रभावा दरिद्रता॥

आशय—कौन इस बात की सचाई में विश्वास करेगा! सब लोग मेरे ही ऊपर संदेह करेंगे; और लोक-रीति भी यही है कि ऐसे दोषों में जहाँ दोषी का सम्यक् रूप से पता न हो, दरिद्र पुरुष पर ही शंका की जाती है।

जब यह दुर्घटना चारुदत्त की स्त्री को ज्ञात होती है, तब वह साध्वी सबसे प्रथम तो अपने पति और पति के मित्र के शरीर की कुशलता पुछवाती है, तदनंतर पति की संकट अवस्था को निहार अपने पीहर से प्राप्त हुई एक लक्ष के मूल्य की मुक्तावली उस वसंतसेना की धरोहर के बदले में देने का संकल्प करती है। वह जानती है कि मेरा पति स्त्री का धन लेने में संकोच करेगा, अतएव मैत्रेय को बुलवाकर कहती है कि मैं छठ का व्रत किया करती हूँ। ब्राह्मण को

अपने घर की सर्वश्रेष्ठ वस्तु दान में देकर इस व्रत का पूजन किया जाता है, अतएव आप इस मुक्तावली को ग्रहण करें। मैत्रेय को यह पता लग जाता है कि यह साध्वी इस धन से अपने पति को अनृण करना चाहती है। वह उसे ग्रहण कर चारुदत्त के पास जाता है और वह (चारुदत्त) इस बात की चिंता न कर कि यह खोए हुए आभरण से कितनी अधिक कीमती है, उसे वसंतसेना के पास भिजवा देता है।

चौथे अंक में यह दिखलाया है कि सज्जलक वसंतसेना के निवास स्थान पर पहुँचकर अपनी प्रियतमा मदनिका से मिलता है और बड़े उत्साह के साथ कहता है कि लो, मैं तुम्हारे निष्क्रय के लिये यह आभूषण ले आया हूँ। वह उसे देखते ही पहचान जाती है कि यह तो आर्य्या वसंतसेना का है। और फिर उससे उसके लाने की सारी कथा पूछती है जिसे सुनकर वह कहती है कि तू ने यह बड़ा अनर्थ किया। इतना ही अच्छा किया कि वहाँ किसी पर प्रहार नहीं किया। अब तू इसे उसी जगह जहाँ से लाया है, पहुँचा दे। वह कहता है कि वे मुझे पुलिस के हवाले कर देंगे तो मेरी कैसी दशा होगा! मैं तो अब वहाँ नहीं जा सकता। मदनिका कहती है कि अच्छा, यदि तू ऐसा करने के लिये तैयार नहीं, तो तू इसे आर्या वसंतसेना को यह कहकर कि चारुदत्त ने भेजा है, दे दे। वह इसे स्वीकार करता है और मदनिका वसंतसेना से यह कहने जाती है कि सार्थवाह-पुत्र के पास से कोई ब्राह्मण आया है और आपसे मिलना चाहता है। मदनिका के पहुँचने के पहले ही एक दूसरी चेटी वसंतसेना से मैत्रेय का आगमन निवेदन करती है। वह मुक्तावली को लिए अंदर आता है और कहता है कि जो आभूषण आपने आर्य्य चारुदत्त के यहाँ धरोहर रक्खा था, उसे वे द्यूत में हार गए; अतएव उन्होंने उसके स्थान में यह मुक्तावली भेजी है; इसे आप कृपया ग्रहण कीजिए। वसंतसेना ने दूर खड़े होकर सज्जलक और मदनिका का सारा वार्तालाप सुन लिया था, इसलिये वह यह जानती थी कि मेरा आभरण चुराया

गया है न कि धून में हारा गया। वह उसे ले लेती है और मन में चारुदत्त की विलक्षण साधुता की सराहना करती है। मैत्रेय के विदा होते ही मदनिका कमरे में घुस पूर्व निश्चयानुसार निवेदन करती है और सज्जलक आभरण समर्पण करता है। वसंतसेना अपनी दासी की अव्याज भक्ति और उन्नत चरित्र से इतनी प्रसन्न होती है कि वह उसे अपने शरीर के आभरणों से समलंकृत कर देती है और दास-भाव से विमुक्त कर सज्जलक के साथ उसका पाणिग्रहण कराती है। सज्जलक मन में सोचता है कि मैं कब इस अहसान का बदला चुका सकूँगा। क्षण मात्र में इससे भी अधिक उन्नत विचार उसके मन में प्रवर्त होता है और वह कहता है—

नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तौ लभते फलम्।

छिपतामेव कालोऽस्तु योऽस्तु भवतु तस्य वा* ॥

आशय—वास्तव में जो मनुष्य किए हुए उपकार के लिये प्रत्युपकार करना चाहता है, वह जिसके साथ करना चाहता है, उस पर जब विपत्ति पड़े तब कर सकता है; परन्तु ऐसा हाल शत्रुओं का हो। इसका तो जो है, वही रहे।

सज्जलक और मदनिका वसन्तसेना को धन्यवाद दे विदा होते हैं। यहाँ पर चौथा अंक पूरा हो जाता है।

जैसा कि पहले लिख आए हैं, यह रूपक अधूरा है। इसके अभी तक दो ही आदर्श मिले हैं जिनमें से एक के अंत में "अव-सितं चारुदत्तम्" लिखा हुआ है। मृच्छकटिक इसी रूपक का परिवर्धित स्वरूप है। उसकी रचना शूद्रक ने की है जिसका समय

* रामायण में भी एक स्थल पर लिखा है कि जब रामचंद्र विभीषणादि को विदा कर चुके, तब सुग्रीव से कहा '—मित्र! मैं तेरे उपकार का तो ऋणी ही रहना चाहता हूँ'। प्रत्युपकार का विचार करने में सुग्रीव के ऊपर विपत्ति का होना संभव था जो रामचंद्र को कभी अभीष्ट नहीं था, अतएव ऋणी रहना कहना ही समुचित है।

अब तक ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ। मृच्छकटिक में दस अंक हैं। उसके प्रथम चार अंकों की कथा भास के चारुदत्त से बहुत कुछ मिलती हुई है। भास की गद्य रचना इतनी सरस, मधुर, स्निग्ध, ललित और गम्भीर है कि यद्यपि उसने चारुदत्त के द्वितीय अंक में एक भी श्लोक नहीं लिखा है, तथापि उसके पारायण में तनिक भी किसी प्रकार की न्यूनता नहीं प्रतीत होती। शेष अंकों के ३० श्लोक मृच्छकटिक में ज्यों के त्यों अथवा अल्प पाठांतर से मिल जाते हैं। मृच्छकटिक में यह कथा इस प्रकार से आगे बढ़ती है कि उज्जैन के राजा पालक ने आर्यक नाम के एक पुरुष को, जिसके विषय में सिद्ध पुरुषों का यह कहना था कि वह पालक के स्थान में राजा बनेगा, कैद कर लिया। आर्यक सज्जलक (मृच्छकटिक में शर्विलक नाम है) का मित्र था, अतः वह अपनी नवोढ़ा को एक मित्र के घर ठहराकर तुरंत आर्यक को मुक्त करने के लिये यत्न करने जाता है। वसंतसेना उस रत्नावली को, जो मैत्रेय दे गया था, चारुदत्त की स्त्री धूता के पास यह कहलाकर भिजवाती है कि मैं श्री चारुदत्त की गुणनिर्जिता दासी हूँ एवं आपकी भी दासी हूँ, अतः यह रत्नावली आपके ही कंठ का समलंकृत करे। धूता यह कहकर कि आर्य्यपुत्र ने यह आपको भेंट की है अतः आपको ही रखनी चाहिए, उसे वापस भिजवा देती है। उसी समय रदनिका चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को खिलाती हुई वसंतसेना के पास ले आती है। वह उस बालक को देख प्रसन्न होती है और पूछती है कि यह क्यों रूसा हुआ है। दासी कहती है कि इसने एक आदमी के पास सोने की गाड़ी देखी और देखकर उसे लेना चाहा! वह चला गया। मैंने इसको बहलाने के लिये यह मिट्टी की गाडी दे दी है, परंतु यह इससे प्रसन्न नहीं होता और सोने ही की गाड़ी चाहता है। वसंतसेना प्रेम से उस बालक को अपने शरीर के आभूषण दे देती है और कहती है कि इनसे सुवर्ण की गाड़ी बनवा लेना। दासी उसे लेकर घर चली आती है। तदनंतर वसंतसेना चारुदत्त से, जो पुष्प-

करंडक उद्यान में था, मिलने जाती है। परंतु ऐसा विचित्र संयोग हो जाता है कि वह भूल से राजा के साले शकार (मृच्छकटिक में संस्थानक) की गाड़ी में बैठ जाती है और जिस चारुदत्त की गाड़ी में उसे बैठना था, उसमें आर्यक, जो सज्जलक द्वारा जेल से भगा दिया गया था, बेड़ी पहने चुपके से बैठ जाता है। गाड़ियों को हाँकने-वाले इस बात को नहीं जानते। परिणाम यह होता है कि उद्यान में चारुदत्त के पास वसंतसेना के बदले आर्यक पहुँच जाता है। वह चारुदत्त से मिलता है जो उसे उसी गाड़ी से यथेष्ट स्थान को पहुँचवा देता है। वसंतसेना शकार के पास पहुँच जाती है और पुनरपि प्रलोभनों द्वारा उसे वशीभूत करने का उद्योग किया जाता है। परंतु जब वह वश में नहीं आती, तब वह दुष्ट अपने मनुष्यों से उसके प्राण हरण करने को कहता है। जब वे इस पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होते, तब वह स्वयं इस साध्वी का गला घोंटता है। इस अवसर पर संवाहक, जो पहले द्यूतोपजीवी था परंतु अब संन्यासी बन गया था, वसंतसेना को पहचान लेता है और उसे समीपवर्त्ती स्थान में ले जाता है। जब वह स्वस्थ हो जाती है, तब वह उसे नगर में उसके निवासस्थान पर पहुँचाने जाता है। मार्ग में ये क्या देखते हैं कि दुष्ट शकार ने ऐसी घोषणा कर दी है कि वसंतसेना चारुदत्त द्वारा मार डाली गई, और उसके आभरण चारुदत्त के यहाँ मिले। यों प्राणहरण का दोष सिद्ध हुआ समझ जाने से चारुदत्त को फाँसी का हुक्म हो जाता है। वसंतसेना तुरंत उस स्थान पर चली जाती है और चारुदत्त निर्दोष सिद्ध हो जाता है। इतने ही में यह भी समाचार आता है कि राजा पालक मार डाला गया और उसके स्थान में आर्यक राजा बनाया गया है। यह नया राजा वसंतसेना को चारुदत्त की वधु कहकर परितुष्ट होता है और पूर्व उपकार का स्मरण कर चारुदत्त को जागीर देता है।

अभिषेक नाटक

इस नाटक के प्रथम अंक में बालि का वध दिखाया गया है।

किष्किंधा के समीप राम और सुग्रीव का वार्तालाप होता है। सुग्रीव स्वीकार करता है कि आपके बाण ने सात साल-वृक्षों को छेदा, इससे मुझको प्रतीत होता है कि आप अवश्य बाली को हरा सकेंगे। राम की प्रेरणा से सुग्रीव बालि के पास जाता है और कहता है कि युद्ध में मैं आपकी पादशुश्रूषा करना चाहता हूँ। तारा के रोकने पर भी वीर बाली सुग्रीव से युद्ध करने को निकल पड़ता है। दोनों में युद्ध होता है और वह सुग्रीव को बलपूर्वक दबा लेता है। हनुमान अपने स्वामी की इस दुर्बल अवस्था को देख राम को पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं जिसके कारण वे छिपकर एक तीर मार देते हैं। तीर पर लिखे हुए नाम को पढ़कर बालि साक्षेप कहता है—

युक्तं भो नरपतिधर्ममास्थितेन
युद्धे मां छलयितुमक्रमेण राम।
वीरेण व्यपगतधर्मसंशयेन
लोकानां छलमपनेतुमुद्यतेन* ॥

आशय—हे राम! राजा के धर्म को धारण करनेवाले वीर होते

---

* वस्तुतः वीर राम से बालि का इस प्रकार मारा जाना अच्छा नहीं गिना गया। महाभारत के द्रोण पर्व में जब अश्वत्थामा (हाथी) मारा जा चुका था, तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को जो शब्द कहे, वे इस प्रकार हैं—

उपचीर्णो गुरुर्मिथ्या भवता राज्यकारणात्।
धर्मज्ञेन सता नाम सोऽधर्मः सुमहान्कृतः॥
चिरं स्थास्यति चाकीर्तिस्त्रैलोक्ये सचराचरे।
रामे बालिवधाद्यद्वदेवं द्रोणे निपातिते॥

आशय—भगवन्! आपने राज्य के कारण गुरु से मिथ्या कहा। आप धर्म के जाननेवाले हैं, अतएव आपका "अश्वत्थामा मारा गया" ऐसा झूठ कहना महान् अधर्म है। यह अपयश, जो राम के बालि को वध करने से उत्पन्न अपयश के समान आपके द्रोण को युद्ध से अलग करने से उत्पन्न हुआ है, त्रिलोकी में चिर काल तक बना रहेगा।

हुए धर्मधारी तथा संसारियों के छल को दूर करने के लिये उद्यत तुम्हारा यह छल करना कहाँ तक युक्त है।

वास्तव में छल से मेरे ऊपर प्रहार करते हुए आपने सर्वदा के लिये अपयश कमा लिया। चीर वल्कल धारे हुए तुम्हारा, भाई से युद्ध में व्यग्र हुए मुझको प्रच्छन्न रूप से मारना नितांत अधर्म है। यह सुन राम उत्तर देते हैं—

वागुराच्छन्नमाश्रित्य मृगाणामिष्यते वधः।
वध्यत्वाच्च मृगत्वाच्च भवाञ्छन्नेन दण्डितः† ॥

आशय—गुप्त फंदा लगाकर मृगों को मारना लोक की रीति है। वध्य होने तथा मृग होने से तुमको इस प्रकार दंड दिया गया है।

वाली फिर प्रश्न करता है कि आप मुझको दंड देने के योग्य किस प्रकार मानते हैं? वे उत्तर देते हैं—विपरीत रीति से विषय करने से। देखो, धर्माधर्म को जानकर भी तुमने अपने भाई की स्त्री से अभिमर्श (संसर्ग) किया। वह कहता है कि इस विषय में तो सुग्रीव भी तुल्य दोषी है। उसने मेरी धर्मपत्नी से अभिमर्श किया। उसको आपने दंड क्यों नहीं दिया। राम समझाते हैं कि ज्येष्ठ का

---

* यह श्लोक वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धाकांड के १८वें सर्ग के निम्नलिखित श्लोकों के आधार पर लिखा गया है:—

श्रृणु चाप्यपरं भूयः कारणं हरिपुंगव।
तच्छ्रुत्वा हि महद्वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि ॥
न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुंगव।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून्मृगान्।
प्रधावितान्वा वित्रस्तान्विस्रब्धानतिविष्ठितान् ॥
प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसाशिनो भृशम्।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ॥
यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ॥
अयुध्यन्प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ॥ (३६–४०)

छोटे भाई की दारा से अभिमर्श* करना युक्त नहीं। इस पर वह अनुत्तर हो जाता है। तदनंतर वह अपने पुत्र अंगद को सुग्रीव के सपुर्द कर प्राण त्यागता है और राम, लक्ष्मण को सुग्रीव का अभिषेक करने की आज्ञा देते हैं।

दूसरे अंक में हनुमान का जटायु से वृत्तांत पाकर सीता की

---

* इस विषय में रामायण के किष्किंधाकांड में बहुत विस्तार से लिखा हुआ है। कुछ उपयोगी अंश नीचे उद्धृत करते हैं—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥१८—६॥
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥१८—७॥
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥१८—६॥
ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ॥१८—११॥
यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ॥१८—१४॥
तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मयाहतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥१८—१८॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥१८—१६॥

आशय—राम वालि से कहते हैं, कि यह भूमि इक्ष्वाकुओं की है, मनु ने दी है, इसको धर्मात्मा भरत इस समय पालता है, उसीकी आज्ञा से हम और अन्य नृप धर्म का प्रचार करते हुए विचरते हैं। निग्रह और अनुग्रह में हमारा अधिकार है। ज्येष्ठ भाई पिता और गुरु के समान है, छोटा भाई पुत्र के समान है। तुम सुग्रीव के जीते हुए उस छोटे भाई की स्त्री से रमण करते हो, यह पाप है; अतएव अपराधी होने से मारे गए। यहाँ यदि यह प्रश्न करो कि सुग्रीव ने भी तो वालि के जीते जी उसकी स्त्री ले ली थी, तो इसका यह समाधान है कि उसने वालि को मरा हुआ जाना, तदनंतर नियोग किया। जीता जानते हुए ऐसा करना पाप गिना जाता। इसी रीति से सुग्रीव का वालि के मर जाने पर पुनरपि तारा के साथ संयोग हो जाना अनिन्द्य माना गया है।

खोज में लंका को जाना, उनसे मिलना, रावण का सीता को त्रास दिखाना; तीसरे अंक में अशोकवाटिका* भग्न करना, रावण के पुत्र अक्ष का पाँच सेनापतियों सहित मारा जाना, इंद्रजित् द्वारा हनुमान का ग्रहण हो जाना, विभीषण के परामर्श की अवहेलना

---

* इस तृतीय अंक के प्रारंभ में निम्नलिखित श्लोक है जिसका आश्रय लेकर कालिदास ने शकुंतला के चौथे अंक का आगे लिखा हुआ श्लोक रचा हो, ऐसा प्रतीत होता है—

यस्यां न प्रियमण्डनापि महिषी देवस्य मण्डोदरी
स्नेहाल्लुम्पति पल्लवान्न च पुनर्वीजन्ति यस्यां भयात् ।
वीजन्तो मलयानिला अपि करैरस्पृष्टबालद्रुमा,
सेयं शक्ररिपोरशोकवनिका भग्नेति विज्ञाप्यताम् ॥

आशय—शंकुकर्ण विजया नाम की प्रतिहारी से कहता है कि महाराज की शृङ्गारप्रिय महारानी मंदोदरी प्रेम के कारण जिसके पत्तों को नहीं तोड़ा करती थी, और बहुत देख भालकर सैर किया करती थी, यहाँ तक कि मलयाचल की पवन भी जिसके बाल वृक्षों को नहीं स्पर्श कर सकती थी, वह शक्र के रिपु (इंद्रजित्) की अशोकवाटिका आज हनुमान से नष्ट कर दी गई, यह समाचार आप महाराज से निवेदन करें। शकुंतला के उक्त श्लोक का पाठ यह है—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

इस श्लोक में भास की छाया मात्र ही नहीं है किंतु, "प्रियमण्डनापि, 'स्नेहात्', पल्लवान्', और "सेयम्" पद भी ज्यों के त्यों लिए गए हैं। महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ने बतलाया है कि मेघदूत के १४वें श्लोक के "दिङ्नागानां पथिपरिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्" के ऊपर दक्षिणावर्त्त ने, जो मल्लिनाथ और अरुणाचलनाथ से भी पूर्व हुआ है, लिखा है कि "दिङ्नाग इति कोऽप्याचार्यः कालिदास प्रबन्धान् 'अन्यत्रोक्तोऽयमर्थ इति' स्थूलहस्ताभिनयैर्दूषयति।" अर्थात् दिङ्नाग, कालिदास के प्रबन्धों में यह कहते हुए कि यह तो अमुक ने लिखा है, दोषारोपण किया करता था। संभव है कि भास के श्लोक का जो उदाहरण ऊपर लिखा है, वैसे और भी कई मिलनेवाले उदाहरणों को सामने ला लाकर वह दोषारोपण करता हो।

होना और चौथे अंक में विभीषण का राम से मिलना, राम का समुद्र पार कर लंका पर चढ़ाई करना, गुप्त रूप से आए हुए रावण के शुक और सारण नाम के मंत्रियों का पकड़ा जाना दिखाया गया है। ये सब बातें लोक-विदित हैं, अतः अधिक लिखना अनावश्यक है।

पाँचवें अंक में पुनरपि रावण का सीता को त्रास देना दिखाया गया है। यहाँ तक कि वह राम-लक्ष्मण के सदृश दो कटे हुए सिरों को उनके सामने रखवाकर कहता है कि वे तो इंद्रजित् से मारे गए; पहचानो येही हैं न ? अब कहो, तुम किसके द्वारा मुक्त की जाओगी ? इतने ही में तुरंत एक घबराया हुआ राक्षस आकर कहता है "राम से, राम से"। सीता इस ध्वनि से प्रसन्न हो जाती है और इसके उच्चारण करनेवाले को आशीर्वाद देती है। वह राक्षस निवेदन करता है कि महाराज ! कुमार मेघनाद आज उदीर्ण सत्व महाबली राम- लक्ष्मण से युद्ध में मारा गया। वीराभिमानी रावण सहसा अपने पराक्रमी पुत्र के मारे जाने की सूचना पर विश्वास नहीं करता और कहता है—

देवाः सेन्द्रा जितायेन दैत्याश्चापि पराङ्मुखाः।
इन्द्रजित् सोऽपि समरे मानुषेण निहन्यते ॥

आशय—अरे, इंद्र सहित देवताओं को तथा दैत्यों को जिसने पराङ्मुख किया, वह इंद्रजित् कहीं युद्ध में मनुष्य से मारा जा सकता है ?

राक्षस इस विषय का विश्वास दिलाता है। अंत में उसका मरना निःसंशय सिद्ध हो जाने पर पुत्रस्नेह उसे विह्वल कर डालता है "और" वह रोने लगता है। वह सीता की ओर, यह विचार कर कि इसी के कारण मेरे अनेक भाई, सुहृद और सुत नष्ट हुए हैं, अतः इस शत्रु को तो मार डालूँ, लपकता है, परंतु वह राक्षस उसे इस स्त्री-हत्या से बचा लेता है।

छठे अंक में रावण का वध, सीता की अग्नि द्वारा परीक्षा और अग्नि का राम को अभिषेक करना लिखा है, जो इस कवि की ही कल्पना है।

प्रतिमा नाटक

श्रीराम की जीवनी को नाटक रूप में कई कवियों ने ढाला है। उनमें से वर्तमान काल में भवभूति के उत्तररामचरित का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा माना जाता है। वह करुण रस का अद्वितीय नाटक है। भास ने अपनी नूतन-निर्माण-निपुण मेधा से ऐतिहासिक वृत्त के साथ साथ कई एक काल्पनिक विवरण देकर इस प्रतिमा नाटक की रचना ऐसी उत्कृष्ट शैली की बनाई है कि उसके सदृश पूर्वराम-चरित् संबंधी कोई नाटक हमारे देखने में नहीं आया। इस नाटक की कथा राम के राज्याभिषेक से प्रारंभ होती है। संगीत-शाला के नाटक करनेवालों को काल संवादी नाटक का अभिनय करने की आज्ञा दी जाती है। वहाँ से अवदातिका नाम की एक चेटी हँसी में चुपके से एक वल्कल अपने हाथ में दबा सीता के पास आती है। उसे शंकित रूप में देख सीता प्रश्न कर बैठती है और वह उत्तर देती है कि मैंने नेपथ्यपालिनी आर्या रेवा से रङ्ग–प्रयोजन के हो जाने पर अशोक वृक्ष का वल्कल माँगा था, परन्तु उसने मुझे नहीं दिया, अतः वह अपराधिनी है, यों मन में धार मैं इसे वहाँ से ले आई हूँ। सीता उसे यह कहती हुई कि–यह तूने पाप (नियम-विरुद्ध) किया है—उसे वापस दे आने की आज्ञा देती है। परन्तु जब चेटी चलने लगती है, तब सकौतुक उसे ठहराकर कहती है कि तनिक इसे यहाँ ला, देखूँ मुझे यह कैसा लगता है। चेटी उसे वल्कल दे देती है और वह पहन लेती है। इतने में एक और चेटी आकर कहती है—लो मुबारक है, मुबारक है, राजकुमार का अभिषेक हो रहा है। सीता पूछती है "अपि तातः कुशली" (ससुरजी प्रसन्न हैं) ? वह उत्तर देती है—हाँ, और वे स्वयम् अभिषेक कर रहे हैं। अब प्रसन्न होकर वह उसे झोली बढ़ाने को कहती है और अपने शरीर के सब आभरण उपहार में दे देती है। चेटी कहती है—देखिए, पटहशब्द हुआ। सीता भी सुनकर उसका अनुमोदन करती है। चेटी कुछ देर बाद फिर

कहती है कि पटह शब्द एक बार ही होकर बन्द हो गया। सीता इसका अधिक अनुचिंतन नहीं करती और कहती है कि कौन जाने, कदाचित् अभिषेक बन्द हो गया हो; राजकुल बहुत वृत्तान्तवाले हुआ करते हैं।

इतने में राम वहीं पर आ जाते हैं और सीता से मिलते हैं। अवदातिका उन्हें प्रति दिन के साधारण वस्त्र पहने देखकर सीता से धीरे से पूछती है कि हम लोगों ने जो पहले सुना, क्या वह असत्य है? सीता इसका उत्तर देती है, परंतु राम यह शंकापूर्ण पारस्परिक संलाप होते देख पूछते हैं कि क्या बात है? सीता कहती है कुछ नहीं, यह चेटी अभिषेक अभिषेक कहती है। वे कहते हैं—अच्छा, मैं तुम्हारा कुतूहल समझ गया। वह अभिषेक है। सुनो, आज उपाध्याय, अमात्य और प्रकृतिजनों के समक्ष, या यों समझो कि एक प्रकार से संक्षिप्त रूप से सारे कोसल राज्य को एकत्र करके महाराज ने बचपन की सी तरह मुझ को गोद में बैठा माता के गोत्र से सप्रेम मेरा नाम लेकर कहा—"पुत्र राम! अब तुम इस राज्य-भार को सँभालो"। सीता पूछती है—तब आप ने क्या कहा? वे कहते हैं—देखें तुम तो बताओ, मैंने क्या उत्तर दिया होगा? वह कहती है—मैं तो यह अनुमान करती हूँ कि आप कुछ न कह दीर्घ श्वास ले महाराज के चरणों में गिर गए होंगे। राम यह सुन बहुत प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि तुमने ठीक अनुमान किया, मैं वाष्पमुख उनके चरणों में गिर गया—

> समं बाष्पेण पतता तस्योपरि ममाप्यधः।
> पितुर्मे क्लेदितौ पादौ ममापि क्लेदितं शिरः॥

आशय—मेरे और उनके आँसू एक साथ गिरने लगे; नीचे को गिरनेवाले मेरे आँसुओं से उनके चरण और ऊपर से गिरनेवाले उनके आँसुओं से मेरा सिर भीग गया।

फिर राज्य की कठिनाइयों का विचार कर मेरे नट जाने पर भी मुझको राज्य-भार लेने के लिये शपथ दिलाई गई। तदनन्तर शत्रुघ्न और

लक्ष्मण ने अभिषेक कलश लिया, राजा ने छत्र धरा, परन्तु मन्थरा ने आकर उनके कान में कुछ कहा जिसे सुन उन्होंने मुझसे कहा कि तू राजा नहीं है। सीता कहती है-यह तो अच्छा हुआ। महाराज महाराज ही रहे और आर्य्यपुत्र (आप) आर्य्यपुत्र। राम सीता से पूछते हैं कि तुमने आभरण क्यों उतार दिए हैं और ये वल्कल क्यों पहन लिए हैं। अवदातिका कहती है कि केवल यह देखने के लिये कि ये शरीर पर कैसे फबते हैं। राम भी चेटी से वल्कल लेकर स्वयं पहनने लगते हैं और सीता के ऐसा करने से रोकने पर वे कहते हैं कि तुम्हारा अप्रसन्न होना व्यर्थ है; क्योंकि जब पहले तुमने ही पहन लिए, तो मेरे आधे शरीर ने तो आप ही उन्हें पहन लिया।

इतने में "हा! हा! महाराज!" ऐसा शब्द होता है और एक कंचुकी आकर महाराज की रक्षा करने के लिये कहता है। राम पूछते हैं कि आपत्ति कहाँ से आई है? वह उत्तर देता है कि "स्वजन" से। इसे सुन वे कहते हैं कि यदि स्वजन से आई है तो उसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता; क्योंकि—

शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा।
कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति॥

आशय—शत्रु शरीर पर प्रहार करता है, परंतु स्वजन हृदय पर। यह कौन स्वजन है जो मुझको लजावेगा?

कंचुकी उत्तर देता है कि वह "कैकेयी" है। यह सुन राम कहते हैं कि यदि माता कैकेयी ही हैं तो परिणाम में लाभ होगा, क्योंकि—

यस्याः शक्रसमो भर्ता मया पुत्रवती च या।
फले कस्मिन् स्पृहा तस्या येनाकार्यं करिष्यति॥

आशय—जिसके इन्द्र के समान पति है और जो मुझसे पुत्रवती है, उसकी किस बात में इच्छा हो सकती है कि जिसके लिये वह अकार्य करे?

राम की इस सरल वाणी को सुन वह फिर कहता है—भग-

वन्! आपका अभिषेक उसी के कहने से रोका गया है। राम उसे समझाते हैं कि यदि यही बात है तो देखो, जैसा मैंने पहले कहा है, परिणाम में गुण ही सिद्ध है, क्योंकि अब—

वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैव ताव-
न्मम पितृपरिवत्ता बालभावः स एव ।
नवनृपतिविमर्शे नास्ति शङ्का प्रजाना-
मथ च न परिभोगैर्वञ्चिता भ्रातरो मे ॥

आशय—महाराज का वनगमन बन्द हुआ, मेरा पिता के अधीन रहना और बालभाव ज्यों का त्यों रह ही गया, प्रजागण को जो नए राजा के होने पर शंकाएँ हुआ करती हैं, वे न रहीं और मेरे भाई भी किसी भोग से वंचित नहीं रहे।

ये उदार विचार सुन कंचुकी फिर कहता है कि भगवन्! बिना बुलाए महाराज के पास आकर उसने कहा कि भरत को राज्य देना चाहिए। क्या आप इसमें भी लोभ का दोष नहीं गिनते? राम उत्तर देते हैं कि आर्य, आप मेरे लिये पक्षपात रखने के कारण ठीक बात नहीं विचारते। देखिए—

शुल्के* विपणितं राज्यं पुत्रार्थे यदि याच्यते ।
तस्या लोभोऽत्र नास्माकं भ्रातृराज्यापहारिणाम् ॥

---

* वाल्मीकि की रामायण के अयोध्याकांड के १०७वें सर्ग में निम्नलिखित श्लोक दिए हैं—

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥
पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥
देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।
संप्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥

राम को राज्य लेने तथा लौट आने के लिये जब भरत बहुत कुछ कह चुके तब राम ने कहा कि भाई, जब पिता जी ने तुम्हारी माता से विवाह किया, तब उन्होंने तुम्हारे नाना से यह प्रतिज्ञा की थी कि (तव पुत्राय जनिष्यते तस्मै राज्यं

आशय—पहले से ही शुल्क में लगाया हुआ राज्य यदि वह (कैकयी) अपने पुत्र के लिये माँगे तो इसमें उसका क्या लोभ है? यदि हम अपने भाई के राज्य को हड़प जायँ तो उसमें हम लोभ के दोषी हो सकते हैं।

कंचुकी कुछ और कहने लगता है, परंतु राम उसे यह कहकर कि बस अब माता की और निंदा मैं नहीं सुनना चाहता, रोक देते हैं

दास्यामीति प्रतिज्ञातवानित्यर्थः—रामकृष्णतिलकाख्यया व्याख्या) तुम्हारी पुत्री से जो पुत्र उत्पन्न होगा उसे राज्य दूँगा। यदि यह कहो कि (स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्) स्मृति के वचन से गान्धर्व विवाह में झूठ भी चल सकता है, तो उन्होंने देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता को दो वर दे दिए थे। उसने उन्हें याद दिलाकर मेरा वन-गमन और तुम्हारा राजा बनना माँगा, अतः मैं नहीं लौट सकता। प्रारंभ में ही (२रा सर्ग) परिषद् बुलाकर दशरथ कहते हैं कि आप लोगों को यह विदित ही है कि मेरे पूर्वजों ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। मैंने भी यथाशक्ति उन्हीं के मार्ग का अनुकरण किया। लोकोपकारी सेवा करते करते अब यह शरीर जर्जर हो गया है, बाल सफेद हो गये हैं, वृद्धावस्था आ गई है, मैं परिश्रांत हो गया हूँ, अतएव आप सब मान्यवरों की अनुमति से पुत्र को आपकी सेवा में अर्पण कर विश्राम करना चाहता हूँ। मुझमें जो गुणसंपत्ति है, वह राम में ज्यों की त्यों है, अतएव मैं उसे युवराज बनाने का प्रस्ताव करता हूँ।

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मयासाधुसुमन्त्रितम्।
भवन्तोमेनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥२–१५॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्यामध्यस्थ चिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥२–१६॥

यदि यह मैंने ठीक विचारा है और आपके भी अनुकूल है, तो आप मुझे अपनी स्वीकृति दीजिए; अन्यथा यह बताइए कि मैं क्या करूँ। आप मेरी ही मर्जी पर निर्भर न रहिए, आप स्वतंत्र रूप से जो हितकारी हो, वह सोचकर बताइए। राग-द्वेषरहित मध्यस्थों का विचार, जो पूर्वापर पक्ष की जाँच कर निर्णीत होता है, अधिक लाभकारी हुआ करता है। वे लोग राम का राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं और दशरथ राम से (तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि। कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ३–४१) कहते हैं कि तुमको पुष्ययोग में यौवराज्य मिलेगा। वस्तुतः मैंने नहीं किंतु स्वयं प्रकृति ने तुमको युवराज पद के लिये तेरे गुणों के कारण चुना है।

और महाराज का वृत्तांत पूछते हैं। वह कहता है कि राजा ने शोक से कुछ न कह हाथ के संकेत से उन्हें (कैकेयी को) दूर कर दिया और स्वयं मूर्छित हो गए। राम घबराकर कहते हैं—क्या मूर्छित हो गए? यह समाचार लक्ष्मण को भी विदित हो जाता है और मानों उन्होंने प्रच्छन्न रूप से राम और कंचुकी का संवाद सुन लिया हो, वे सहसा निकल आते हैं और कहते हैं—

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम्॥

आशय—यदि राजा की मूर्च्छा नहीं सहते हो तो धनुष उठाओ, दया का कुछ काम नहीं, विनयशील और सरल पुरुष यों ही तिरस्कृत किए जाते हैं; यदि यह तुमको अच्छा नहीं लगता तो मुझ पर छोड़ दो। मैंने इस संसार को स्त्रियों से शून्य करने का पक्का विचार कर लिया है, क्योंकि हम स्त्री से छले गए हैं।

लक्ष्मण के ऐसे जोश भरे वचन सुन सीता अपने पति से कहती है कि शोक करने के योग्य अवसर पर लक्ष्मण ने धनुष उठाया है। राम कहते हैं—"लक्ष्मण, यह क्या है?" वे उत्तर देते हैं, है क्या—

क्रमप्राप्ते हृते राज्ये भुवि शोच्यासने नृपे।
इदानीमपि सन्देहः किं क्षमा निर्मनस्विता॥

आशय—अरे क्रमागत (अधिकार से प्राप्त) राज्य हरा जा रहा है और राजा मृत्यु-शय्या पर हैं, अब भी कुछ संदेह है? क्या ऐसी निर्मनस्विता को क्षमा कहते हैं?

राम यह सुनकर कहते हैं—अच्छा! ज्ञात हुआ कि मेरा राज्य का न पाना तुमको युद्ध के लिये उद्यत करता है; परंतु यह तुम्हारी भूल है। देखो—

भरतो वा भवेद् राजा वयं वा ननु तत् समम्।
यदि तेऽस्ति धनुःश्लाघा स राजा परिपाल्यताम्॥

आशय—भरत राजा हों चाहे हम हों, तुम्हारे लिये तो दोनों ही समान हैं। यदि तुमको धनुष चलाने की अधिक उत्सुकता है तो उस राजा (भरत) की सेवा करना।

तदनंतर लक्ष्मण यह कहते हुए कि अब मैं रोष नहीं रोक सकता, जाने लगते हैं; परंतु राम उन्हें पकड़ लेते हैं और कहते हैं कि तुम में धीरज उत्पन्न करने को मैंने यों कहा था। अब तुम तनिक विचार कर मुझको यह बताओ कि—

ताते धनुर्नमतु सत्यमवेक्षमाणे
मुञ्चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि
किं रोषणाय रुचिरं त्रिषु पातकेषु॥

आशय—वचन का प्रतिपालन करनेवाले पिता पर अथवा अपना धन लेनेवाली माता पर, वा निर्दोष भाई पर धनुष उठाना इन तीनों पातकों में से बताओ, तुमको कौन सा अच्छा लगता है?

ये वचन लक्ष्मण की आँखों में आँसू ला देते हैं और वे कहते हैं कि यथार्थ बात न जानने से हमको इतनी धिक्कार मिली। अजी—

यत्कृते महति क्लेशे राज्ये मे न मनोरथः।
वर्षाणि किल वस्तव्यं चतुर्दश वने त्वया॥

आशय—जिस राज्य के लिये बहुत क्लेश होता है, उससे मेरा मनोरथ नहीं है, बात तो यह है कि आपको चौदह वर्ष बन में रहना पड़ेगा।

तब राम की समझ में आता है कि इसी बात ने पिता को मूर्च्छित किया है। वे चट सीता से वल्कल लेकर पहन लेते हैं, वह भी अच्छी तरह पहनने लगती है, परंतु वे उसे ऐसा करने से रोकते हैं। सीता कहती है कि जब आपको बनवास के लिये कहा तो मुझको भी अर्द्धांगिनी होने से आज्ञा दे दी गई, अतः मैं साथ चलूँगी। वे कहते हैं—लक्ष्मण इसे रोको। परंतु लक्ष्मण उत्तर देते

हैं कि इस प्रशंसनीय कार्य में इनको रोकने का साहस मैं नहीं कर सकता, क्योंकि—

अनुचरति शशाङ्कं राहु दोषेऽपि तारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः॥

आशय—राहु के आक्रमण करने पर तारा (रोहिणी, चंद्रमा की स्त्री) चंद्रमा का साथ नहीं छोड़ती, बन-वृक्ष के गिरने पर लता भी उसके साथ साथ भूमि पर गिर जाया करती है, हथिनी कीचड़ में फँसे हुए हाथी को नहीं छोड़ा करती, इसलिये पतिप्राणा स्त्री को साथ चलने दो और अपना धर्म निबाहने दो।

इतने में एक चेटी आकर सीता से कहती है कि नेपथ्यपालिनी आर्या रेवा ने प्रणाम करके कहलवाया है कि अवदातिका संगीत-शाला में से छिपाकर वल्कल ले आई है, उसे लौटा दीजिए। यदि प्रयोजन हो तो आप यह नया लीजिए। राम यह कहकर कि यह तो संतुष्ट है, हमें इससे प्रयोजन है, उन्हें ले लेते हैं और पहनते हैं। परंतु लक्ष्मण कहते हैं—यह क्या? भूषण, माला आदि में तो आप नियमपूर्वक आधा आधा भाग देते रहे और यह चीर अकेले ही धारण करते हैं, इसमें ईर्ष्या कैसी? फिर लक्ष्मण भी साथ हो जाते हैं और झुंड के झुंड पुरवासी उन्हें देखने को मार्ग में आ जाते हैं। राम कहते हैं—

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च॥

आशय—आँसू भरी हुई आँखों से इस (सीता) को आप निःशंक देखिए, क्योंकि यज्ञ में, विवाह में, व्यसन में और वन में स्त्रियों को देखने में कोई दोष नहीं होता। यहाँ प्रथम अंक समाप्त होता है।

राम और लक्ष्मण के वियोग से दशरथ विह्वल हो जाते हैं और

सीता का साथ जाना उनको और भी अधिक संतप्त करता है जिससे वे कहते हैं—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ॥

आशय—हा कष्ट ! सूर्य की तरह राम चला गया, जैसे सूर्य के पीछे पीछे दिन चला जाता है वैसे लक्ष्मण भी राम के पीछे पीछे चला गया, सूर्य और दिन के चले जाने पर जैसे छाया (सूर्य की स्त्री) नहीं दिखाई देती वैसे सीता भी नहीं दिखाई देती।

अरे कृतांत हतक ! तू ने—

अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः ।
वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम् ॥

आशय—हमको निपूता, राम को किसी और राजा का पुत्र और कैकेयी को बन की सिंहनी क्यों नहीं बनाया !

रानियाँ महाराज को अनेक प्रकार से समझाती हैं, परंतु उनके शोक को न्यून करने में असमर्थ होती हैं। इतने में समाचार आता है कि सुमंत्र वापस आ गया। दशरथ पूछते हैं—क्या राम को लेकर? इसका उन्हें उत्तर मिलता है,—"नहीं, रथ को लेकर"। यह सुनते ही वे कहते हैं—

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः ।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः ॥

आशय—यदि रथ सूना ही आया है तो मेरा मनोरथ भग्न हो गया और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि काल ने दशरथ को लिवा लाने को यह रथ भेजा है।

तदनंतर सुमंत्र आकर वहाँ का वृत्तांत सुनाता है और कहता है कि शृङ्गवेरपुर में रथ से उतर, अयोध्या की ओर मुख कर, खड़े हो, उन सब ने आपको शिर से प्रणाम कर कुछ कहलाना चाहा था, परंतु आँसुओं से उनके कंठ रुँध गए और बिना कुछ कहे ही वे बन को चले गए। ये मर्मस्पर्शी वाक्य सुन राजा को दुगुनी मूर्छा हो

आती है और सुमंत्र अमात्यों के पास समाचार भिजवाता है कि अब महाराज अप्रतिकार अवस्था में हैं। कुछ देर बाद जब उन्हें संज्ञा आती है, तब वे कहते हैं—

अङ्गं मे स्पृश कौसल्ये ! न त्वां पश्यामि चक्षुषा।
रामं प्रति गता बुद्धिरद्यापि न निवर्तते ॥

आशय—हे कौसल्ये ! मेरे शरीर को तू छू। मैं तुझे आँखों से नहीं देखता, क्योंकि राम में गई हुई मेरी चेतना अभी तक वापस नहीं आई।

पुत्र राम ! मैं बार बार सोचता था कि तुझको राज्य देने से प्रजा कृतार्थ हो जायगी, तेरे भाइयों को समान विभववाले करने से सब तेरे समान हो जायँगे। ये विचार थे, परंतु कहना पड़ा तुझे तपोवन जाने को। हाय ! कैकेयी ने क्षण भर में सब कुछ उलटा कर डाला। फिर राजा कहते हैं कि सुमंत्र ! तुम कैकेयी से जाकर कह दो—

गतो रामः प्रियं तेऽस्तु त्यक्तोऽहमपि जीवितैः।
क्षिप्रमानीयतां पुत्रः पापं सफलमस्त्विति ॥

आशय—राम तो चला गया, मैं भी मरनेवाला हूँ, अब तू खूब खुश हो ले। अपने पुत्र को शीघ्र ला और पाप को पूर्ण कर।

थोड़ी देर में उन्हें उनके पूर्वज दिलीप, रघु और अज दिखाई देते हैं और पुत्रों को स्मरण करते हुए उनके प्राण निकल जाते हैं। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तीसरे अंक में यह बताया है कि अपने पिता को हृदय-परिताप से अत्यन्त व्यग्र सुनकर अपने मामा के यहाँ से भरत शीघ्र रवाना होते हैं और अयोध्या से कुछ दूर पर उनसे एक राजपुरुष निवेदन करता है कि उपाध्याय (वसिष्ठ) ने कहलवाया है कि इस समय कृत्तिका नक्षत्र है, वह एक नाडिका और रहेगा। तदनन्तर रोहिणी नक्षत्र आ जायगा। उसमें आप अयोध्या में प्रवेश करें। वे वहाँ पर रथ को ठहरा देते हैं और पास ही वृक्षों से घिरा हुआ एक देव-कुल देखते हैं। समीप जाकर वे देखते है कि वहाँ फूल, खीलें और

बलि फैली हुई है, भीतों पर चन्दन के हाथ के छापे लगाए हुए हैं, मालाओं और हारों से दरवाज़े सजे हुए हैं, बालू बिछा हुआ है। इस पर वे सोचते हैं—क्या यहाँ आज कोई पर्व है या प्रतिदिन ऐसा ही भक्तिभाव होता है ? यह किस देवता का स्थान होगा ? यहाँ कोई त्रिशूल, ध्वजा या और कोई बाह्य चिह्न तो दिखाई देता ही नहीं। खैर अन्दर चलकर देखेंगे। इतना विचार कर वे अन्दर जाते हैं और वहाँ चार मूर्तियाँ देखते हैं। वे मूर्तियों की बनावट की सुंदरता, भाव और चेष्टा को देखकर बहुत ही प्रसन्न होते हैं और ठीक तौर पर यह न जानते हुए भी कि ये किनकी मूर्तियाँ हैं, मन में प्रसन्न हो उनको शिर नवाना चाहते हैं, परन्तु उन्हें संकोच होता है कि बिना मन्त्र और पूजन के यह प्रणाम शूद्र के प्रणाम के समान होगा। इतने ही में देवकुलिक जो थोड़ी ही देर पहले यहाँ से गया था, वापस आ जाता है और भरत को देखकर कहता है कि यह कौन अन्दर घुस आया। भरत मूर्तियों को प्रणाम करने लगते हैं परंतु देवकुलिक सहसा कहता है, ना ! ना ! आप प्रणाम न कीजिए। वे कहते हैं—क्यों भाई, क्या बात है ? क्या तुम हमसे कुछ कहना चाहते हो ? क्या किसी अपने से बड़े की प्रतीक्षा कर रहे हो ? हमें नमस्कार करने से क्यों रोकते हो ? क्या हमने किसी नियम का उल्लंघन कर दिया ? वह कहता है कि यह बात नहीं, यदि आप ब्राह्मण हैं तो इन्हें नमस्कार न करें, क्योंकि ये क्षत्रिय हैं। भरत सहर्ष कहते हैं—अच्छा ये क्षत्रिय हैं ! बहुत ठीक, ज़रा बताओ तो इनके नाम क्या हैं। भरत और भी अधिक प्रसन्न होते हैं जब उनसे वह कहता है कि ये इक्ष्वाकु-वंशी हैं। तदनन्तर वह एक एक को बताने लगता है। पहली मूर्ति के लिये कहता है कि ये सर्वरत्नों की प्राप्ति करनेवाले, विश्वजित् यज्ञ के कर्ता, धर्म के दीपक को प्रदीप्त करनेवाले दिलीप हैं। भरत कहते हैं—नमस्कार इन धर्म-परायण को। बताओ ये दूसरे कौन हैं। वह कहता है कि ये तो रघु महाराज हैं, जिनके उठने बैठने पर सहस्रों ब्राह्मण

आशीर्वाद दिया करते थे। भरत कहते हैं—अहो! काल कैसा विकराल है, जिसने ऐसी पुण्य-रक्षा का भी उल्लंघन कर डाला। फिर वे उन्हें नमस्कार कर आगे की मूर्ति के विषय में पूछते हैं। देवकुलिक कहता है कि प्रिया के वियोग से विदीर्ण हृदय हो राज्य-भार त्याग जिन्होंने नित्य यज्ञान्त से रजोगुण को शान्त किया, वे ये महाराज अज हैं। भरत कहते हैं—नमस्कार है ऐसे श्लाघनीय पश्चात्तापी को। अब क्रमश दिलीप, रघु और अज की मूर्तियाँ आ चुकने पर चौथी मूर्ति अज के पुत्र दशरथ की होनी चाहिए, अतः भरत बड़े व्याकुल हो जाते हैं और पूछते हैं कि इनके गुणों के अतिशय आदर के कारण मुझे ठीक ठीक स्मरण नहीं रहा, अतएव बताओ ये कौन हैं। वह कहता है—ये दिलीप हैं। भरत कहता है—महाराज के पड़दादा हैं। अच्छा दूसरे कौन हैं? वह कहता है—श्रीमान रघु। भरत कहते हैं—महाराज के दादा, और पूछते हैं कि इनके आगे कौन हैं। वह कहता है श्रीमान् अज। भरत सोचते है कि ये तो पिता के पिता अर्थात् मेरे दादा हैं। वे फिर भी संशय निवारण करने के लिये पूछते हैं—क्या कहा? क्या कहा? देवकुलिक फिर बतलाता है—ये दिलीप हैं, ये रघु हैं, ये अज हैं। इस पर भरत के चित्त की चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वे पूछते हैं—क्योंजी क्या जीते हुओं की भी प्रतिमाएँ रक्खी जाती हैं? वह उत्तर देता है—नहीं। केवल स्वर्गवासियों की प्रतिमाएँ रक्खी जाती हैं। अब तो भरत का विषाद और भी विशुद्ध रूप धारण कर लेता है और वे कहते हैं "हाँ इसलिए आप से कुछ पूछना है।" देवकुलिक यह देखकर कि यह बारंबार इन तीनों के ही विषय में पूछ रहा है, उसको रोक कर कहता है कि—

> येन प्राणाश्च राज्यं च स्त्रीशुल्कार्थे विसर्जिताः।
> इमां दशरथस्य त्वं प्रतिमां किं न पृच्छसि॥

आशय—जिन्होंने स्त्री के शुल्क के लिये प्राण और राज्य दोनों ही त्याग दिए, उन दशरथ की इस मूर्ति के बारे में आप क्यों नहीं

पूछते ? इन शब्दों के सुनते ही भरत "हा तात !" कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं। जब उन्हें कुछ चेत आता है तब वे देवकुलिक से सार वृत्तांत सुनकर और भी दुखी हो जाते हैं। इतने ही में सुमंत्र-सहित रानियाँ उस प्रतिमागृह को देखने आती हैं और भरत से मिलती हैं। भरत सबसे सत्कारपूर्वक मिलते हैं, परंतु कैकेयी से कहते हैं कि तू तो मेरी माता ही नहीं, तू तो गंगा-यमुना रूपी मेरी माताओं के बीच में कुनदी के समान घुस पड़ी है। वह कहती है—मैंने क्या किया? भरत कहते हैं—क्या किया ? अरे हमको अपयश के चीर से और महाराज को कफन से ढक दिया, सारी अयोध्या की आँखों में आँसुओं के नाले बहा दिए, प्यारे राम लक्ष्मण को मृगों के साथ कर दिया, अम्बाओं को शोक में डाल दिया, पुत्रवधू को रास्ते चलाया; धिक्कार है कि तूने अपनी आत्मा को ऐसे बुरे काम में नियोजित किया। कैकेयी कहती है कि पुत्र ! मैंने तो महाराज के साथ वचन की रक्षा करते हुए कहा था कि मेरा पुत्र राजा हो। इस पर भरत उत्तर देते हैं—मेरे बड़े भाई (राम) तेरे क्या लगते हैं ?

पितुर्मे नौरसः पुत्रो न क्रमेणाभिषिच्यते।
दयिता भ्रातरो न स्युः प्रकृतीनां न रोचते॥

आशय—क्या वे मेरे पिता के जाए हुए पुत्र नहीं ? क्या नियम के अनुसार वे अभिषेक के अधिकारी नहीं ? क्या वे भाइयों के प्यारे नहीं ? क्या प्रकृति उन्हें पसंद नहीं करती ?

कैकेयी कहती है कि इन प्रश्नों का उत्तर तो जो शुल्कलुब्धा हो, उससे पूछना। मैं अपनी बात उचित अवसर पर बताऊँगी। तद्-नंतर सुमंत निवेदन करता है कि वशिष्ठ, वामदेव प्रकृति के सहित अभिषेक की सामग्री लेकर यहाँ आए हुए हैं और उन्होंने यह कहलवाया है कि जैसे बिना गोप के अरक्षित रहने से गौएँ इधर उधर हो जाती हैं, उसी प्रकार बिना राजा के प्रजा विच्छिन्न हो जाती है। भरत कहते हैं—प्रकृति मेरे साथ चलें। यह सुनकर मंत्री

पूछता है कि अभिषेक को छोड़ आप कहाँ जायँगे ? इसका वे उत्तर देते हैं कि अभिषेक श्रीमती कैकेयी को दे दो; मैं तो—

तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रियः।
नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः॥

आशय—वहाँ जाऊँगा जहाँ लक्ष्मण के प्यारे (राम) हैं, उनके बिना अयोध्या अयोध्या नहीं। अयोध्या वही है जहाँ राघव हैं।

चौथे अंक में यह बतलाया है कि भरत सुमंत्र को साथ लेकर राम के पास जाते हैं, उनका आश्रम समीप आने पर रथ से उतर जाते हैं और सुमंत्र से कहते हैं कि तुम निवेदन करो। सुमंत्र पूछता है कि क्या निवेदन करूँ ? वे कहते हैं कि राम से यह निवेदन करो कि राज्यलुब्धा कैकेयी का पुत्र भरत आया है। यह सुन सुमंत्र कहता है कि कुमार ! रहने दो, बारंबार गुरुजन की निंदा करना ठीक नहीं। वे कहते हैं कि हाँ ठीक है, दूसरे का दोष बखानना अच्छा नहीं; इसलिये यों कहो कि इक्ष्वाकुकुल-कलंक भरत आपके दर्शन करना चाहता है। मंत्री कहता है कि मैं तो यों भी नहीं कह सकता। हाँ इतना कह सकता हूँ कि भरत आया है। भरत कहते हैं कि नहीं, केवल नाम कहना तो अकृत प्रायश्चित्त के समान जँचता है, इसलिये मैं ही निवेदन करता हूँ। इतना कहकर वे उच्च स्वर से कहते हैं कि पितृवचनप्रतिपालक श्रीमान् राघव की सेवा में निवेदन करो कि—

निर्घृणश्च कृतघ्नश्च प्राकृतः प्रियसाहसः।
भक्तिमानागतः कश्चित् कथं तिष्ठतु यात्विति॥

आशय—कोई निर्दय, कृतघ्न, गँवार, अक्खड़, परंतु भक्तिमान् आया है, वह ठहरा रहे या चला जाय।

ये स्वर सुनते ही लक्ष्मण से राम कहते हैं कि वत्स, बाहर जाकर देखो, यह कौन है, जिसका स्वर अपने पिता के स्वर जैसा है। लक्ष्मण बाहर आते हैं और शीघ्र भरत और सुमंत्र से मिल लौटकर कहते हैं—आर्य !

अयं ते दयितो भ्राता भरतो भ्रातृवत्सलः ।
संक्रान्तं यत्र ते रूपमादर्श इव तिष्ठति ॥

आशय—आईने में पड़े हुए आपके प्रतिबिंब के समान यह आपका प्यारा भाई भ्रातृ-वत्सल भरत आया हुआ है ।

यह सुन राम सीता से कहते हैं कि तुम भरत के दर्शन करने के लिये अपने नेत्र विशाल करो, देखो—

अद्य खल्ववगच्छामि पित्रा मे दुष्करं कृतम् ।
कीदृशस्तनयस्नेहो भ्रातृस्नेहोऽयमीदृशः ॥

आशय—आज मुझको पता लगा है कि मेरे पिता ने बड़ा कठिन काम किया । जब भ्रातृस्नेह ही ऐसा है तो सोचो, पितृस्नेह कैसा होगा ।

लक्ष्मण कहते हैं—आर्य ! क्या कुमार को अंदर बुला लाऊँ? यह प्रश्न सुन राम उत्तर देते हैं कि वाह, क्या इसमें भी यह आवश्यकता है कि तुम मेरे मन की मेरे मुख से कहलवाओ ? जाओ, सत्कारपूर्वक कुमार को शीघ्र ले आओ अथवा ठहरो—

इयं स्वयं गच्छतु मानहेतोर्मातेव भावं तनये निवेश्य ।
तुषारपूर्णोत्पलपत्रनेत्रा हर्षास्रमासारमिवोत्सृजन्ती ॥

आशय—सन्मानार्थ पुत्र के प्रति माता के भावों को धारण करती हुई, ओस से ढँके हुए कमल-दल के समान नेत्रवाली, हर्ष के आँसुओं को जलधारा के समान गिराती हुई यह (सीता) स्वयं चली जाय ।

अपने पति के आज्ञानुसार सीता स्वयं जाती है और भरत को अंदर ले आती है । वे अभिवादन करते हैं और राम "स्वस्ति !" उच्चारण कर कहते हैं—

वक्षः प्रसारय कवाटपुटप्रमाण-
मालिङ्ग मां सुविपुलेन भुजद्वयेन ।
उन्नामयाननमिदं शरदिन्दुकल्पं
प्रह्लादय व्यसनदग्धमिदं शरीरम् ॥

आशय—हे प्यारे, किवाड़ की जोड़ी के समान अपनी छाती को फैलाओ और अपनी लंबी लंबी भुजाओं से मुझे आलिंगन दो। शरद् चंद्र के समान अपने मुख को ऊँचा करो और विपद् से विदीर्ण इस शरीर को हर्षित करो।

तदनंतर पिता के स्वर्गवास का प्रसंग प्रारंभ हो जाता है और भरत कहते हैं कि मैं यहाँ आपकी सेवा करूँगा। राम इस बात को अंगीकार नहीं करते और कहते हैं कि देखो—

पितुर्नियोगादहमागतो वनं
न वत्स ! दर्पान्न भयान्न विभ्रमात्।
कुलं च नः सत्यधनं ब्रवीमि ते
कथं भवान् नीचपथे प्रवर्तते ॥

आशय—वत्स ! मैं पिता की आज्ञा से वन को आया हूँ, घमंड से, भय से अथवा पागलपन से नहीं। मैं तुमसे कहता हूँ कि अपना कुल सत्यधन है। उसमें उत्पन्न हुए तुम क्योंकर नीच मार्ग में प्रवृत्त होने लगे ?

इस प्रबल प्रतिषेधकारी वचन के लिये भरत के पास कुछ भी उत्तर नहीं रहता। वे पूछते हैं अच्छा ! यह बताओ कि यह अभिषेक-उदक कहाँ रक्खें ? राम कहते हैं कि जहाँ रखने के लिये माता ने कहा है, वहीं रक्खो। यह मर्मभेदी वचन भरत को बहुत व्यथित करता है, और वे सप्रभाव और सकरुण शब्दों में कहते हैं कि आर्य ! प्रसन्न हूजिए ! अब जले पर नमक छिड़कना अनुचित है। देखिए—

अपि सुगुण ! ममापि त्वत्प्रसूतिः प्रसूतिः
स खलु निभृतधीमांस्ते पिता मे पिता च।
सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो
वरद ! भरतमार्तं पश्य तावत् यथावत् ॥

आशयः—हे सुगुण ! जो मेरी माता है, वह आपकी भी माता है, जो मेरे पिता हैं वे आपके भी पिता हैं। हे पुरुषोत्तम, पुरुष

मातृदोष को दोष नहीं गिनते। हे वत्स! आर्त भरत को तो आप पूर्ववत् यथार्थ ही समझें।

राम इन प्रभावशाली शब्दों को सुन गंभीरता के साथ कुछ सोचने लगते हैं और उनके मुख से कुछ उत्तर न निकलने से सीता कहती है—आर्यपुत्र! भरत ने अति करुण वचन कहे हैं। आप क्या सोचने लग गए हैं? इस पर वे उत्तर देते हैं कि मैथिलि! मैं उन स्वर्ग गए महाराज को सोचता हूँ, जिन्होंने गुण के निधान इस सुपुत्र (भरत) को नहीं देखा; और फिर भरत को समझाते हैं कि मैं तुमसे अत्यंत संतुष्ट हूँ, तुम निष्पाप हो, किंतु तुम्हें महाराज के वचनों को अनृत करना उचित नहीं। तुम जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले पिता की आज्ञा का पालन न होना कहाँ तक ठीक है? यह सुन भरत कहते हैं—अच्छा, १४ वर्ष तक आपका राज्य अपने हाथों में धरोहर के रूप में रख आपको वापस देना चाहता हूँ और आप की प्रतिनिधि रूप पादुका साथ ले जाना चाहता हूँ। यह सुन राम मन में कहते हैं—

सुचिरेणापि कालेन यशः किञ्चिन्मयार्जितम्।
अचिरेणैव कालेन भरतेनाद्य सञ्चितम्॥

आशय—जो मैंने बहुत कुछ समय में थोड़ा सा यश कमाया था; परंतु आज क्षणमात्र में ही उसे भरत ने कमा डाला।

सीता कहती है कि आर्य्यपुत्र! यह भरत की प्रथम याचना है, इसे पूरा कीजिए। इस पर वे पादुकाएँ देकर भरत को बिदा करते हैं। यहाँ चतुर्थ अंक समाप्त होता है।

पाँचवें अंक में यह दिखलाया है कि राम सीता से सलाह करते हैं कि कल पिताजी का वार्षिक श्राद्ध है। कल्प (श्राद्धकल्प) के अनुसार पितर निवपन क्रिया चाहते हैं। वे मेरी इस दशा को जानते हैं, अतएव वे जैसे तैसे जो कुछ बन पड़े, उससे तृप्त हो जायँगे। तथापि मैं यह चाहता हूँ कि मैं राम के पिता के योग्य अर्चन करूँ। सीता इस विषय में कहती है कि भरत ऋद्धि-पूर्वक श्राद्ध कर लेंगे।

आप भी इस स्थिति के अनुसार जो कुछ फल फूल जल आदि मिले, उससे अर्चन कर दें और इसे पिताजी बहुत कुछ मानेंगे। राम कहते हैं—मैथिलि ! बहुत कुछ क्या मानेंगे, मैं तो समझता हूँ कि—

फलानि दृष्ट्वा दर्भेषु स्वहस्तरचितानि नः।
स्मारितो वनवासं च तातस्तत्रापि रोदिति ॥

आशय—अपने हाथों से दी हुई दर्भ और फलों की अंजली को देख वनवास की याद आ जाने से वहाँ पर भी पिताजी की आँखों से आँसू निकल पड़ेंगे।

इतने में रावण अतिथि के रूप में वहाँ आ जाता है और कहता है—मैं काश्यप गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण हूँ, मैंने सांगोपांग वेद, मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर का योगशास्त्र, बार्हस्पत्य का अर्थशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र तथा प्राचेतस् का श्राद्धकल्प पढ़ा है। राम कहते हैं—क्या कहा श्राद्धकल्प ! तदनंतर श्राद्ध के विषय में पारस्परिक वार्त्तालाप हो पड़ता है और वह कांचन-पार्श्व-मृग (ऐसा हरिण जिसका पीछे का भाग सोने का सा होता है) को श्राद्ध के विषय में उत्तम बताता है। इतने ही में एक उसी तरह का मृग भी दिखाई पड़ता है और राम सीता से कहते हैं कि तुम लक्ष्मण से कहो कि इसे ले आवें। सीता उत्तर देती है कि लक्ष्मण को तो आपने तीर्थ यात्रा से लौटे हुए कुलपति (जो दस सहस्र विद्यार्थियों को पढ़ावे) से मिलने को भेज दिया है। यह सुन वे कहते हैं—अच्छा, मैं स्वयं जाता हूँ। तुम इन (ब्राह्मण के रूप में रावण) की शुश्रूषा करना। यों सीता अकेली रह जाती है और रावण उसे हर ले जाता है। चलते समय वह जनस्थानवासी तपस्वियों से कहता है—

बलादेव दशग्रीवः सीतामादाय गच्छति।
क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम् ॥

आशय—मैं रावण बलात्कार सीता को लिए जा रहा हूँ; यदि राम को क्षात्रधर्म से प्रेम हो तो पराक्रम दिखावे।

मार्ग में उसे जटायु रोकता है, परंतु वह मारा जाता है।

छठे अंक में यह बतलाया है कि राम के समाचार (दर्शन) लेने के लिये जनस्थान को भेजा हुआ सुमन्त्र लौटकर बड़ी चतुराई से भरत से कहता है कि सीता रावण से हरी गई और राम जनस्थान से किष्किन्धा को चले गए। भरत इस दुर्घटना को सुन मूर्च्छित हो जाते हैं और सचेत होने पर कैकेयी के पास जाकर कहते हैं कि ले, जो तेरी आज्ञा से स्वराज्य छोड़ बन को गए, उनकी स्त्री सीता हर ली गई। अब तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। सत्वयुक्त मनस्वी इक्ष्वाकुओं के घर में जब तुझ जैसी बहू आई, तब हमारी कुलवधु को अपकीर्त्ति प्राप्त हुई। कैकेयी कहती है कि पुत्र! तुझे एक शाप का वृत्तांत ज्ञात नहीं जिससे तू मुझे बुरा भला कहता है। एक समय महाराज ने कलश भरते हुए अंधे ऋषि के पुत्र को वनगज के धोखे में मार डाला था। उससे उन्हें शाप मिला कि तुम पुत्र-शोक से संतप्त होकर शरीर त्यागोगे। महर्षि का शाप अपरिहार्य था, अतएव वह बिना पुत्र-वियोग के पूरा नहीं हो सकता था। मैंने अपने आपको अपराधी बना राम को बन भेजा, तुझको इसलिये वन में नहीं भेजा कि तू तो मातुल कुल में रहने से अपने आप ही विप्रवासी था। मैं १४ दिन कहनेवाली थी, परंतु पर्याकुल हृदय होने से मुख से १४ वर्ष निकल गए; और यह रहस्य वशिष्ठ, वामदेवादि को ज्ञात है। भरत इस कृत्य से संतुष्ट होते हैं और राम की सहायता के लिये सेना लेकर जाने का उद्योग करते हैं।

सातवें अंक में यह बताया है कि रावण को मार सीता को साथ ले रामचंद्र जनस्थान पर आते हैं। वहीं भरत भी उनसे मिल जाते हैं और वहीं पर वशिष्ठ, वामदेवादि उनका अभिषेक करते हैं। अभिषेक होने पर राम आकाश की ओर मुख कर कहते हैं—भो तात—

स्वर्गेऽपि तुष्टिमुपगच्छ विमुञ्च दैन्यं
कर्म त्वयाभिलषितं मयि यत् तदेतत्।
राजा किलास्मि भुवि सत्कृतभारवाही
धर्मेण लोकपरिरक्षणमभ्युपेतम्॥

आशय—हे पिताजी ! आप स्वर्ग में हैं, परंतु वहाँ पर भी प्रसन्न हूजिए, उदासीनता त्याग दीजिए, जो कार्य आपने चाहा था, वह मैंने कर लिया है। अब मैं सत्कर्म का भार उठानेवाला एवं धर्म से प्रजा का पालन करने के लिये राजा हुआ हूँ।

भरत इस अभिषेक से बहुत ही प्रसन्न होते हैं और कहते हैं—

अधिगतनृपशब्दं धार्यमाणातपत्रं
विकसितकृतमौलिं तीर्थतोयाभिषिक्तम्।
गुरुमधिगतलीलं वन्द्यमानं जनौघै-
र्नवशशिनमिवार्यं पश्यतो मे न तृप्तिः॥

आशय—राजा के पद से विभूषित, छत्र धारण किए हुए, तीर्थ-जल से अभिषिक्त, सिर पर मुकुट धारण किए हुए, नवीन चंद्रमा के समान प्रजाजन से वन्द्यमान अपने बड़े भाई को बारंबार देखते देखते भी मुझे तृप्ति नहीं होती।

शत्रुघ्न भी कहते हैं—

पत्त्रार्याभिषेकेण कुलं मे नष्टकल्मषम्।
पुनः प्रकाशतां याति सोमस्येवोदये जगत्॥

आशय—आज आर्य के अभिषेक से हमारा कुल निष्कलंक हुआ और जिस प्रकार चंद्रमा के उदय से जगत् प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पुनरपि वह प्रकाशित हो रहा है।

शत्रुघ्न के भाषण के समाप्त होने पर लक्ष्मण से स्वयं राम कहते हैं कि वत्स लक्ष्मण ! अब मैं राज्यारूढ़ हो गया हूँ। वे संक्षेप में उत्तर देते हैं—'बधाई है'।

तदनंतर सब पुष्पक पर चढ़ अयोध्या जाते हैं और अभिनय समाप्त होता है।

---

(१३) गो० तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार

[लेखक—राय कृष्ण जी, काशी]

गोस्वामी तुलसीदास जी की त्रिशत वार्षिक जयंती के अवसर पर काशी नागरीप्रचारणी सभा ने तुलसी-ग्रंथावली प्रकाशित की है। उसके पहले खंड में राम-चरित-मानस, दूसरे में विनय-पत्रिका इत्यादि तुलसी-कृत ग्रंथ और तीसरे में निबंधावली है। इस तीसरे खंड की निबंधावली में पं० गिरधर शर्म्मा चतुर्वेदी का 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार' नाम का एक लेख है। उसके आरंभ में चतुर्वेदी जी ने लिखा है—"यह लेख किसी सांप्रदायिक पक्षपात के वश होकर नहीं लिखा जाता"। यों तो इस तरह के बहुतेरे लेख प्रकाशित हुआ करते हैं, परंतु चतुर्वेदी जी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् का ऐसा लिखने और सभा ऐसी प्रतिष्ठित संस्था का ऐसे अवसर पर उसे इस प्रकार प्रकाशित करने से यदि लोग इसकी प्रामाणिकता के विषय में विश्वस्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव मैंने इसे चाव से पढ़ना प्रारंभ किया। परंतु बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि उसे पढ़ने पर मेरी यह धारणा जाती रही।

चतुर्वेदी जी का कथन है—"यही निश्चय करना पड़ता है कि दार्शनिक सिद्धांतों में श्री गोस्वामी जी श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी हैं।" यहाँ शांकरवाद के मोटे मोटे तत्त्व बहुत संक्षेप में कह देना अनुचित न होगा। अद्वैत उस सिद्धांत को कहते हैं जिसमें ईश्वर और जीव को परमार्थतः एक मानते हैं। इसकी शांकरवाद के अतिरिक्त कई शाखाएँ हैं, जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि। शांकरवाद का यह सिद्धांत है कि परब्रह्म में अच्छे बुरे कोई गुण नहीं हैं; वह सत्य है; वह सर्वव्याप्त है; वह न कुछ करता है न कराता है; वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है;

सारा जगत—जो कुछ इंद्रिय, मन या बुद्धि-गोचर है—सब मिथ्या है; जीवात्मा परमात्मा ही है, परंतु माया और अविद्या के कारण आत्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है। जिस तरह रस्सी देखकर कभी कभी सर्प का भ्रम हो जाता है या कुछ अँधेरे में जंगल में लकड़ी का कुंदा खड़ा देखकर आदमी का भ्रम हो जाता है, पर वास्तव में वे सर्प या आदमी नहीं रहते, उसी तरह सृष्टि भी मनुष्य का भ्रम मात्र ही है, वास्तव में मिथ्या है, है ही नहीं। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है, जब वह सृष्टि को मिथ्या और अपनी आत्मा को परमात्मा—सोऽहमस्मि—जान लेता है, तब वह जीव भी अव्यक्त, अचिंत्य, निर्गुण ब्रह्म है। जितने जप, तप, दान, क्रिया, कर्म, भक्ति इत्यादि साधन हैं, उन सब का अभिप्राय, उन सब का एक मात्र हेतु, ज्ञान होना है। ज्ञान हो जाने पर कोई कर्म करना शेष नहीं रह जाता; क्योंकि सब साधनों का अंतिम फल ज्ञान ही है। केवल अज्ञान—माया और अविद्या के आवरण—ही के कारण जीव अपने को परमात्मा से भिन्न समझकर सांसारिक शोक-मोह इत्यादि में फँसता है। जहाँ उसका अज्ञान नष्ट हुआ, वह अविद्या और माया से मुक्त हुआ, कि उसने अपने आत्मा का वास्तविक रूप जाना। जहाँ उसमें इस अभेद का ज्ञान हो गया, तहाँ वह परमात्मा है।

चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में रामायण के अंशों का प्रमाण दिया है। मैंने भी प्रायः उन्हीं अंशों को उद्धृत किया है। जो पाठक स्वयं तत्त्व-निरूपण करना चाहें, उनके सुभीते के लिये हर एक प्रमाण के नीचे पूर्वोक्त सभा द्वारा प्रकाशित राम-चरित-मानस की पृष्ठ-संख्या दी जाती है। संभव है कि रामायण की सब प्रतियों में यह शुद्ध हो, इससे इसीका आधार लिया गया है। यहाँ यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि रामायण ऐसे महाकाव्य से एक पंक्ति यहाँ से और एक वहाँ से लेकर सभी मत सिद्ध किए जा सकते हैं। परंतु गोस्वामी जी के विचारों का प्रामाणिक तत्त्व-निरूपण करने के लिये व्यापक दृष्टि से, अनेक स्थलों पर कहे हुए वाक्यों की

परस्पर संगति का विचार किए बिना कोई परिणाम निकालना उचित न होगा।

पहला प्रमाण मंगलाचरण से देकर:—

"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा-
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥"

लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "इस श्लोक में स्पष्ट ही श्री शंकराचार्य का अद्वैतवाद, न केवल अद्वैतवाद ही किंतु मायावाद भी, उल्लिखित हुआ है।" और कुछ आगे लिखते हैं—"शंकर दर्शन में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ये मायाविशिष्ट चैतन्य की उपाधि भेद भिन्न भिन्न संज्ञाएँ स्वीकार की गई हैं और विशिष्ट सब शुद्ध चैतन्य पर ही अधिष्ठित हैं।" आप स्वयं पहले लिख आए हैं—"यह प्रसिद्ध बात है कि रामभक्त गोस्वामी जी अनन्य वैष्णव थे।" ऐसी हालत में जब इसका भक्ति-मार्ग के अनुसार सीधा सीधा अर्थ लग सकता है तब हमें कोई कारण नहीं दीखता कि उसमें ऊपर से और अर्थों का आरोप क्यों किया जाय। गोस्वामी जी को पहले शांकरवाद का अनुगामी बनाकर फिर यह कहना कि, अपने इष्ट को शुद्ध चैतन्य की उपाधि समझने पर भी वे इस मिथ्या उपाधि मात्र के अनन्य भक्त थे, धर्म के कुछ विरुद्ध ही जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने आगे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्री रामचंद्र मायाविशिष्ट नहीं किंतु शुद्ध चैतन्य हैं। यहाँ भी इस श्लोक के पूर्व गोस्वामी जी ने

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ (पृ० २)

लिखा है। इसका अर्थ है—उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाली, क्लेश हरनेवाली, संपूर्ण मंगल करनेवाली राम की प्रिया को मैं नमस्कार करता हूँ। यह स्पष्ट त्रिगुणात्मक प्रकृति का वर्णन है, न कि माया का। चतुर्वेदी जी ने सब जगह यह अर्थ लगाया है; मानो

गोस्वामी जी को राम और सीता से अद्वैत कथित ब्रह्म और माया अभिप्रेत हैं। क्या यथार्थ दृष्टि से शांकरवाद में ब्रह्म और माया में प्रिय-प्रिया का संबंध है? अगर नहीं है—मैं यही समझता हूँ कि नही है; वहाँ तो 'नेदं यदिदं उपासते' है और प्रीति होने से उपास्य-उपासक भाव होता है—तो यह शांकरवाद कैसे रहा?

अपने संकल्प को पुष्ट करने के लिये लेखक महाशय कहते हैं कि "और स्थानों में भी जहाँ प्रसंग आया है, श्री गोस्वामी जी ने मायावाद का स्फुट उल्लेख किया है। जैसा कि सुंदरकांड में हनुमान की उक्ति है:—

"सुनु रावण ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचित माया।
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।"

पहले तो यह 'माया' नहीं किंतु प्रकृति का वर्णन है जो 'ब्रह्मांड निकाया' के बल से नाना प्रकार की रचना करती है और उसी बल से सृष्टि पैदा होती है, पाली जाती है और नष्ट होती है। दूसरे अधूरी उक्ति न लेकर समूची पर ध्यान देने से यह साफ़ हो जाता है कि यह गोस्वामी जी का मायावाद है या चतुर्वेदी जी का। इसके आगे हनुमान जी का वाक्य है:—

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन।
धरे जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता।
हरकोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप-दल-मद गंजा।
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित-बल-साली।
जा के बल-लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥ (पृ० ३५१)

यहाँ न 'माया' की सत्ता का अस्वीकार, न जगत की मिथ्यता लक्षित होती है।

अब चतुर्वेदी जी 'जड़ चेतन' इत्यादि दोहा और 'सीय-राममय' चौपाई का प्रमाण देते हैं। इन दोनों के बीच का एक दोहा और एक चौपाई छूट गई है। मैं इन्हें पूरा करके लिखता हूँ:—

"जड़ चेतन जगजीवजत, सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि॥"
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल-नभ-बासी।
"सीय-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग-पानी॥"
(पृ० ६–७)

इस पर चतुर्वेदी जी की राय है कि "राममय जगत् देखना, राम के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद ही की पराकाष्ठा है।" पहले तो राममय का अर्थ राम से उत्पन्न अथवा राम–प्रधान है, न कि रामात्मक; दूसरे गोस्वामी जी ने चौपाई में 'राममय' मात्र न कह कर 'सीय राममय' कहा है; तीसरे इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब चराचर सृष्टि को सत्य मानते थे—केवल सत्य ही नहीं बल्कि राममय समझने के कारण वंदनीय भी मानते थे। यह भक्ति-मार्ग की काष्ठा भले ही हो, परंतु यह अद्वैतवाद की पराकाष्ठा नहीं जान पड़ती।

इसके आगे रामकथा की श्रेष्ठता और अपनी दीनता प्रकट करने के लिये गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा है, उसमें से लेखक महाशय यह पंक्तियाँ लेकर :—

सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥
सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥"

'नेति नेति', 'एक', 'अनीह', 'अरूप', 'अनामा', 'अज' और 'सच्चिदानंद' शब्दों की अद्वैतवाद के अनुसार व्याख्या कर

यह नतीजा निकालते हैं—"बस, इस प्रकरण का भी तात्पर्य शांकर मत से स्पष्ट मिल रहा है"। पर गोस्वामी जी के 'तात्पर्य' से और इससे अंतर है। उन्होंने कुछ पहले कहा है—

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥
(पृ० ६)

और कुछ आगे कहा है :—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई॥
(पृ० १०)

जिससे स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी राम-चरित्र को अनंत—अपार समझते थे, इसी लिये उन चरित्रों के पूरे कथन में वेद को भी अंत में "नेति नेति" पुकारने से, असमर्थ समझते थे, तब भी उन्हें हरि-कीर्ति के गान ही का मार्ग भाता था। ऐसा अर्थ करने से 'नेति नेति' इत्यादि शब्दों का अर्थ 'परधामा', 'व्यापक', 'विश्व-रूप' इत्यादि के अर्थ के साथ सुसंगत भी हो जाता है।

इसके बाद चतुर्वेदी जी

"गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न"॥

का यह अर्थ लगाते हैं कि सीता और राम माया और ब्रह्म के परस्पर शब्द हैं और इस पर व्याख्या करके यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि "गोस्वामी जी ने भी ब्रह्म और माया का 'जल-बीचि' की तरह सम्बन्ध मानकर और भेदाभेद के द्वारा अनिर्वच-नीयता मानकर इस सिद्धान्त का स्वीकार किया। सो श्री गोस्वामी जी का यह दोहा स्पष्ट ही शंकर वेदान्त का अनुयायी है, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता।" यहाँ गोस्वामी जी ने इस भेदाभेद को मिथ्या नहीं कहा है। मिथ्या न मानने से यह भेदाभेद अनिर्वचनीयतावाद न सिद्ध कर द्वैताद्वैत निंबार्क मत सिद्ध करता है। इस दोहे के आगे-पीछे की नीचे लिखी चौपाइयों से भी यही अर्थ सिद्ध होता है :—

जनक-सुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग-पद-कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥
पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥

"गिरा अरथ जल-बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"

बंदौं रामनाम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि-हरि-हर-मय बेदप्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥
(पृ० १३)

इसके अनंतर लेखक महाशय
"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी"॥
का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं कि "यहाँ नाम और रूप को ईश्वर की उपाधि बताया है . . . . सो यह उपाधिवाद शंकर मत का एक ख़ास सारभूत वाद है, जिसे यहाँ गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है। अतः श्री गोस्वामी जी का शंकर-मतानुयायी होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।" पहले तो उपाधिवाद सब दर्शनों में माना है। अद्वैत और अन्य दर्शनों में भेद यह है कि अद्वैत में इसे मिथ्या और अन्य दर्शनों में इसे सत्य मानते हैं। इसलिये केवल उपाधि से शांकरवाद सिद्ध नहीं होता। दूसरे गोस्वामी जी के मत से निर्गुण या सगुण ब्रह्म में एक को दूसरे से छोटा या बड़ा कहना तो अपराध है, परंतु 'साधू' गुण-भेद समझ कर आप ही देखेंगे कि 'रूप-ज्ञान' (अर्थात् ज्ञान-स्वरूप निर्गुण शुद्ध ब्रह्म) नाम-विहीन नहीं हो सकता। क्या इसका यह अभिप्राय है कि गोस्वामी जी ने शांकर-उपाधिवाद स्वीकार किया? हमें तो इस अर्थ का स्वीकार करने में अड़चन जान पड़ती है। गोस्वामी जी का कथन है:—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥"

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू ॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने ॥
सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे ॥
नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।

राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह देहरीद्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौ चाहसि उँजियार ॥ (पृ० १४)

इसके पढ़ने पर भी कुछ भ्रम बना रह गया हो तो आगे चलकर बिल्कुल जाता रहेगा; क्योंकि अद्वैत कथित 'उपाधिवाद को स्वीकार' करना तो दूर रहा, गोस्वामी जी ने इसका विरोध किया है।

इसके बाद चतुर्वेदी जी

"अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किये जेहि जुग बस निज बूते ॥
एकि दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू ॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें ॥"

लिख कर सिद्ध करते हैं कि "यहाँ सगुण निर्गुण का निरूपण है। और यह निरूपण शंकर सिद्धांत में ही सुसंगत होता है; क्योंकि दूसरे मतों में ब्रह्म का निर्गुण रूप नहीं माना जाता।" परंतु गोस्वामी जी का पूरा वाक्य देखने से उनके विचार कुछ और मालूम पड़ते हैं। इन चौपाइयों के पहले का दोहा यह है—

'सकल-कामना-हीन जे राम-भगति-रस-लीन।
नाम सुपेम-पियूष-ह्रद तिन्हहुँ किये मन मीन ॥ (पृ० १४)

'मोरे मत बड़ नाम दुहूँते' और 'एक दारुगत' इत्यादि के बीच में यह चौपाई है:—

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥
(पृ० १५)

और 'उभय अगम' इत्यादि के आगे गोस्वामी जी कहते हैं:—

ब्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नामनिरूपन नामजतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार-अनुसार॥ (पृ० १५)

इसके अतिरिक्त इस उद्धृत भाग के पहले की चौपाइयों में कहा है कि जो ब्रह्म-सुख का अनुभव करना चाहते हैं, वे भी नाम और रूप न मानने पर भी, नाम का जप करने ही से उस सुख को जान सकते हैं:—

ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
(पृ० १४)

"एकि दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू।" के संबंध में लेखक महाशय ने लिखा है—"विज्ञान-विहीन सत्रहवीं शताब्दी के गोस्वामी जी की यह उक्ति कितनी आश्चर्यकर है, इस पर नई रोशनी से चुँधियाए बाबू सज्जन विचार करें।" गोस्वामी जी के लिये यह कोई नई उक्ति नहीं थी। यह दृष्टांत वल्लभ संप्रदाय का है और इससे तो यही सिद्ध होता है कि यहाँ शुद्धाद्वैत का निरूपण है। आपने कई जगह ज़ोर दिया है कि 'निर्गुण' जैसे या और अमुक शब्द शांकरवाद मात्र में प्रयुक्त होते हैं। इससे जहाँ वैसे शब्द आ गए हैं, वहाँ गोस्वामी जी ने अपने शांकरवाद के अनुगामी होने का प्रमाण दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी शब्द मात्र के प्रयोग से दार्शनिक विचार नहीं सिद्ध होते। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग सभी मतों में होता है; केवल उनके अर्थ में भेद होता है। एक ही शब्द का एक मत में एक और दूसरे में दूसरा अर्थ मानते हैं; अतः शब्दों के प्रयोग मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि गोस्वामी जी शांकरमतानुयायी थे।

अब लेखक महाशय

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ॥"

बिष्णु जो सुरहित नरतनु-धारी । सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी ॥
खोजत सो कि अग्य इव नारी । ग्यानधाम श्रीपति असुरारी ॥"

का प्रमाण देकर यह तो कहते हैं कि "यह बाल कांड में सती-मोह का प्रकरण है," परंतु कथा कुछ विस्तार से कहने पर भी आप यों चले हैं कि "इसी प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन किया जाता है" और इसके शब्दार्थ समझाकर कुछ तर्क के बाद यह निश्चय करते हैं कि "इन सब प्रकरणों पर दृष्टिपात करने से गोस्वामी तुलसीदास जी के शंकर-मतानुयायी होने में कोई संदेह नहीं रहता । यह भी यहाँ स्पष्ट हो गया कि गोस्वामी जी विष्णु, शंकर आदि को सृष्टि-पालन आदि के लिये ब्रह्म के सोपाधिक रूप एवं परस्पर समान मानते थे और शुद्ध ब्रह्म को इन सब से परे मानते थे" । इस प्रसंग पर 'दृष्टिपात करने से' यह जान पड़ता है कि वास्तव में यह ब्रह्म का वर्णन नहीं है, किंतु सती के बुद्धि-भ्रम का वर्णन है । गोस्वामीजी

सती सो दसा संभु कै देखी । उर उपजा संदेहु बिसेखी ।
संकर जगतबंद्य जगदीसा । सुर नर मुनि सब नावत सीसा ।
तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा । कहि सच्चिदानंद परधामा ।
भये मगन छबि तासु बिलोकी । अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ।

लिखकर चतुर्वेदी जी के प्रमाणवाले दोहे आदि के अनंतर फिर लिखते हैं:—

संभुगिरा पुनि मृषा न होई । सिव सर्वग्य जानु सब कोई ।
अस संसय मन भयेउ अपारा । होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ।
(पृ० २७)

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, उपाधिवाद तो सभी मतों में मानते हैं । देखना यह है कि अद्वैत मत के अनुसार गोस्वामी जी सोपाधि रूप को मिथ्या मानते हैं या नहीं । यदि वह मिथ्या नहीं

मानते, तब इस वाक्य से 'ब्रह्म का वर्णन' मान कर भी अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती। यहाँ ब्रह्म का वर्णन यों है:—

आसु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहिं सुनाई।
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज-तंत्र नित रघु-कुल-मनी॥

(पृ० २७)

यह वाक्य शांकरवाद के अनुकूल नहीं दिखाई देता। कुंभज ऋषि के कथा-गान, उनकी भक्ति, इष्ट-देव, मुनियों के सेव्य, ध्येय, व्यापक, 'भुवन-निकाय पति मायाधनी' होने से यह सगुण ब्रह्म का निरूपण है जिसकी कीर्ति को 'नेति नेति' कहने पर भी वेद, पुराण आदि गाते चले आए हैं। इससे गोस्वामी जी का शांकर-मतानुयायी होना सिद्ध नहीं होता।

आगे चलकर चतुर्वेदी जी

"आगे शिव पार्वती के विवाह-वर्णन के अनंतर श्री पार्वती ने पुनः शंकर से राम-कथा के संबंध में प्रश्न किया, और शंकर भगवान् श्रीराम का स्मरण कर कथा आरंभ करने लगे। ...... उसमें अति स्पष्ट शंकर सिद्धांत का मायावाद विराजमान है। देखिए—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन-भ्रम जाई॥
बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू।
मंगल-भवन अमंगल-हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

... ... इससे अधिक शांकर 'मायावाद' का स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है। ... ...इससे कुछ ही आगे... गोस्वामी जी मायावाद के सिद्धांतों का और भी विस्तृत वर्णन करते हैं। यथा—

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम-बिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान-गुण-धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
ज्यों सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥

"यहाँ एक शंका होती है कि ब्रह्म जब स्वयंप्रकाश है, तब फिर उसके विषय में भ्रम क्यों हो रहा है?......अविद्या जीव की दृष्टि को (दर्शनशक्ति को) आच्छादित कर देती है जिससे इसे बिना अविद्या दूर किए ब्रह्म का यथार्थ बोध नहीं होता। यही आशय कुछ ही पूर्व की चौपाइयों में भी स्पष्ट किया जा चुका है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धर्म अहमिति अभिमाना॥

इत्यादि कहकर और कुछ शांकरवाद अभिमत शंकाओं को उपस्थित और उसी मतानुसार उनका समाधान कर आक्षेप करते हैं—"क्या अब भी श्री गोस्वामी जी के शंकरमतानुयायी होने में कोई संदेह रह जाता है?" खेद के साथ कहना पड़ता है कि चतुर्वेदी जी ने यहाँ गोस्वामी जी के वाक्य की संगति का बिलकुल तिरस्कार करके मनमाना अर्थ लगाया है। केवल यही नहीं किंतु अपनी ओर से शब्दों का आरोप करके और का और अर्थ निकालने की

चेष्टा की है। जैसे भ्रम के वर्णन को, जो पार्वती जी के प्रश्न से स्पष्ट है, अविद्या कहा है। यह प्रसंग कुछ लंबा है, अतः पाठकों से यह प्रार्थना करके कि वे स्वयं यह प्रकरण पूरा पढ़कर चतुर्वेदी जी के प्रश्न का यथार्थ उत्तर निकालने की कृपा करें, मैं, यथा शक्ति, संक्षेप में पूर्वोक्त पंक्तियों के वास्तविक संबंध और गोस्वामी जी के अभिप्राय का दिग्दर्शन कराता हूँ।

पहले तो पार्वती जी का प्रश्न इस प्रकार है:—

× × ×

तौं प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा-बिधि नाना।
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सहि कि दरिद्रजनित दुख सोई।

(पृ० ५१)

× × ×

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग-अराती।
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।

जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारि-बिरह-मतभोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

× × ×

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन-बपु-धारी।

× × ×

पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ग्यानी।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा।

× × ×

(पृ० ५२)

यह प्रश्न सुनकर महादेव जी ने कथा प्रारंभ करने के पहले परमेश्वर का ध्यान किया:—

हरि-हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए।
श्री-रघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा।
(पृ० ५२)

यहाँ गोस्वामी जी ने ज्ञानमय महादेव जी से सगुण ब्रह्म का ध्यान कराया है जिसके चरित्र-स्मरण से भोलानाथ प्रेम में मग्न हो गए और जिसके रूप के हृदयस्थ होने से परम आनंद और असीम सुख प्राप्त हुआ। इसके उपरांत पहले महादेव जी ने पार्वती जी के इस प्रश्न का उत्तर दिया कि "जिस राम को आप जपते हैं, वह अवध के राज-कुल-तिलक हैं या अज, निर्गुण, अव्यक्त ब्रह्म ? यदि राज-कुमार हैं, तब वह ब्रह्म किस तरह हो सकते हैं ?" महादेव जी कहते हैं :—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रज्जु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥
(पृ० ५२)

ऐसा शुद्ध ब्रह्म ही राम है, परंतु वह निर्गुण नहीं है किंतु नाम और गुणवाला है :—

बंदौं बाल-रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
(पृ० ५२)

× × ×

राम-नाम-गुन-चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥
तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥
(पृ० ५३)

वह नाम और गुणवाले भी कैसे ? जिनकी एक एक कथा, कीर्ति और गुण अनंत हैं। क्या उनकी कथा, कीर्ति, गुण इत्यादि दो चार या दस बीस हैं ? नहीं ! उनकी ये अनंत कथाएँ, कीर्तियाँ, गुण इत्यादि भी 'अगनित' हैं, वे भी इतनी ज्यादः हैं कि उनकी

गिनती हो ही नहीं सकती ! साक्षात् शक्तिस्वरूपा पार्वती जी से महादेव जी कहते हैं :—

एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥

(पृ० ५३)

और पार्वती जी का यह बात कहना इसलिये बुरा लगा कि—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह-पिसाच।
पाखंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साँच ॥

× × ×

(पृ० ५३)

मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥

(पृ० ५४)

× × ×

इसलिये, हे गिरिराज-कुमारी, तुम्हारा ऐसा भ्रम करना सर्वथा अनुचित है और तुम्हें इस पर विचार कर संशय-रहित हो कर राम-पद का भजन करना चाहिए; क्योंकि :—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥
जो गुनरहित अगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥

(पृ० ५४)

क्या तुम्हें यह भ्रम है कि शुद्ध परब्रह्म जब शरीर धारण करता है, तब वह माया-विशिष्ट हो जाता है ? यह बात नहीं है ! जिसके नाम का यह प्रताप है कि उसके भजने से माया-अंधकार नष्ट हो जाय, वह स्वयं कैसे माया में फँस सकता है ? उस में माया का लवलेश भी नहीं है। सुनो :—

जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहिं किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लव-लेसा॥

× × ×

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावरनाथ।
रघु-कुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायेउ माथ॥
(पृ० ५४)

हे पार्वती! तुम्हें क्या यह संदेह है (शांकर अद्वैत वाद के समान) कि शुद्ध ब्रह्म निर्गुण निराकार है और जिसे लोग ब्रह्म का अवतार कहते हैं, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं किंतु माया-विशिष्ट सोपाधि रूप हैं, इसलिये श्री रामचन्द्र भी माया-विशिष्ट सोपाधि रूप हैं? यह तुम्हारी बिलकुल भूल है—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
(पृ० ५४)

और प्रभु को अपने ऐसा जानकर तरह तरह के भ्रम कर उससे ऐसा उलटा-पलटा सिद्धांत सिद्ध करते हैं:—

जथा गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम-बिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
बिषय, करन, सुर, जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान - गुन - धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥
(पृ० ५४-५५)

हे भगवती ! असल में मनुष्य की बुद्धि हीन है, परंतु माया-जाल में फँसकर वह अहंकार के कारण अपने अज्ञान को ज्ञान समझकर तरह तरह के तर्क वितर्क कर मायावाद, मिथ्यावाद, उपाधिवाद को मानने योग्य सिद्धांत समझ बैठता है। यथार्थ रूप से ये सब केवल अहंकार जनित भ्रम हैं। ब्रह्मा आदि देवताओं में भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे इस भ्रम को मिटा सकें। हाँ—

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई।

(पृ० ५५)

मैं तो तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि :—

जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥

भला तुम्हीं समझो कि ऐसे अनंत राम के चरित्रों, गुणों और रूपों को कोई पूरी तरह जान सकता है ? अगर कोई यह जान सके तो वह राम अनंत कैसे हो सकता है ? उसके तो बिलकुल विचित्र चरित्र हैं। उसके विषय में एक परिमित मत सिद्ध करना :—

आदि अंत काउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेखा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान॥

× × × ×

सो राम परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी।
अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।

(पृ० ५५)

इसके आगे गोस्वामी जी ने लिखा है कि यह वाक्य सुनने से भ्रम नष्ट हो गया। मेरी भी ईश्वर से प्रार्थना है कि हम लोगों का भीः—

सुनि सिव के भ्रम-भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना॥

पाठकगण देखेंगे कि व्याप्य व्यापक, प्रकाश्य प्रकाशक आदि शब्द और गोस्वामी जी की वाक्य-संगति दोनों मायावाद का स्पष्ट विरोध दिखा रहे हैं। इतने पर भी कदाचित् हम लोगों का भ्रम बना ही रहे तो यही कहना पड़ता है—

बोले बिहँसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥

(पृ० ५७)

इसके बाद चतुर्वेदी जी 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा' इत्यादि का प्रमाण देकर यह नतीजा निकालते हैं कि "पाठक देखेंगे कि यहाँ गोस्वामी जी ने वेदांत-शास्त्राभिमत ब्रह्म का ही अवतार बताते हुए अवतारवाद के विपक्षियों को भी मुँहतोड़ उत्तर दिया है। और इस प्रकरण से भी उनकी अद्वैतमतानुयायिता स्पष्ट होती है।

"आगे भी बाललीला में आपने व्यापक ब्रह्म का ही अवतार रामचंद्र को बताया है—

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुण नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥

"......इस दोहे के पूर्वार्ध में जितने विशेषण दिए गए हैं, वे सब एकांततः शंकर-सिद्धांत के अनुकूल हैं। अन्य सिद्धांतों में इन विशेषणों की स्वरसता कदापि सुसंघटित नहीं होती। अर्थात् इस प्रकार का ब्रह्म दूसरे सिद्धांतों में नहीं माना जाता।" आपके इस लेख ने हमें ऐसा चकित कर दिया है कि समझ में नहीं आता कि क्या लिखें। धन्य हैं गोस्वामी श्री तुलसीदास जी और धन्य है उनका महाकाव्य जिन्होंने चतुर्वेदी जी से यह सिद्धांत सिद्ध कराया है कि अद्वैत कथित 'अकल, अनीह, अज, निर्गुण ब्रह्म' भक्त अथवा किसी हेतु से मायाविशिष्ट हुए बिना ही अवतार लेता है और 'नाना विधि' के 'अनूप चरित्र' भी करता है!

अब आप 'लेख-विस्तार के भय से' बाल कांड छोड़ अयोध्या कांड से "दो एक स्थल उदाहरणार्थ दिखाते हैं।" आपका पहला

उदाहरण श्री लक्ष्मण जी का वाक्य है जिससे आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत की व्याख्या के अनुकूल ही है।" चतुर्वेदी जी

"बोले लषन मधुर-मृदु बानी। ग्यान-बिराग-भगति-रस सानी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास बिरागा॥"

पर्यंत लिखकर अपने स्वभाव के अनुसार श्री लक्ष्मण जी के वाक्य पूरे नहीं करते। इसके आगे लक्ष्मण जी यों कहते हैं:—

होइ बिबेकु मोहभ्रम भागा। तब रघु-नाथ-चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन-क्रम-बचन रामपद-नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत, अलख, अनादि, अनूपा॥
सकल-बिकार-रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल॥

(पृ० १६३)

इसके अनुसार ज्ञान होने पर, माया-जनित भ्रम के हट जाने पर 'रघु-नाथ-चरन अनुराग' होता है, न कि वह जीव ब्रह्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका 'सकल-बिकार-रहित' ब्रह्म भी 'करत चरित धरि मनुज तन।' इसलिये 'यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत के अनुकूल' नहीं।

"राम, लक्ष्मण और सीता के बन में चलने के संबंध में जो श्री गोस्वामी जी की" उपमा है, उस पर चतुर्वेदी जी ने अपना संतोष प्रकट करते हुए लिखा है कि "उससे भी अद्वैतवाद की बड़े विलक्षण चमत्कार से पुष्टि की गई है"। आपने दो चौपाइयाँ दी हैं:—

"आगे राम लषन पुनि पाछे। तापस बेष बिराजत काछे।
उभय मध्य सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥"

इस पर मेरा निवेदन है कि क्या यह सिद्धांत विशिष्टाद्वैत की पुष्टि नहीं करता? गोस्वामी जी ने इस भाव को तीन उपमाओं से पूरा किया है। बाकी दो उपमाएँ यह हैं:—

बहुरि कहौं छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहौं जिश्र जाही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥
(पृ० २०५)

यह सच-मुच अद्वैतवाद की 'पुष्टि' के लिये 'विलक्षण चमत्कार है!

"इसी अभेद भाव को कुछ ही आगे चलकर श्री गोस्वामी जी ने इतना स्पष्ट किया है कि मानों वहाँ अद्वैतामृत की वर्षा से जिज्ञासु जन के मनोमयूर सहसा नाच उठते हैं।......वाल्मीकि मुनि......अपना कथन यों आरम्भ करते हैं:—

"श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
जो सहस सीसु अहीसु महि धरु लषनु सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज-तनु चले दलन खल-निसिचर-अनी॥
राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह॥
जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि-हरि-संभु नचावनहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। अउर तुम्हहि को जाननहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन॥
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत-बिकार जान अधिकारी॥
× × × × ×
पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहाँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥ इत्यादि"

पहले तो मैं इसमें आगे पीछे और बीच की चौपाइयाँ देकर इसे पूरा करता हूँ। 'श्रुति सेतुपालक राम तुम्ह' इत्यादि छंद के पहले वाल्मीकि मुनि "अपना कथन यों आरंभ करते हैं":—

कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू।
(पृ० २०६)

'चिदानंदमय देह तुम्हारी' इत्यादि के अनंतर यह चौपाइयाँ हैं:–

नरतनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।

दो०—पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥

सुनि मुनि-बचन प्रेमरस-साने। सकुचि राम मन-महुँ मुसुकाने।
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ-रस बोरी।
सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहाँ बसहु सिय-लषन-समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्रसमाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे।

× × × × ×

दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मनमंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(पृ० २०८)

इत्यादि इसी भाव की रचना है। यह सत्य है कि गोस्वामी जी में अभेद भाव था; पर उनका अभेद भाव भक्तिमार्ग की पराकाष्ठा का अभेद भाव था—वह अपने इष्ट श्री राम को सर्व-शक्तिमान्, सर्व-व्याप्त, सर्वगुणनिधान, अज, अप्रमेय, अव्यक्त ब्रह्म समझते थे; वह सारे जगत् को राममय जान कर केवल सत्य ही नहीं किंतु वंदनीय भी समझते थे। यहाँ भी गोस्वामी जी ने बिलकुल स्पष्ट कहा है 'तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा'। यह अद्वैत मत के विरुद्ध है। गोस्वामी जी की वाक्य-संगति का ध्यान रखने से, जितना अंश आपने ग्रहण किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है। इस पर जो चतुर्वेदी जी का लंबा लेख है, वह उनका निज का दार्शनिक विचार है न कि गोस्वामी जी का। इस संबंध के लेख के अंत में आप कहते हैं—"ज्ञान के साधनों में गोस्वामी जी भक्ति को सब से उत्कृष्ट अवश्य समझते हैं; किंतु भक्ति से ईश्वर की प्रसन्नता संपादित कर ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है, यह सिद्धांत उक्त चौपाई से

प्रस्फुटित हो गया है।' जिसको आप जनाते हैं, वही जानता है' यह भक्ति ज्ञान का साधन रहा। और 'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है' यह ज्ञान का फल बताया गया। ज्ञान के अनंतर किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धांत है। सो इस सिद्धांत का भी यहाँ गोस्वामी जी ने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपा से भक्त लोग आपको जान सकते हैं, आपका स्वरूप चिदानंदमय, विकार-रहित है। उस स्वरूप को उसके अधिकारी ही जानते हैं'— इत्यादि कहते हुए ज्ञान और उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ, सो इसका उत्तर देने में मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहने का स्थान बताता।' इत्यादि उक्ति-चातुरी से आगे भी भगवान् वाल्मीकि के वाक्यों में राम की व्यापकता का ही विस्तार बताया गया है। किंतु आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उनपर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" अब विचार कीजिए कि इस लेख में क्या तत्त्व है। वाल्मीकि मुनि के वाक्य की पहली ही चौपाई—

'कस न कहहु अस रघु-कुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥'

से सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी यहाँ सगुण ब्रह्म का ही निरूपण कर रहे हैं। मायारूपी जानकी के बारे में भी 'जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की' से यही जान पड़ता है कि सगुण ब्रह्म और उसकी माया, प्रकृति, शक्ति अथवा परमेश्वर की इच्छा जो सगुण ब्रह्म के इच्छानुसार काम करती है, उद्देश्य है। यह आगे की चौपाई:—

'जगु पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'

से भी स्पष्ट होता है।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'

से चतुर्वेदी जी मतलब निकालते हैं कि पहले पद से "भक्ति ज्ञान

का साधन रही"। यह अर्थ न शब्दों से निकलता है न वाक्य-संगति से। इसका सीधा अर्थ यह है कि आपका रूप तो 'बचन अगोचर बुद्धिपर अबिगत अकथ अपार' है। वेद भी हारकर नेति नेति कहता है। 'बिधि हरि संभु' भी 'न जानहिं मरमु तुम्हारा'। फिर भला और कौन जान सकता है। हाँ जिस पर आप स्वयं अनुग्रह करें, वही जान सकता है। दूसरे पद से आप मतलब लगाते हैं कि "ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है"। गोस्वामी जी ने यहाँ 'मुक्ति' का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने भक्ति मार्ग की पराकाष्ठा का प्रयोग किया है। यही अर्थ चतुर्वेदी जी भी स्वीकार करते हैं—'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है'। अपने इष्ट के तद्रूप हो जाना भक्तिमार्ग का अंतिम फल है। अद्वैत मार्ग में ब्रह्म सर्वथा अप्रमेय है। उसे कोई जान नहीं सकता, वह ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है। ज्ञान होने पर ज्ञानी यह जान लेता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थात् ज्ञानी ब्रह्म को नहीं जानता किंतु अपने को जान लेता है। इसके आगे चतुर्वेदी जी यह कहकर कि ज्ञान के अनंतर कुछ साधन नहीं है, चट सिद्ध कर लेते हैं कि गोस्वामी जी इस मत के अनुगामी हैं, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं देते। 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।' के आधार पर लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "ज्ञान व उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है" और आगे कहते हैं—"आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उन पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" आपका शायद उस 'ज्ञान' और 'अधिकारी' से मतलब है जिसका शांकरवाद में निरूपण है। परंतु गोस्वामी जी के विचार-निरूपण के लिये 'आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से' अवश्य संबंध है। उनमें उन्होंने अधिकारियों के लक्षण बताए हैं। इनसे और अद्वैत-कथित अधिकारियों से बहुत अंतर है; जैसेः—

सबु करि माँगहिं एकु फलु राम-चरन-रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ (पृ० २०८)

"अरण्य कांड में तत्वज्ञान का एक ख़ास प्रकरण है, जहाँ लक्ष्मण के प्रश्न पर स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने श्रीमुख से जीव, ईश्वर, माया आदि का स्वरूप समझाया है। कहने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण भी अक्षरशः शंकर सिद्धांत के अनुकूल है .....स्वच्छ दर्पण की तरह इसमें अद्वैतवाद के मुख्य तत्त्व स्फुट प्रकाशित हो रहे हैं। अब पाठक उस प्रश्नोत्तर की ओर सावधान होकर दृष्टिपात करें—

"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा। सब तजि करौं चरण-रज-सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥
ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

"प्रश्न के शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं। एकांत में बैठे प्रभु रामचंद्र से लक्ष्मण ने ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, जीव, ईश्वर और उनके भेद तथा उन सब का स्वरूप समझाने की प्रार्थना की है। अब भगवान् रामचंद्र का उत्तर सुनिए:—

"थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥
एक रचै जग गुन-बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि-गुन-त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ-प्रद सर्बपर, माया-प्रेरक सीव॥
धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ग्यान-मोच्छप्रद बेद बखाना॥

जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंबन न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला॥"

यहाँ पहले तो गोस्वामी जी ने भक्ति को केवल स्वतंत्र ही नहीं किंतु ज्ञान को भी भक्ति के अधीन बताया है। इसके आगे राम वाक्य यों पूरा होता है:—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
यहि कर फल पुनि बिषय-बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम-लीला-रति अति मन माहीं॥
संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गद्‌गद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम॥

(पृ० २६६)

यहाँ चतुर्वेदी जी का अच्छे पांडित्य का लेख है; परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह तत्त्व-निरूपण का वाद * नहीं किंतु अपने पूर्व-निश्चित संकल्प को सिद्ध करने का जल्प * है। गोस्वामी जी के आंतरिक भाव जानने के लिये उन्हीं का वाक्य

---

* शास्त्रार्थ या वादविवाद तीन प्रकार के होते हैं (क) वाद, (ख) जल्प और (ग) वितंडा।

(क) तत्त्व-निरूपण की बहस 'वाद' है।

(ख) तत्त्व-निरूपण की परवाह न कर केवल अपने पक्ष को सिद्ध करना 'जल्प' है।

(ग) और इसी तरह दूसरे के पक्ष का खंडन मात्र 'वितंडा' है।

प्रमाण माना जा सकता है। यहाँ इस संवाद के बाद गोस्वामी जी कहते हैं:—

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा॥

'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं' और इस चौपाई से गोस्वामी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि श्रीमद्भागवत में जो नौ प्रकार की भक्ति का निरूपण है, वही गोस्वामी जी को अभिप्रेत है और यहाँ उन्होंने भक्ति-योग कहा है। जब इनके अनुसार भक्ति मार्ग का अनुयायी, सीधा सीधा अर्थ लग सकता है, तब अत्युक्ति से, पूर्वोक्त संवाद का, अद्वैतमतानुयायी अर्थ लगाना केवल अप्रामाणिक ही नहीं किंतु अर्थ का अनर्थ भी है।

"यों रामचरितमानस के अनेक स्थलों की विस्तृत व्याख्या करके" लेखक महाशय अपने अभीष्ट अर्थ लगाकर गोस्वामी जी का "शांकर सिद्धांतानुयायी होना" स्पष्ट करते हैं और आगे कहते हैं— "अन्यान्य भी ऐसे प्रकरण रामायण में बहुत हैं" ... ..."और यह सब शांकर सिद्धांत के अनुकूल ही हैं। किंतु अब यह लेख बहुत विस्तृत हो गया, अतः अधिक कहना हम अनुपयुक्त समझते हैं।" उत्तर कांड में "उनकी विशेष व्याख्या न की जायगी। पाठक सज्जन ही विचार कर देख लें कि ये सब शांकर सिद्धांत का किस प्रकार अनुसरण कर रही हैं।" यहाँ वेदों की स्तुति 'जो जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी' इत्यादि पर आप की ऐसी उक्तियाँ हैं जिन पर विशेष कहना अनावश्यक है; क्योंकि जिन्होंने गोस्वामी जी के वाक्यों पर यहाँ तक विचार किया है, वे इन्हें भी समझ लेंगे।

"आगे श्री रामचन्द्र अपने भ्राताओं को उपदेश देते हैं—

"अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुर-नर-मुनिनायक॥
सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

"यहाँ वेदांताभिमत सर्व कर्म त्याग, गुण और दोषों की मायिकता व परमार्थ दृष्टि में दोनों का अदर्शन बताया गया है"। यहाँ गोस्वामी जी ने 'सर्व कर्म त्याग' नहीं कहा है। शुभदायक अर्थात् काम्य कर्म और अशुभदायक अर्थात निषिद्ध कर्म कहने ही से साफ़ मालूम होता है कि इसमें निष्काम कर्म अथवा नित्य कर्म शामिल नहीं हैं। यह उपदेश अवश्य है, पर संतों और असंतों का लक्षण मात्र है। इस के पूर्व ही श्री रामचंद्र जी कहते हैं :—

नर सरीर धरि जे परपीरा। करहिं ते सहहिं महा भव-भीरा॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फलदाता॥
(पृ० ४५८)

इसके और पूर्व :—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(पृ० ४५८)

इसके और भी पूर्व असंतों के लक्षण हैं; जैसे :—

स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह-बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥
(पृ० ४५८)

इस सब पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह तो गुण और दोषों का दर्शन है, न कि अदर्शन।

"आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभित विस्तृत निरूपण है। उसमें से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

व्यापक व्याप अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता॥

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यान रूप बलधामा॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपनु होइ न सोइ॥

"आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है। ऐसे स्थलों की व्याख्या बहुधा हो चुकी है। इस प्रकरण में यह विशेषता है कि यहाँ भगवान् रामचंद्र के प्राकृत चरित्रों का समाधान इसी रूप में किया गया है कि अज्ञानियों को भगवान् राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं। इससे बढ़कर मायिकता का सिद्धांत क्या कहा जा सकता है।" बड़े परिताप का विषय है कि इस स्थल पर चतुर्वेदी जी ने काट छाँट ही नहीं की, बल्कि मूल का क्रम भी बदल दिया है। 'ब्यापि रहेउ संसार महुँ' इत्यादि दोहों के बाद की चौपाइयों में दो ऊपर की और दो नीचे की छोड़ गए हैं। 'ब्यापक ब्याप अखंड अनंता' और 'सोइ सच्चिदानंदघन रामा' का क्रम बदल दिया है। 'जथा अनेक बेष धरि' इत्यादि दोहे के आगे की चौपाइयाँ—जिनसे इस दोहे से अत्यंत घनिष्ट संबंध है—केवल छोड़े ही नहीं गए हैं, प्रत्युत् अपनी माया का पूर्ण विकास करने के लिये प्रारंभ में यह कहकर कि "आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभिमत विस्तृत निरूपण है" इस दोहे के अनंतर कहते हैं कि "आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है" जिसमें पाठकों को यही विश्वास हो कि इसके आगे भी गोस्वामी जी के विचार इससे मिलते जुलते हैं, कम से कम इसके विपरीत नहीं हैं। वास्तव में गोस्वामी जी अद्वैत कथित 'मायिकता' के विरोधी थे; और रामचरितमानस में जहाँ जहाँ उन्होंने ऐसे मत का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ उनका यही प्रयोजन

था कि इस मत का खंडन करें। जिस 'कुछ अंश' को आपने प्रमाण माना है, उसका सच्चा रूप यह है:—

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम-कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यानरूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥

असि रघु-पति-लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जन-सुख-कारी॥
जे मतिमलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
नयनदोष जा कहँ जब होई। पीतबरन ससि कहँ कह सोई॥
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी॥
हरि बिषयक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान-प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

काम-क्रोध-मद-लोभ-रत गृहासक्त दुखरूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं मूढ़ परे तमकूप ॥
निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन न जानहिं कोइ ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ ॥

(पृ० ४७१–७२)

गोस्वामी जी के वाक्य बहुत स्पष्ट हैं। वह पहले ही यह प्रण करके कहते हैं कि जो प्रचंड माया-कटक संसार को व्याप रहा है, वह यदि मिथ्या समझो तब भी रामकृपा के बिना छूट नहीं सकता; और यह सब समाज सहित नटी का सा माया का नाच प्रभु के 'भ्रूबिलास' के कारण है। यह कहना आवश्यक नहीं कि यह माया का भाव न 'वेदांताभिमत' है न शांकर मत का मायावाद। इसके अनंतर गोस्वामी जी श्री रामचंद्र के गुणों का कुछ वर्णन करके कहते हैं कि 'इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।' वह तो भक्तों के हेतु प्राकृत-नर-अनुरूप चरित्र करते हैं; परंतु उनके चरित्र कैसे हैं? मिथ्या! कदापि नहीं—वे "परम पावन" हैं। यदि कोई कहे कि 'अज्ञानियों को भगवान राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं, यदि कोई समझे कि—

'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ ॥'

तब गोस्वामी जी के मत में 'जे मतिमलिन विषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी' वह उन नयन-रोगियों के समान हैं जो चंद्रमा को पीले रंग का बताते हैं, या उनके समान हैं जिनको ऐसा दिशा-भ्रम हो जाय कि वह कहने लगें कि सूर्य पश्चिम में उदय होता है, या उन मोह-ग्रस्त लोगों के समान हैं जो नाव में चलने से जगत को तो चलता हुआ समझें, पर अपने को अचल मानें, या उन अज्ञानी बालकों के समान हैं जो अपने घूमने से यह समझते हैं कि गृह आदि घूम रहे हैं। 'मिथ्यावादी' परमेश्वर के

संबंध में जो ऐसा कहते हैं, वह सपने में भी सत्य नहीं है; केवल उन मिथ्यावादियों के अज्ञान का प्रसंग है; वे मिथ्यावादी 'माया के वशीभूत,' 'मतिमंद,' 'अभागी,' 'सठ,' 'हठबस' हृदय पर बहुत तरह के परदे लगे होने के कारण संशय करते हैं और 'निज अज्ञान' को राम पर धरते हैं। प्रभु पर ऐसा मोह धरनेवाले, ऐसे मिथ्या-वादी रघुपति को कैसे जान सकते हैं; क्योंकि वे तो दुःखरूपी 'काम' 'क्रोध' इत्यादि में आसक्त हैं और वे मूढ़ अंधकार कूप में पड़े हैं। यह मायिकता के सिद्धांत का प्रबल विरोध है।

ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सबके रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन-खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥
(पृ० ४७३–७४)

"ऐसे स्पष्ट शब्दों में अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिपादन के शतशः स्थल हैं।" खेद है कि इस पर और इसी तरह और भी कई जगह लेखक महाशय ने व्याख्या नहीं की है; क्योंकि 'स्पष्ट' छोड़ इन चौपाइयों में छिपा हुआ भी अद्वैतवाद नहीं दिखाई देता। यह वाक्य तो कुछ द्वैतवाद की पुष्टि करता है।

"आगे लोमश ऋषि जहाँ काकभुशुंड जी को ज्ञान का उपदेश देने लगे हैं, वहाँ का सब प्रकरण अद्वैत का अक्षर अक्षर अनुगामी है—

"काकभुशुंड जी गरुड़ जी से कहते हैं कि—

"ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुण हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

× × × ×

"अब इस प्रकरण पर कोई टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। वेदांत शास्त्र में जिनका कुछ भी प्रवेश है, वे स्पष्ट समझ सकते हैं कि यह प्रकरण अक्षरशः शांकर-सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। दूसरी बात-यह है कि भुशुंडी जी भक्तिमार्ग के अधिकारी थे, वे सगुण-भक्ति में रुचि रखते थे, अतः उनको अपने अधिकारानुसार न होने से यह ईशोपदेश रुचिकर न हुआ और उन्होंने ऋषि से वाद-विवाद कर शाप पाया। जैसा कि हम पूर्व के प्रसंगों में दिखा चुके हैं, गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी यही सिद्धांत माना है कि तात्त्विक तो निर्गुणाद्वैत है, किंतु भक्तों का मनोविश्राम सगुण, साकार मूर्तियों में होता है। यह मत शांकर सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं। भगवान् श्री शंकराचार्य भी उपासना का संबंध सगुण ब्रह्म से मानते हैं। जो अपने को ज्ञान के अयोग्य समझकर उपासना के अधिकारी समझें, वे खुशी से सगुण ब्रह्म की उपासना करें। यही गोस्वामी जी ने भी अपने लिये चुना। किंतु तत्त्वनिरूपण में ये भगवान् शंकराचार्य के समान उपनिषत्प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत के ही अनुयायी रहे।"

इस लेख से यह प्रतीत होता है कि चतुर्वेदी जी शांकर अद्वैत-वाद के माया और मिथ्यावाद के अद्वितीय सेवक हैं। अद्वैतवाद का यह सारभूत सिद्धांत है कि जो कुछ देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, जिसका मन से अनुमान किया जा सकता है, वह सब मिथ्या है। इस सिद्धांत को सिद्ध करने के लिये आपने अपने लेख ही को प्रमाण बना दिया है। इससे बढ़कर कोई क्या सेवा कर सकता था? पूर्वोक्त "ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी" इत्यादि चौपाइयों से आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण अक्षरशः शांकर सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। इसे मिथ्यावाद का प्रमाण बनाने के लिये गोस्वामी जी ने इस 'शांकर सिद्धांत के अनुवाद मात्र' कहते ही लिखा है—"बिबिध भाँति मुनि मोहिं समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा"।

लेखक महाशय के अनुसार जो 'ज्ञान के अयोग्य' हैं, वे सगुण ब्रह्म के उपासक होते हैं; और उनके कथन से मतलब यह निकलता है कि गोस्वामी जी भी इन्हीं अयोग्यों की श्रेणी में थे, परंतु उनमें ज्ञान का इतना आभास आ गया था कि वह शांकर सिद्धांत के अनुयायी थे। आपके अनुसार अद्वैत मार्ग ही सब मार्गों में बड़ा है। यदि गोस्वामी जी ने कहीं और किसी मार्ग का उल्लेख किया है तो यह समझना चाहिए कि 'ज्ञान के अधिकारी' न होने के कारण उन्हें यह कष्ट झेलना पड़ा है। हम जैसा पहले लिख आए हैं, चतुर्वेदी जी के विचारों से हमें कोई प्रयोजन नहीं; देखना यह है कि गोस्वामी जी के क्या विचार हैं। स्वयं चतुर्वेदी जी के मत में भी "उत्तरकांड का उत्तर भाग तत्त्वज्ञान का एक और बहुत बड़ा खज़ाना है।" उस पर ध्यान देने से गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जायँगे।

उत्तर कांड के उत्तर भाग में काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद की कथा है। जब युद्ध में इंद्रजीत ने नागास्त्र का प्रयोग किया, तब श्रीरामचंद्र ने उसका निषेध करना उचित न समझा। उस समय नारद मुनि ने गरुड़ जी को इस काम के लिये भेजा। इसके पश्चात् गरुड़ जी को बुद्धि-भ्रम हुआ कि यदि श्रीराम परमेश्वर के अवतार हैं, तो वह इस काम में स्वयं क्यों असमर्थ रहे। इस शंका-समाधान के लिये गरुड़ जी नारद मुनि और ब्रह्मा के पास होते हुए महादेव जी के पास पहुँचे। महादेव जी के उपदेश से वह भुशुंडि जी के पास गए और उनसे रामचरित और अन्य उपदेश सुनने और उस आश्रम की महिमा से उनका सब भ्रम नष्ट हो गया। महादेव जी भुशुंडि जी के आश्रम को बताते हैं:—

तेहि गिरि रुचिर बसै खग सोई। तासु नास कल्पांत न होई॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं आहीं॥

(पृ० ४६४)

यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि भुशुंडि-आश्रम के पास माया का आवरण नहीं रहता। अद्वैत मत के अनुसार जहाँ माया का आवरण नहीं है, वहाँ निर्गुण शुद्ध ब्रह्म साक्षात् है। परंतु गोस्वामी जी ने यही दृश्य दिखलाया है कि माया का आवरण न होने पर भी यह आश्रम, और सृष्टि की तरह इंद्रियगोचर है। यह अद्वैत के विरुद्ध है। महादेव जी ने गरुड़ को उपदेश दिया—

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(पृ० ४६६)

अर्थात् मोह हट जाने पर—मोह हट जाना ज्ञान की अवस्था है—राम-चरण में दृढ़ भक्ति होती है। गोस्वामी जी का यही मत था कि ज्ञान भक्ति का हेतु है। आगे यह मत और स्पष्ट हुआ है। गरुड़ जी को रामचरित्र सुनाते समय सीता-हरण के प्रसंग में भुशुंडी जी ने कहा है—

पुनि माया-सीता कर हरना। श्री रघुबीर-बिरह कछु बरना॥

(पृ० ४६८)

यहाँ गोस्वामी जी ने एक 'माया-सीता' शब्द का प्रयोग करके इस कथा की याद दिलाई है—

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौं लगि करौं निसाचर-नासा॥
जबहिं रामु सबु कहा बखानी। प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥
लछिमनहू यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥

(पृ० ३०६)

और रावण-बध पर जब माया की सीता ने अग्नि में प्रवेश किया—

तब अनल भूसुररूप कर गहि सत्य सिय श्रुतिबिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो॥

(पृ० ४२७)

यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में सीता सत्य हैं, केवल वह सीता जिसे रावण हर ले गया था, माया की थीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी मायावाद और मिथ्यावाद के अनुगामी नहीं थे। राम-कथा कहने के उपरांत गरुड़ जी के विनय और अनुराग के वचन सुन भुशुंडि जी प्रसन्न हो और 'परम रहस्य' सुनाने लगे और स्वयं मोहित होना विस्तार से कहा। इसी प्रसंग में 'व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड' इत्यादि जिसका कुछ पहले उल्लेख हो चुका है, कह कर भुशुंडि जी वर्णन करते हैं कि जब जब कल्प कल्पांतर में श्रीराम का अवतार होता है, तब तब वह अयोध्या जा परमेश्वर की बाल-क्रीड़ा का आनंद भोगते हैं। एक बार भुशुंडि जी को

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयेउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह॥

(पृ० ४७३)

मोह होने का कारण यह था—

ग्यान अखंड एक सीताबर। मायाबस्य जीव सचराचर॥
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥

(पृ० ४७३)

शांकरवाद तो दूर रहा, यह वाक्य तो द्वैतवाद को सिद्ध करता है कि ईश्वर और जीव में भेद है और ज्ञान हो जाने पर भी यह भेद बना ही रहता है; क्योंकि परब्रह्म के समान जीव को 'एकरस' ज्ञान नहीं होता।

अद्वैत मार्ग में ज्ञान हो जाना सिद्धि की पराकाष्ठा है, परंतु गोस्वामी जी के मत में:—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिखान॥

(पृ० ४७४)

गोस्वामी जी कहीं यह झलक भी नहीं देते कि भक्ति-मार्ग केवल

ज्ञान उपार्जन का हेतु है, परंतु उसमें स्वतंत्र कोई सिद्धि नहीं है। इसके विरुद्ध उनके मत में भक्ति-मार्ग बिलकुल स्वतंत्र है। इतना ही नहीं, प्रत्युत् ज्ञान-विज्ञान भक्ति उपार्जन के हेतु हैं, भक्ति के अधीन हैं। आरण्य कांड में लक्ष्मण जी को उपदेश करते हुए श्री राम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान-मोच्छ-प्रद बेद बखाना॥
जा तें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
(पृ० २६६)

इसमें यह शंका हो सकती है कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' से गोस्वामी जी का क्या अभिप्राय था। यह आगे उन्हीं के वाक्यों से साफ़ हो जायगा। लंका कांड में रावण-वध के उपरांत सब देवता इत्यादि राम-दर्शन के लिये उपस्थित हुए। उसी समय दशरथ जी भी आए। वहाँ भी गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि भक्ति मार्ग सब से उत्कृष्ट है:—

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
तातें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेदभगति मन लावा॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ रामु भगति निज देहीं॥
(पृ० ४२६)

पुर-वासियों को उपदेश करते हुए श्री राम कहते हैं:—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
(पृ० ४६०)

अर्थात् परमार्थ दृष्टि से ज्ञान सहित जितने साधन हैं, वे यदि 'भगतिहीन' हैं तो व्यर्थ ही हैं; भक्ति मार्ग ही श्रेयस्कर है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ श्री राम से कहते हैं;—

तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(पृ० ४६१)

× × × ×

सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित।
दच्छ सकल-लच्छन-जुत सोई। जा कें पद-सरोज-रति होई॥
(पृ० ४६१)

अर्थात् सब साधनों का हेतु भक्ति है। जिसे भक्ति है, उसे सब कुछ प्राप्त है। विज्ञानी से गोस्वामी जी को अद्वैत-कथित मुक्त ज्ञानी, जिसे 'सोऽहमस्मि' का अनुभव हो चुका हो, अभिप्रेत है। गोस्वामी जी के मत से ऐसे विज्ञानी का भी दर्जा भक्त के नीचे है। कुछ आगे श्री पार्वती जी के श्रीमुख का यह वाक्य है:—

नरसहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-ब्रत-धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय-बिमुख बिरागरत होई॥
कोटि-बिरक्त-मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
(पृ० ४६३)

अर्थात् हजारों आदमियों में कोई एक 'धर्म-ब्रत-धारी' होता है। ऐसे करोड़ों 'धर्मसील' में कोई एक 'विरक्त,' करोड़ों विरक्तों में कोई एक ज्ञानी और करोड़ों 'ज्ञानवंत' में कोई एक 'जीवनमुक्त' होता है। ऐसे हज़ारों जीवनमुक्तों में कोई एक 'दुर्लभ ब्रह्म-लीन' पद पाकर 'विज्ञानी' होता है। यहाँ तक अद्वैत कथित ज्ञान विज्ञान की श्रेष्ठता हुई। गोस्वामी जी के मत में यह सब भक्त के नीचे हैं। भगवती का बहुत स्पष्ट और दृढ़ वाक्य है:—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥
(पृ० ४६३)

केवल रामचरितमानस ही नहीं किंतु तुलसीकृत सभी ग्रंथों से यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब काल में, सब मार्गों में, सब के लिये भक्ति मार्ग को उत्कृष्ट और सर्वोत्तम मानते थे।

आगे भुशुंडि जी यों कहते हैं कि श्रीराम ने इन्हें अपना सर्वव्याप्त

और विश्वरूप का दर्शन दिया जिससे भुशुंडि जी ने 'विकल', 'श्रमित' और 'प्रेमाकुल' होकर 'देहदसा बिसराई' और—

सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हेउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥
(पृ० ४७६)

श्रीरामचंद्र जी ने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर माँगो। तब भुशुंडि जी ने यह निश्चय करके कि—

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे॥
(पृ० ४७६)

'अबिरल भगति' का वर माँगा। यह वर देकर श्रीरामचंद्र जी ने इन्हें और भी उपदेश किया। इस संबंध में गोस्वामी जी के वाक्य बहुत ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि यहाँ उन्होंने 'निज सिद्धांत' कहा है—

निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
(पृ० ४७७)

× × × ×

सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥
(पृ० ४७८)

प्रभु के वचनामृत सुनने से और उनकी बाललीला देखने से काकभुशुंड जी को ऐसा सुख हुआ—

सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ।
तेहि नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥
(पृ० ४७८)

यहाँ गोस्वामी जी ने बहुत स्पष्ट वाक्यों में कहा है कि उनके 'निज सिद्धांत' में सब मतों को छोड़कर सगुण रामचंद्र की अनन्य भक्ति अंतिम और परम पुरुषार्थ है और उनकी बाल-लीला देखने का वह सुख है जिसकी अपेक्षा ब्रह्मसुख—अद्वैतवाद का अंतिम सुख—तुच्छ है। इन सब में कहीं इसकी झलक भी नहीं है कि गोस्वामी जी ने अपने को अनधिकारी समझकर ज्ञान मार्ग छोड़ भक्ति मार्ग का ग्रहण किया था; बल्कि उन्होंने स्पष्ट रीति से दिख-

लाया है कि वह भक्ति मार्ग को सब मार्गों से उत्तम और श्रेयस्कर मानते थे; इसलिये हम लोगों के लिये भी यही अभिप्राय निकालना ठीक है कि उन्होंने भक्ति मार्ग का ग्रहण इसी कारण किया था। गोस्वामी जी ने इसी बात को आगे भी विस्तार से प्रस्फुटित किया है। जब गरुड़ जी ने भुशुंडि जी से प्रश्न किया कि आपको काल क्यों नहीं व्यापता और आपके आश्रम में आने ही से मेरा मोह क्यों भाग गया, तब उनको उत्तर देने के प्रसंग में भुशुंडि जी ने कहा है—

जप तप व्रत मख सम दम नाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना ॥
सब कर फल रघु-पति-पद प्रेमा। तेहि बिनु काउ न पावै षेमा ॥
(पृ० ४८१)

× × × ×

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन-क्रम-बचन रामपद नेहा ॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥

इसी प्रसंग में कलि-काल के वर्णन में गोस्वामी जी ने लिखा है:-

परतिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुग कर ॥
आप गए अरु औरनि घालहिं। जो कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं ॥
(पृ० ४८४)

यह भी नहीं है कि कलि-काल होने से, कालतः, लोक को अद्वैत मार्ग का अनधिकारी समझकर, लोकसंग्रह की बुद्धि से गोस्वामी जी ने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया हो; क्योंकि कलियुग ही के प्रसंग में वह कुछ आगे कहते हैं—

श्रुतिसंमत हरि-भक्त-पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोह-बस कल्पहिं पंथ अनेक ॥
(पृ० ४८४)

अर्थात् यह कलिकाल के मोह का प्रभाव है कि वेद अभिमत, विरक्ति और विवेकयुक्त, भक्तिमार्ग का तिरस्कार कर और और मार्गों के अनुगामी बन लोग कल्पना करते हैं; जिन्हें कलि-मोह नहीं

व्यापता, वह ऐसे भक्ति मार्ग ही पर चलते हैं। इतना ही नहीं किंतु जिस तरह नट के सेवक को उसकी नटबाज़ी की माया नहीं व्यापती, उसी तरह ईश्वर के भक्त को परमेश्वर-रचित कलियुग का धर्म नहीं व्यापताः—

कालधर्म नहिं व्यापहिं तेही। रघुपति-चरन-प्रीति-रति जेही॥
नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहिं न व्यापै माया॥
(पृ० ४८६)

गरुड़ से अपनी जीवनी कहने में भुशुंडि जी ने कहा है कि उनके अनेक योनियों में अनेक जन्म हुए, परंतु उनका ज्ञान बना रहा। जब अंत में उन्होंने ब्राह्मण के घर में जन्म पाया, तब अपने माता पिता की मृत्यु के उपरांत वह बन में जाकर ईश्वर भजन करने लगे; और इस पर्यटन में जहाँ जहाँ मुनियों से समागम होता था, उनसे राम-कथा पूछते थे और उसे सुनकर हर्षित होते थे; परंतु यदि कोई इन्हें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान बताता था तो :—

निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई॥
(पृ० ४९०)

यों ही घूमते घूमते यह वृद्ध लोमश ऋषि के आश्रम पर पहुँचे और उनसे भी सगुण उपासना का प्रश्न किया। गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार-निरूपण के लिये यह कथा बहुत महत्त्व की है क्योंकि यहाँ केवल शब्दों ही से नहीं वरन् भाव से भी गोस्वामी जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। भुशुंडि जी स्वयं ज्ञानी थे। लोमश मुनि ज्ञानमय थे। मुनि-देव ने इन्हें 'परम अधिकारी' जान कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ऐसे उपदेशक मिलने पर भी और उनके 'बिबिध भाँति' से समझाने पर भी भुशुंडि जी यही कहते हैं कि 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा'। इस पर इन दोनों में परस्पर खूब शास्त्रार्थ हुआ :—

मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुनमत निर्गुन रूपा॥
तब मैं निर्गुन मति करि दूरी। सगुन निरूपेउँ करि हठ भूरी॥
(पृ० ४९१)

इस वाद्विवाद से निर्गुण मत के उपदेशक को क्रोध हो आया। 'बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान'; परंतु सगुणमतानुयायी श्रोता को इस पाप-मूलक क्रोध ने नहीं ग्रसा; उसकी विवेक बुद्धि बनी ही रही :—

मैं अपने मन बैठि तब करौं बिबिध अनुमान।
द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान॥
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

(पृ० ५९१)

होते होते ब्रह्मज्ञानी इतने सकोप हुए कि उन्होंने सगुण मतवाले श्रोता को शाप दिया कि तू काक हो जा। परंतु शाप पाने पर भी सगुण भक्त को माया का आभास तक नहीं हुआ, निमेष मात्र के लिये भी मर्यादा उल्लंघन करने की बुद्धि नहीं हुई :—

लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥
दो०—तुरत भयेउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम-रघुबंस-मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥

(पृ० ५९२)

ऐसे कुसमय पर भी भक्ति के प्रभाव से अखंडित ज्ञान बना रहा:—

उमा जे राम-चरन-रत बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(पृ० ५९२)

परंतु इसमें वास्तव में लोमश मुनि का दोष नहीं था, क्योंकि जब वह माया-ग्रस्त थे, उस समय की उनकी यह बुद्धि थी कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान सगुण भक्ति से श्रेष्ठ है :—

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूसन। उर-प्रेरक रघु-बंस-बिभूषन॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम-परीछा मोरी॥

(पृ० ५९२)

और जब उन पर से वह मायाच्छादन हट गया, जब—

मम बच क्रम मोहिं निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥
तब—ज्ञान आ जाने पर—

रिषि मम सहनसीलता देखी। राम-चरन-बिस्वास बिसेखी॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा। हरषित राम-मंत्र मोहि दीन्हा॥
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। जो प्रथमहिं मैं तुम्हहिं सुनावा॥
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। राम-चरित-मानस सब भाखा॥
(पृ० ४६२)

यह खूब ध्यान में रखने की बात है कि गोस्वामी जी यहाँ "राम-चरित-मानस" का प्रयोग करके यही सिद्धांत सिद्ध कर देते हैं कि यही उनके तात्त्विक विचार हैं। इसके आगे इस मार्ग की उत्कृष्टता, परंपरा और प्रभाव यों कहते हैं :—

सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥
रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु-प्रसाद तात मैं पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। तातें मैं सब कहेउँ बखानी॥
राम-भगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं॥
मुनि मोहि बिबिध भाँति समुझावा। मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥
निज-कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा॥
राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसहु सदा प्रसाद अब मोरे॥
दो०—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह सुभ-गुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान-बिराग-निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥
काल कर्म गुनदोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥
एवमस्तु तव बच मुनि ग्यानी। यह मम भगत करम मन बानी॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयेऊ। प्रेम मगन सब संसय गयेऊ॥
करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥
हरष सहित एहि आश्रम आयेउँ। प्रभुप्रसाद दुर्लभ बर पायेउँ॥

× × ×

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महा-रिषि साप।
मुनिदुर्लभ बर पायेउँ देखहु भजनप्रताप॥

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञानहेतु स्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

(पृ० ४६३–६४)

यहाँ गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि ज्ञानी होने पर भी जब 'भोरी मति' हो जाती है, तब वह विमोहित ज्ञानी स्वयं योगेश्वर महादेव के उपदेश को भूल निर्गुण मत का कट्टर पक्षपाती हो जाता है और पक्षपात के वशीभूत हो सत्यमार्ग-वादी संतों के प्रति भी अनर्थ व्यवहार करता है। परंतु ज्ञान निर्मल हो जाने पर अपने निर्गुण मत के आग्रह और उस आग्रह-जनित अनुचित कर्मों को याद कर अति विस्मित होता है और बारंबार पछताता है। निर्मल ज्ञान होने ही पर सगुण ब्रह्म के भक्ति-मार्ग की सत्यता और उत्तमता में विश्वास करके दूसरों को भी उसी मार्ग का उपदेश करता है। सच्ची अनन्य भक्ति हो जाने पर केवल उस भक्त ही को नहीं वरन् उस भक्त के सत्संगियों को भी अविद्या नहीं व्यापती। स्वयं भक्त का तो कहना ही क्या है! उसे न काल व्यापता है, न कर्म के दोष या गुण, न स्वभाव (अर्थात पूर्व संचित कर्म-संस्कार), और न दुःख ही। उसे बिना प्रयास परमेश्वर के गुप्त, प्रकट और ललित रहस्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह मन में भी

जिस बात की इच्छा करता है, वह उसे परमेश्वर के प्रसाद से सहज ही प्राप्त होती है। भक्ति का यह प्रताप है कि महर्षियों के शाप का भी परिणाम दुर्लभ श्रेय होता है। इसके विपरीत जो जान बूझकर भक्ति मार्ग को त्याग केवल ज्ञान को हेतु बना परिश्रम करते हैं, वे उन जड़ों के समान हैं जो कामधेनु सुलभ होते हुए भी दूध पाने की इच्छा से जंगल जंगल मदार का पेड़ फिरते हैं; अथवा उन शठों के समान हैं जो नौका बिना ही महासमुद्र को तैरकर पार करने की इच्छा करते हैं।

इसके आगे गरुड़ जी के प्रश्न पर किः—

कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना ॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं ॥
ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता। सकल कहौ प्रभु कृपानिकेता ॥
(पृ० ४६४)

भुशुंडि जी पहले तो यह कहते हैं कि भक्ति और माया दोनों स्त्री हैं जिनमें भक्ति तो ईश्वर की प्रिया और माया नर्त्तकी की नाईं है। इससे रूपी प्रिया भक्ति के सामने माया संकोचवश अपनी प्रभुता का विकास नहीं कर सकती। इसके आगे ज्ञान मार्ग का विस्तृत निरूपण करने में जो प्रस्तावना है, उसमें शांकर अद्वैत तो बहुत दूर रहा, द्वैतवाद की झलक आती है। वह, यानी ज्ञान मार्ग, ऐसी 'अकथ कहानी' है जो 'समुझत बनै न जाइ बखानी'।

ईश्वर अंश जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
(पृ० ४६५)

होने पर भी जैसे बहेलिया बुद्धिहीन नीच योनिवाले पशु-पक्षियों को फाँसता है, उसी तरह ज्ञान रूप ब्रह्म के जीव रूप अंश मनुष्य कोः—

सो माया बस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं ॥
(पृ० ४६५)

और इस जड़ माया और चैतन्य ब्रह्म अंश जीव के संबंध मात्र

से 'जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।' यदि माया भी, ब्रह्म की तरह, सत्य हो तब भी समझ में आ सकता है कि बराबरी की गुत्थी है; इससे इसका सुलझाना कठिन है। परंतु शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यद्यपि सब संसार, सब रूप, सब गुण, सब मायाकृत खेल, मिथ्या हैं, वास्तव में यह सब कुछ हैं ही नहीं, इनका होना भ्रम मात्र है,

'जदपि मृषा छूटत कठिनाई।'

तब तें जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

और जीव के हृदय में मोह रूपी अंधकार के आधिक्य से यह नहीं देख पड़ता कि यह ग्रंथि कैसे छूटेगी। जब बहुत प्रयत्न करके सात्विक श्रद्धा-रूपी गौ जप, तप, व्रत इत्यादि 'अपार' नियम रूपी घास खाकर तैयार हो, भावरूपी बछड़ा उसे पिन्हावे, निवृत्ति रूपी रस्सी से उसके पैर बाँधे जायँ और विश्वास रूपी पात्र एकत्र हो जायँ; तब भी उसके दुहने के लिये मन रूपी एक ऐसा अहीर होना चाहिए जो निर्मल हो और अपने अधीन हो। इतनी कठिनाई झेलने पर भी जब इस 'परम धर्म' रूपी दूध को अकाम रूपी अग्नि पर औटावे और उसे संतोष और क्षमा रूपी हवा से ठंढा करके धैर्य्य-रूपी जामन देकर दही जमावे और ऐसे ही ऐसे कठिन प्रयत्नों की सब सामग्री जमा करके मक्खन निकाले, वैसे ही कठिनाइयों से घृत बनावे और वैसे ही कठिनाइयों को झेलता हुआ दीया, दीयट, बत्ती ठीक करके सोऽहमस्मि रूपी 'दीप-शिखा' प्रज्वलित करे, तब ज्ञान मार्ग द्वारा:—

'मोह आदि तम मिटै अपारा॥'

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥

(पृ० ४६६)

इतना सब हो जाने पर भी विघ्नों का अंत नहीं होता। तब माया रिद्धि-सिद्धि को उस ज्ञानदीप के समीप भेज 'अंचल बात बुझावहि दीपा'। यदि वह इससे भी बच गया, तो सब इंद्रियों के

अधिष्ठाता देवता इंद्रिय द्वारों के किवाड़ खोल देते हैं जिससे 'बिषय बयारी...उरगृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई।'

ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥

दो०—तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।

हरिमाया अतिदुस्तर तरि न जाइ बिहँगेस॥

(पृ० ४९६)

इस तरह ज्ञानमार्ग हर तरह से कठिन है। परंतु—

रामभजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥

× × × ×

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

भजहु राम-पद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

× × × ×

रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर-अंतर॥

परमप्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥

अचल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल-सलभ-समुदाई॥

(पृ० ४९७)

× × × ×

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥

भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगतिमनि सब सुखखानी॥

× × × ×

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहि।

कथा सुधा मथि काढ़े भगति मधुरता जाहि॥

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।

जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥

(पृ० ४९८)

यहाँ गोस्वामी जी के मत में यदि ज्ञान दीपक के समान है तो उससे बहुत बढ़ी चढ़ी भक्ति 'सुंदर' 'परम प्रकास' 'चिंतामणि' के समान है। इसके कुछ आगे गोस्वामी जी फिर भी

बिमल ग्यानजल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥
(पृ० ५००)

कहकर अपना सिद्धांत पुष्ट करते हैं कि भक्ति ज्ञान का हेतु नहीं है किंतु ज्ञान ही भक्ति का हेतु है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है तब उसके हृदय में भक्ति अचल होती है। कथा का अध्याहार करते हुए भुशुंडि जी कहते हैं:—

महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥
सिव-अज-पूज्य-चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥
अस सुभाव कहुँ सुनौं न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥
साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्मनिरत पंडित बिग्यानी॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥
सरन गए मो से अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥

जासु नाम भवभेषज हरन ताप-त्रय-सूल।
सो कृपालु मोहि तोहि पर सदा रहहु अनुकूल॥
(पृ० ५०१)

इतना कहने पर भी मानो गोस्वामी जी को तृप्ति न हुई। फिर भी महादेव जी की कथा के उपसंहार में महादेव जी के श्रीमुख से यह कहलाते हैं:—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूतदया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी॥
(पृ० ५०२)

इतने से भी विदित हो जाता है कि "श्री गोस्वामीजी श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद के ही अनुगामी हैं" कहना वास्तव में सत्य नहीं है। गोस्वामी जी के लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि वह शांकर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अद्वैत के भेदों और द्वैत मतों से पूरा परिचय रखते थे। परंतु मेरे ऐसे छोटी बुद्धिवाले के लिये यह सिद्ध

करने का साहस करना बहुत कठिन है कि गोस्वामी जी किस मत के अनुयायी थे। कदाचित् इतना कहने में कुछ अनुचित भी न होगा कि गोस्वामी जी ने किसी एक मत के अनुयायी हो अपने ज्ञान और कर्म को संकीर्ण करना उचित नहीं समझा था। उनके मत में परमेश्वर अनंत और उसकी कथा भी अनंत है। उनके मत में स्वयं भगवान् महादेव भी परमेश्वर की सब कथा जानने और कहने में असमर्थ हैं, फिर वह मनुष्यों को क्यों समर्थ मानने लगे थे। उनके मत में परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणनिधान और निर्गुण भी है, अनिर्देश्य और आदेश्य, अव्यक्त और व्यक्त, सर्वव्याप्त और एकदेशीय, अचिंत्य और चिंत्य सभी कुछ है; उसके गुण, प्रभाव, कृपा इत्यादि सब अलौकिक हैं। उनके मत में उसकी माया जानने में वेद और देवता भी अशक्त हैं, तब पुराणों, ग्रंथों और मनुष्यों की गिनती ही क्या है। वह यदि स्वयं कृपा करे—और गोस्वामी जी के मत अनुसार परमेश्वर परम दयालु, परम कृपालु है—तभी मनुष्य को उसका थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। उसके कृपापात्र होने के लिये एक मात्र मार्ग है—उसकी अनन्य भक्ति। इसी लिये

सोइ सर्वग्य सोई गुनग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जा कर मन राता॥

(पृ० ५०२)

× × × ×

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघु-बंस-मनि हरहु बिषम-भव-भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिअ लागहु मोहि राम॥

(पृ० ५०४)

हरिः ॐ तत्सत्।

---

(१४) रामावत संप्रदाय

[लेखक—बाबू श्यामसुंदर दास, काशी]

हिंदी साहित्य का इतिहास तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारंभ काल, मध्य काल और उत्तर काल। प्रारंभ काल का आरंभ विक्रम संवत् ८०० के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गए थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था और इसमें वीर-गाथाओं ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरंभ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्य काल आरंभ होता है जो संवत् १४०० से १७०० तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गए। परंतु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मांधता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार करना था। इस कारण इस राज्य-काल में अन्य धर्मवालों पर घोर अत्याचार और अन्याय होते थे। धर्मांधता के कारण मुसलमान समझते थे कि हमारी एकता, शक्ति और संपत्ति का स्थायित्व हमारे धर्म पर ही निर्भर है। अतएव जितना ही हम उसका अनुकरण और प्रसारन करेंगे, उतनी ही हमारी उन्नति होगी। उनकी समझ में यह नहीं आता था कि घात से ही प्रतिघात भी होता है। छोटे से छोटे जीव भी दबाने से, अधिक दबाने से, सीमा से अधिक दबाने से अपनी रक्षा के लिये और अपने पीड़क पर अपना क्रोध प्रद-

शित करने तथा उन्हें दंड देने के लिये सिर उठाते हैं। हिंदुओं के लिये यह समय बड़ी विपत्ति का था। वे निरालंब, निराधार और निराश्रय हो रहे थे; उन्हें चारों ओर निराशा और अंधकार देख पड़ता था; कहीं से भी आशा और अवलंब की झलक नहीं देख पड़ती थी। ऐसे समय में भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं ने हिंदू भारतवर्ष की रक्षा की, उसे सहारा दिया और उसमें आशा का संचार कर उसे बचा लिया। इनमें से कुछ महात्माओं ने हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधकर उनमें भ्रातृत्व स्थापित करने का उद्योग किया, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई। विजेता होने के कारण मुसलमान अहंमन्यता से मदांध हो रहे थे। हिंदुओं के लिये किसी ऐसे ईश्वर की आवश्यकता थी जो दुष्टों का दमन करनेवाला, सुजनों की रक्षा करनेवाला, लोक-मर्यादा का स्थापित करनेवाला तथा मनुष्यों के लिये अनुकरणीय आदर्श चरित्रों का भांडार हो और जिसके चरित्र उसके गुणों के प्रत्यक्ष प्रदर्शक हों। पीछे के महात्माओं ने इस भाव की पूर्त्ति की और उनके धार्मिक विचारों तथा आदेशों ने हिंदुओं के हृदयों पर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया जो अब तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। अतएव मध्य काल के हिंदी साहित्य का इतिहास विशेष कर भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं की कृतियों का इतिहास है। एकेश्वरवादी, रामभक्त और कृष्णभक्त इन तीन संप्रदायों ने भारतवर्ष की रक्षा ही नहीं की वरन् उत्तर भारत के साधारण जीवन के प्रतिबिंब स्वरूप उसके साहित्य का अभ्युदय भी किया। इस काल में अलंकारी कवियों का भी अभ्युदय हुआ। कल्पित कथाओं से हिंदी साहित्य-शरीर की श्रीवृद्धि तथा पुष्टि करनेवाले मुसलमान कवि भी इसी समय में हुए; परंतु यह विदेशीय पौधा भारतवर्ष की प्रतिकूल भाव-वायु में परिपोषित और पल्लवित न हो सका। यह इसी काल में लगा और इसी में मुरझा भी गया। जहाँ इस काल में मुसलमानी राज्य

का अभ्युदय हुआ, वहीं साथ ही साथ उसकी जड़ में घुन भी लग गया और अंत में उत्तर काल में उसका समूल नाश भी हो गया, वहाँ हिंदी साहित्य भी उन्नति के शिखर पर पहुँचकर अलंकार के माया जाल में ऐसा फँसा कि वह अपना सच्चा स्वरूप ही भूलकर अपनी आत्मा का तिरस्कार कर बाहरी ठाठ बाट और शारीरिक सजावट बनावट में औरंगज़ेब के समय के मुसलमानी राज्य की भाँति लग गया। सच्ची कविता अपने उच्च आसन से नीचे गिर पड़ी और अंत में उत्तर काल में एक प्रकार से विलीन हो गई। उत्तर काल में ब्रिटिश शासन की जड़ जमी, मुसलमानी अत्याचारों से साँस लेने का समय मिला, पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन हुआ, आध्यात्मिकता और भौतिकता में घोर संग्राम आरंभ हुआ। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि भाव विचारादि में परिवर्तन होने लगा। कविता-युग की समाप्ति होकर गद्य-युग का आरंभ हुआ। इस काल में साहित्य-सरिता नए वेग और नए जल से पूरित हो बहने लगी।

आज हम मध्य काल के हिंदी साहित्य का एक अंक उपस्थित करते हैं। इन तीन सौ वर्षों में जिस साहित्य-नाटक का अभिनय हुआ है, उसके और और अंकों को भी यथा समय उपस्थित करने का विचार है।

मध्य काल में हिंदी साहित्य-सरिता कई धाराओं में प्रवाहित हुई। उसकी पहली धारा रामावत संप्रदाय की चर्चा को आरंभ करने के पहले उसकी परिस्थिति और पूर्वपीठिका का भी कुछ परिचय दे देना आवश्यक है। यद्यपि इस संप्रदाय का वास्तविक आरंभ कबीरदास जी से होता है, परंतु घटना-शृंखला का सूत्रपात रामानुज जी से ही होता है। अतएव हम इस प्रकरण को उन्हीं से आरंभ करते हैं।

(१) रामानुजाचार्य

परंपरागत कथनों के अनुसार स्वामी रामानुजाचार्य का जन्म

शक संवत् ९३९ (वि० सं० १०७३) में हुआ था। इनकी पूर्वावस्था कांजीवरम् में बीती, जहाँ वे स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के समर्थक यादवप्रकाश के शिष्य हुए। परंतु उन दिनों तामिल देश में वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हो रहा था। इसका प्रभाव रामानुज जी पर भी पड़ा। इस कारण वे अपने गुरु यादवप्रकाश को छोड़ यामुनमुनि के अनुयायी बने। यथा समय वे इन्हीं यामुनमुनि की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और त्रिचनापली के पास श्रीरंगम् में रहने लगे। इस समय चोलवंशीय राजाओं का प्रतापादित्य प्रखर प्रकाश से प्रकाशमान हो रहा था। इस वंश के राजा स्वामी शंकराचार्य के अद्वैत मत के अनुयायी थे। इस वंश के एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेंद्र से, जिसकी हत्या वि० सं० ११३१ में हुई थी, रामानुज जी की धार्मिक विचारों में विभेद के कारण अनबन हो गई। इसके उत्तराधिकारी राजेंद्र कुलोत्तुंग से भी रामानुज जी की न बनी। अतएव वे वि० सं० ११५३ में श्रीरंगम् छोड़कर होयसल वंशीय राजाओं के राज्य (आधुनिक मैसूर) में जा बसे। इस होयसल वंश का एक प्रतापी राजा वित्तिदेव या वित्तिगदेव था जो इतिहास में विष्णुवर्धन नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसकी मृत्यु वि० सं० ११९८ में हुई। इसने ३० वर्ष से अधिक राज्य किया था। यह विष्णुवर्धन पहले जैनमतावलंबी था। जब रामानुज जी इसके राज्य में रहने लगे, तब उनका प्रभाव इस पर पड़ने लगा और समय पाकर वह इनका अनुयायी हो गया। इसी समय इसने अपना नाम वित्तिगदेव से बदल कर विष्णुवर्धन रख लिया। इसके समय में अनेक अच्छे अच्छे मंदिर बने और वैष्णव धर्म की बहुत कुछ श्रीवृद्धि हुई। इसी के राज्य में रहकर वि० सं० ११९४ में १२१ वर्ष की अवस्था में रामानुज जी का स्वर्गवास हुआ। प्रपन्नामृत ग्रंथ के अनुसार रामानुज जी ने वि० सं० ११४४ में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित की थी। इनके बनाए हुए बहुत से ग्रंथ बतलाए जाते हैं जिनमें मुख्य वेदांतदीप, वेदांतसार, वेदार्थसंग्रह

तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य हैं। ये सब ग्रंथ संस्कृत में हैं।

रामानुज जी के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार उपनिषद् हैं। रामानुज जी के अनुसार अंतर्यामी ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्तक है। वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और करुणामय है। समस्त संसार ब्रह्ममय है, उससे बाहर कुछ भी नहीं है। परंतु इस अद्वैतवाद में, इस एकत्व में अनेकत्व की मात्रा वर्तमान है। इस संसार की जीवात्माएँ भिन्न भिन्न श्रेणी तथा चेतन की हैं; तथा संसार में अचेतन पदार्थ भी विद्यमान हैं जिनका ब्रह्म से वैसा ही संबंध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव आत्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अंतर्गत हैं, उससे अलग उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी लिये न उनका आदि है और न अंत। कल्पांत में जब प्रलय होता है, तब भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहते हैं। उस समय उनमें वे गुण नहीं रहते जिनके कारण हमें उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती हैं और यद्यपि उनमें ज्ञान की शक्ति अंतर्हित रहती है, पर वे उसे प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होती हैं। इस अवस्था से पुनः ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते हैं और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती हैं तथा अपने अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती हैं। प्रलय की अवस्था में ब्रह्म कारण-अवस्था में था, अब सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने पर वह कार्य-अवस्था में हो गया।

यही रामानुज जी के मुख्य दार्शनिक सिद्धांत हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने वैष्णव मत का मंदिर खड़ा किया। उनका कहना है कि ब्रह्म पाँच मुख्य रूपों में आविर्भूत होता है। पहला रूप "पर" है जिसमें वह वैकुंठ में शेषनाग पर विराजता है और लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ और शंख चक्रादि धारण किए हुए

होता है। उस समय मुक्त आत्माओं को उसके दर्शन होते हैं। उसका दूसरा रूप "व्यूह" है जो वह सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिये धारण करता है। यह रूप चार प्रकार का होता है—अर्थात् ज्ञान और बल का प्रदर्शक संकर्षण रूप, ऐश्वर्य और वीर्य का प्रदर्शक प्रद्युम्न रूप, शक्ति और तेजस् का प्रदर्शक अनिरुद्ध रूप, और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेजस् इन छओं गुणों का प्रदर्शक वासुदेव रूप। तीसरा मुख्य रूप वह है जिसमें वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप अंतर्यामी का है जिसमें वह मनुष्यों के हृदयों में स्थित है, योगियों को दर्शन देता है तथा महामात्रा में आत्माओं का साथी है। पाँचवें मुख्य रूप में वह मूर्त्तियों और प्रतिमाओं में स्थित है। रामानुज जी के अनुसार मनुष्य की आत्माएँ ईश्वर का अंश हैं जो उसी से प्रेरित और शासित होती हैं। आत्माएँ तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओं में से कुछ तो सांसारिक वैभव के पीछे पड़ी हैं, कुछ स्वर्गीय सुख की खोज में हैं और कुछ मुक्त होना चाहती हैं। इस अंतिम श्रेणी की आत्माओं के लिये अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय हैं—एक तो कर्मयोग और तदनंतर ज्ञान-योग द्वारा भक्ति की प्राप्ति; और दूसरा प्रपत्ति मार्ग। कर्मयोग में बिना किसी प्रकार की कामना अर्थात् बिना फल-प्राप्ति की इच्छा किए अपने अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य देवपूजा, तपश्चर्या, यज्ञ, दान और तीर्थयात्रा कहे गए हैं। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञानयोग का अधिकारी हो जाता है जिससे उसे अपने आप का ज्ञान हो जाता है और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है। रामानुज जी के अनुसार भक्ति परमानंददायिनी अनुरक्ति नहीं है, वरन् उसका तात्पर्य ब्रह्म का निरंतर ध्यान करना है। इसकी प्राप्ति में पवित्र भोजन, जितेंद्रियता, पूजन, भजन, दान, दया, अहिंसा, सत्य आदि सहायक होते हैं। इससे अंत में परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान और उसकी प्राप्ति हो जाती

है। प्रपत्ति मार्ग के मुख्य अंग शरणागत होने का भाव, अविरोध, त्राण में विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि हैं। भक्ति मार्ग अथवा प्रपत्ति मार्ग से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। जब एक मार्ग से यह न हो सके, तब दूसरे मार्ग का अवलंबन करना चाहिए।

इन दो सिद्धांतों के कारण रामानुज जी के अनुयायियों में बड़ा मतभेद हुआ। कुछ लोगों का कहना था कि प्रपत्ति मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलंबन तभी करना चाहिए जब जीव भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने में असमर्थ हो। दूसरा दल कहता था कि ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र उपाय प्रपत्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग में भक्त के कार्यशील होने की आवश्यकता मानी गई है और प्रपत्ति मार्ग में वह ईश्वर के शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड़ देता है। उदाहरण के लिये यह बताया गया है कि बंदर का बच्चा अपनी माता के शरीर से चिपटा रहता है और वह जहाँ चाहती है, उसे ले जाती है तथा उसकी रक्षा करती है। परंतु फिर भी बच्चे को अपनी माँ से चिपटा रहना पड़ता है। यही अवस्था भक्ति मार्ग के अनुयायियों की है। वे ईश्वर के शरणागत रहते हैं, परंतु स्वयं उनको भी मर्कट-वत् उद्योगशील रहना पड़ता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी बिल्ली के बच्चे की भाँति होते हैं। उनकी माँ उन्हें मुँह में दबाकर जहाँ चाहती है, ले जाती है। इस पथ के पथिकों की अवस्था मार्जारवत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकंपा पर छोड़ देते हैं और उसी पर अवलंबित रहते हैं। अतएव यह सिद्धांत निकला कि भक्ति मार्ग जटिल और प्रपत्ति मार्ग सरल है।

इस विभेद के कारण इस संप्रदाय के लोगों में और भी अनेक भेद उत्पन्न हो गए। भक्ति मार्ग के अनुयायियों का आग्रह था कि परम मंत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, दूसरे वर्णवालों को 'ओं' रहित मंत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी इस सिद्धांत के विरुद्ध थे। वे सब से सम व्यवहार

करना चाहते थे। ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं रामानुज जी भक्ति मार्ग के अनुयायियों के पक्ष में थे। इसी लिये ब्राह्मणेतर वर्णवालों के लिये उन्हें एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। इसका नाम उन्होंने "आचार्यभिमान योग" रखा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिये निर्भर रहता था और आचार्य उसके लिये सब कृत्यों का प्रतिपालन स्वयं करता था। इससे स्पष्ट है कि रामानुज जी के समय में ही इस संप्रदाय में जाति-पाँति के बंधन लगने लग गए थे और धर्म का प्रचार संस्कृत द्वारा हो अथवा देशभाषाओं द्वारा, इस संबंध में भी मतभेद हो चला था। इससे एक बात और प्रकट होती है। वह यह कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर जातियों का झगड़ा कई शताब्दी पुराना है। रामानुज जी इन झगड़ों को शांत कर हिंदुओं को भक्ति के सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए थे, वरन् उनके कारण विभेद की मात्रा अधिक हो गई थी। यह उनके अनुयायियों के भाग्य में था कि वे इन बंधनों से उत्तरीय भारतवर्ष के हिंदुओं को मुक्त कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सके थे। कदाचित् वे घटनाएँ, विशेषतः राजनैतिक घटनाएँ, उनके अनुयायियों के समय में हुई थीं। उस समय वे उनका अनुमान करने में भी असमर्थ थे; अथवा उत्तर भारत की अवस्था तथा मुसलमानों के बढ़ते हुए अत्यचारों से भी परिचित न थे।

भक्तों के लिये रामानुज जी ने ये नियम बनाए थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तों की सेवा करें, एकादशी का व्रत रखें, चरणामृत ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगाकर ही भोजन ग्रहण करें। कुछ लोगों का कहना है कि इन बातों को इन लोगों ने क्रिस्तानों से सीखा था। परंतु इसका कोई स्पष्ट और दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि ये बातें यहाँ पहले से वर्तमान न थीं और दक्षिण भारत में प्रचलित क्रिस्तान धर्म के संसर्ग से ही वैष्णव

धर्म में उनका आयोजन हुआ था। केवल समानता ही इस बात का एक मात्र प्रमाण नहीं हो सकता कि एक मत में अनेक बातों का प्रचार दूसरे मत के आधार पर ही हुआ है। जो कुछ हो, इस विवाद में कुछ विशेष महत्व नहीं है। यहाँ अब केवल इतना और जान लेना आवश्यक है कि रामानुज जी ने अपने संप्रदाय में न कृष्णपूजा और न रामपूजा का कोई आयोजन आरंभ किया था। उनके आराध्य देव केवल नारायण थे। रामपूजा का आरंभ आगे चलकर उनकी शिष्य-परंपरा ने आरंभ किया था।

रामानुज जी के शिष्य देवाचार्य, उनके हरियानंद, उनके राघवानंद और राघवानंद के रामानंद हुए। इस शिष्य परंपरा में रामानंद ही परम प्रसिद्ध हुए। राघवानंद जी रामानुज जी के मत के पूर्ण रूप से प्रतिपादक थे। समस्त भारतवर्ष की यात्रा करके वे काशी में आ बसे थे और यहीं उन्होंने रामानंद को अपना शिष्य बनाया था।

(२) रामानंद जी

रामानुज जी के स्वर्गवासी होने के १६२ वर्ष पीछे वि० सं० १३५६ में रामानंद जी का जन्म प्रयाग में हुआ था। इनके पिता पुण्यसदन (या भूरिकर्मा या देवल) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनकी माता का नाम सुशीला था। रामानंद जी का पहला नाम रामदत्त था। कहते हैं कि इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और बारह वर्ष की अवस्था में ही ये सब शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण पंडित हो गए थे। प्रयाग में अपनी शिक्षा समाप्त कर दर्शन शास्त्र का विशेष अध्ययन करने के लिये वे काशी चले आए थे। यहाँ वे एक स्मार्त अध्यापक से, जो स्वामी शंकराचार्य जी के अद्वैत मत का अनुयायी था, पढ़ने लगे। एक दिन अकस्मात् इनकी राघवानंद जी से भेंट हो गई। राघवानंद ने इन्हें देखते ही इस बात पर दुःख प्रकट किया कि रामानंद को अब इस पृथ्वी पर थोड़े ही दिन और रहना है और वह अभी तक हरि की शरण में नहीं आया है। रामानंद ने जाकर अपने गुरु से यह बात कही। गुरु ने कहा कि यह भविष्यवाणी

सच्ची है और मैं कोई ऐसा उपाय नहीं बता सकता जिससे तुम्हारी अल्पायु दूर हो और यह भावी संकट टल जाय। तुम राघवानंद की ही शरण में जाओ, कदाचित् वे तुम्हारी रक्षा कर सकें। रामानंद ने इस उपदेश के अनुसार राघवानंद से मंत्र ग्रहण किया। उसी समय इनका नाम रामदत्त से बदलकर रामानंद रखा गया। राघवानंद ने इन्हें योगाभ्यास करना और समाधिस्थ होना सिखाया। जब मृत्यु का समय आया तब रामानंद समाधिस्थ हो गए। उस घड़ी के टल जाने पर वे उठ बैठे। अब से उनकी श्रद्धा राघवानंद पर बहुत बढ़ गई और वे उनकी सेवा-शुश्रूषा करने तथा उनसे उपदेश ग्रहण करने में दत्तचित्त हुए। गुरु ने भी प्रसन्न होकर उन्हें दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दिया। बहुत दिनों तक गुरु की सेवा कर रामानंद यात्रा करने के निमित्त बाहर निकले। इसके अनंतर वे पुनः काशी लौट आए और पंचगंगा घाट पर रहने लगे जहाँ उनकी पादुका अब तक दिखाई जाती है।

श्रीवैष्णव संप्रदाय में ब्राह्मण ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं और खान-पान के संबंध में बड़े कड़े नियमों का पालन कराया जाता है। जब रामानंद यात्रा से लौटे, तब वे पुनः अपने गुरु के स्थान में पूर्ववत् रहने लगे। परंतु राघवानंद के अन्य शिष्यों और अनुयायियों ने कहा कि यात्रा में बहुत काल तक रहने के कारण रामानंद ने खान-पान के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया होगा, अतएव जब तक वे प्रायश्चित्त न कर लें तब तक संप्रदाय में सम्मिलित न हों। रामानंद ने इसे स्वीकार नहीं किया। अंत में इनके गुरु राघवानंद को यह व्यवस्था देनी पड़ी कि रामानंद अलग रहें और यदि चाहें तो अपना संप्रदाय अलग स्थापित करें। रामानंद ने अपने गुरु के वचनों का अक्षरशः पालन किया। वे अपने अनुयायियों को लेकर अलग हो गए और रामावत संप्रदाय के संस्थापन में दत्तचित हुए। इस साधारण घटना का रामानंद पर तो प्रभाव पड़ा ही, परंतु इसने उत्तर भारत के धार्मिक विचारों में भी विशेष परिवर्तन किया।

रामानुज नारायण के उपासक थे और उनकी धर्मव्यवस्था में वर्ण-धर्म का स्थान पूर्ववत् ही था। रामानंद के दार्शनिक विचार तो रामानुज के अनुसार ही थे, पर आचार-विचार की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया था। यह नहीं कहा जा सकता कि रामानंद ने वर्णाश्रम के बंधनों को बिल्कुल तोड़ दिया था, क्योंकि इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि शिष्य बनाने में उन्होंने जाति-पाँति का कोई विचार नहीं किया था। इस संबंध में उनका यही सिद्धांत जान पड़ता है कि—"जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई"। चाहे रामानंद ने स्वयं जाति-पाँति के बंधनों को तोड़ा हो या न तोड़ा हो, पर इसमें संदेह नहीं है कि वे रामानुज के श्री वैष्णव संप्रदाय से खान-पान के अपवाद के कारण ही अलग किए गए थे और इनके शिष्यों ने खान-पान और जाति-पाँति के बंधनों को बिल्कुल तोड़ डाला था। इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामानंद इन बंधनों के संबंध में कम से कम दृढ़ नहीं थे। इनके रामावत संप्रदाय में मनुष्य सांसारिक संकटों तथा आवागमन के कष्टों से ईश्वर की भक्ति करके बच सकता है। यह भक्ति राम की उपासना से प्राप्त हो सकती है और इस उपासना के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। जाति-पाँति का भेद उसमें किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं कर सकता। सारांश यह है कि रामानुज का संप्रदाय बहुत संकुचित था; रामानंद ने उसकी सीमा बढ़ाकर उसे अधिक उदार बनाया; और उनके शिष्यों ने तो उसे पूर्णतया उदार कर दिया।

कहते हैं कि रामानंद ने १११ वर्ष की आयु भोगी। इनका गोलोक वास वि० सं० १४६७ में हुआ। हमें कई कारणों से इस संवत् की सत्यता में संदेह होता है। यदि यह घटना १०–१५ वर्ष पहले हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामानंद के जीवन-काल के १०० वर्षों में भारतवर्ष का राजनैतिक आकाश मंडल भयानक तथा प्रलयकारी मेघों से घिरा रहा।

प्रायः वज्रपात होता था और हिंदू प्रजा को असीम कष्ट भोगना पड़ता था। इसमें संदेह नहीं कि बीच बीच में थोड़ी देर के लिये सूर्य देव के सुखद दर्शन हो जाते थे, पर यह अवस्था क्षणस्थायी ही होती थी, आकाश प्रायः मेघाच्छन्न ही रहता था। रामानंद के जन्मकाल में अलाउद्दीन खिलजी (वि० सं० १३५३–१३७३) दिल्ली के राजसिंहासन पर विराजता था। इस अत्याचारी, अन्यायी, स्वार्थी, इंद्रिय-लोलुप और धर्मांध हिंदू-विद्वेषी बादशाह के समय में रणथंभौर के किले पर (वि० सं० १३५७) आक्रमण किया गया था। इस युद्ध में शरणागत धर्म्म के पालन में वीर-शिरोमणि हम्मीरदेव अपना राजपाट नष्टकर स्वर्ग को सिधारे थे और उनका सारा रनिवास अग्निदेव की शरण में जाकर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा कर सका था। अभी रामानंद चार ही वर्ष के थे, जब चित्तौर की पद्मावती रानी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर इस दुराग्रही बादशाह ने चित्तौर पर आक्रमण किया था। सती-साध्वी, पतिपरायणा क्षत्राणी रानी ने अपनी जान पर खेलकर अपने पति को कारागार से मुक्त किया था, पर अंत में पति के युद्ध में मारे जाने पर रानी ने जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा की थी। सारे रनिवास के साथ अपने को अग्निदेव को सौंप रानी पद्मावती भारतीय देवियों की कल-कीर्ति को चिरस्थायिनी कर गईं। छः सौ वर्षों के अनंतर इन घटनाओं का वर्णन पढ़कर अब भी भारतीय हृदय विह्वल हो उठता है और शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या बालक रामानंद ने कुछ बड़े होने पर इन घटनाओं का वृत्तांत न जाना होगा और उनके कोमल दयार्द्र हृदय पर इनका चिरस्थायी प्रभाव न पड़ा होगा? पर यहीं इन रोमांचकारी हृदय-विदारक घटनाओं का अंत नहीं होता। संवत् १३६७ में रामेश्वर में पहले पहल मसजिद बनवाई गई। इतिहास-लेखकों का कथन है कि अलाउद्दीन के समय में कोई सरदार बादशाह से बिना पूछे अपने बेटे या बेटी का विवाह नहीं कर सकता था। लोगों की जागीरें छीन ली गई थीं। भूमिकर बढ़कर उपज के आधे तक

पहुँच गया था। प्रजा यहाँ तक दीन हीन हो गई थी कि उसे पेट भर अन्न मिलना कठिन हो गया था। हिंदू इतने धनहीन हो गए थे कि चढ़ने को घोड़ा और पहनने को अच्छा कपड़ा तक किसी के पास नहीं रह गया था। हीरे-मोती और सोने-चाँदी की कौन कहे, साधारण धातु के पात्र तक उनके घर में नहीं रहने पाते थे। कुतुबुद्दीन (वि० सं० १३७३–१३७८) के समय में देवगिरि का राजा हरपालदेव पकड़कर दिल्ली लाया गया था और उसकी खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरा गया था! खुसरो ने, जो वास्तव में हिंदू था, अपने स्वामी को मारकर और राजसिंहासन पर बैठकर इन अत्याचारों का बदला लेना चाहा, पर साधारण प्रजा और उच्च-वंशीय लोग मृतप्राय हो रहे थे। उनका साहस, उनका धैर्य, उनकी आशा सब नष्ट हो चुकी थी। किसी ने खुसरो का साथ न दिया। मुहम्मद तुगलक (वि० सं० १३८२–१४०८) के समय में मुसलमानी राजधानी दिल्ली से उठाकर दौलताबाद में स्थापित की गई। प्रजा पर घोर अत्याचार और अन्याय किए किए। एक बार दिल्ली से सारी प्रजा दौलताबाद भेजी गई; पर उसके न बसने पर सबको लौटना पड़ा तथा और और प्रांतों से प्रजा को लाकर पुनः दिल्ली बसाने का उद्योग किया गया। ये सब भयानक और रोमांचकारी घटनाएँ रामानंद के बालकाल और युवावस्था की थीं। वृद्धावस्था में तैमूर का आक्रमण हुआ, दिल्ली जलाई गई, कत्ल आम हुआ, खूब लूट पाट मची, स्त्रियाँ, बच्चे और कारीगर पकड़ पकड़कर समरकंद भेजे गए। लौटते समय मेरठ, हरद्वार आदि स्थानों को नष्ट करता हुआ और प्रजा की हत्या करता हुआ तैमूर भारतवर्ष से चला गया। ये सब घटनाएँ किसका हृदय दुःखित नहीं कर सकतीं? फिर एक दयामय परोपकारी महात्मा पर इनका कितना प्रभाव पड़ा होगा, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इन कष्टों का निवारण कैसे हो सकता था, इन आपदाओं से रक्षा कैसे हो सकती थी। प्रजा में उत्साह, शक्ति, सामर्थ्य, धन, सबका ह्रास हो गया था।

उनका कोई सहायक नहीं देख पड़ता था, कोई उनको धैर्य दिलानेवाला तक न था। ऐसे समय में रामानंद जी ने अपने इष्टदेव राम का आश्रय लिया और भारतवासियों को उस भक्तभयहारी, दुर्जन-संहारी, सुजन-प्रतिपालक की शरण जाने का उपदेश दिया। यह समय जाति-पाँति पूछने का नहीं था, यह तो 'हरि को भजै सो हरि का होई' का समय था। रामानंद जी ने जाति-पाँति के बंधन ढीले कर दिए और राम नाम के महामंत्र का उपदेश देकर लोगों को ढारस बँधाया। पर समय अनुकूल नहीं था। अतएव उस समय उनके उपदेश का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा। अभी हिंदुओं को और कष्ट सहना था, अभी उनके पूर्वसंचित कर्मों का प्रायश्चित्त पूर्णतया नहीं हो पाया था। पर बीज बो दिया गया। उसके वृक्ष की शाखाएँ काटकर रामानंद जी के शिष्यों ने नए वृक्षों में पैवंद लगाने का उद्योग किया। कुछ काल तक ये नए वृक्ष हरे भरे रहे, पर लोगों ने इनका आश्रय न लिया। रामानंद जी की मृत्यु के कोई १५० वर्ष पीछे उनके शिष्य संप्रदाय में से गो० तुलसीदास ने इस वृक्ष को अपनी सुधामयी वाणी से पुनः पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित किया।

रामानंद जी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, संस्कृत ही में लिखा। यही कारण है कि उनको पूरी पूरी सफलता न प्राप्त हो सकी। हिंदी में उनके लिखे दो पद मिलते हैं—एक तो सिक्ख गुरुओं के ग्रंथ साहब में दिया है और दूसरा हमें डाक्टर ग्रियर्सन साहब की कृपा से प्राप्त हुआ है। ग्रंथ साहब में जो पद दिया है, वह यह है—

कत जाइये रे घर लागो रंग। मेरा चित न चलै मन भयो पंग ॥
एक दिवस मन भई उमंग। घसि चंदन चोआ बहु सुगंध ॥
पूजन चाली ब्रह्म ठाँय। सो ब्रह्म बतायो गुरु मंत्रहि माँहि ॥
जहँ जाइये तहँ जल परवान। तूँ पूर रह्यो है सब समान ॥
बेद पुरान सब देखे जोय। उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय ॥

सतगुरु मैं बलिहारी तोर । जिन सकल बिकल भ्रम काटे मोर ॥
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म । गुरु का सबद काटै कोटि करम ॥

इस पद में ईश्वर की व्यापकता का उल्लेख है। दूसरा पद्य जो डाकृर ग्रियर्सन साहब से मुझे मिला है, हनुमान जी की आरती का है। वह इस प्रकार है—

आरति कीजे हनुमान लाल की। दुष्ट दलन रघुनाथ-कला की ॥
जाके बल गरने महि काँपे । रोग सोग जाके सिमाँ न चाँपे ॥
अंजनी-सुत महाबल-दायक । साधु संत पर सदा सहायक ॥
बाँएँ भुजा सब असुर सँघारी। दहिन भुजा सब संत उबारी ॥
लछिमन धरनि में मूर्छि पर्‌यो। पैठि पताल जमकातर तोर्‌यो ॥
आनि सजीवन प्रान उबार्‌यो। मही सबन के भुजा उपार्‌यो ॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोहीं। होहु दयाल देहु जस मोहीं ॥
लंका कोट समुंद्र खाई । जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्‌यो। राजा रामजि के काज सँवार्‌यो ॥
घंटा ताल झालरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै ॥
जो हनुमानजि की आरति गावै। बसि बैकुंठ परम पद पावै ॥
लंक बिधंस कियो रघुराई । रामानंद (स्वामी) आरती गाई ॥
सुरनर मुनि सब करही आरती। जै जै जै हनुमानलाल की ॥

इन दो पदों से दो भिन्न भिन्न प्रकारों का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। पहले पद से यह अनुमान किया जा सकता है कि रामानंद जी मूर्तिपूजा के विरोधी थे; परंतु दूसरे पद में हनुमान की वंदना करके उन्होंने इस भाव को निर्मूल कर दिया है। इन दो पदों से रामानंद के सिद्धांतों की खोज निकालना उपयुक्त न होगा। इनका महत्व इतना ही है कि ये पद हिंदी में हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ, पहले पहल प्रकाशित हो रहे हैं। कविता की दृष्टि से भी इन पर विचार करना व्यर्थ है। रामानंद जी कवि नहीं थे। वे रामोपासक भक्त थे।

रामानंद जी के मुख्य बारह शिष्य हुए—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसरानंद, नरहरियानंद, पीपा, कबीर, भावानंद, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इनमें से अंतिम दो तो स्त्रियाँ थीं और शेष दस पुरुष थे। पद्मावती के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सुरसरी सुरसरान्द की धर्मपत्नी थी। शेष दस में से कबीरदास सब से प्रसिद्ध हुए।

(क्रमशः)

(१५) प्रभास पाटन के यादव भीम के सं० १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा

[लेखक—पं० रामकर्ण, जोधपुर]

यह शिलालेख कलकत्ते के "साहित्य" नामक मासिक पत्र में* छपा है। इस लेख के प्रकाशक श्रीयुक्त गोविन्द-नारायण मिश्र हैं। उक्त महाशय ने इस नवीन शिलालेख को प्रकाशित करके इतिहासवेत्ताओं का बड़ा उपकार किया है। आपकी टिप्पणी में कहीं कहीं विचारणीय स्थल हैं।

(१ ला श्लोक)

अव्यक्तं व्यक्ततां यातमलक्षं लक्षतां गतम्।
सोमेशलिंगं छलतः स्पष्टब्रह्म पुनातु वः॥

टिप्पणी में तृतीय चरण का अर्थ यह लिखा गया है—"सोमेश लिंग के मिस से।" यदि ऐसा अर्थ अभीष्ट है तो मूल के पाठ को "सोमेशलिंगच्छलतः" ऐसा दिखाना चाहिए था। "सोमशलिंगं छलतः" ऐसा पाठ रखकर जो अर्थ लिखा गया है, वह असंगत है। दूसरे "स्पष्ट" शब्द का अर्थ छोड़ दिया गया है।

(२ रा श्लोक)

या भारती शब्दमयी चतुर्विधा
ततोऽधिका भाति जड़ा जलात्मिका।
क्षेत्रे प्रभासे शिवमाप्य सास्थिता
पञ्चप्रवाहा जगतोऽस्तु शान्तये॥

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ लिखा गया है—"जो भारती शब्दमयी होकर केवल चार प्रकार की है, और जड़ जल रूप हो-

---

* साहित्य, खंड १, भाग १, पृ० १७६–८१ [सं०]

कर उससे भी अधिक रूपों में विराजती है" । इस अर्थ में 'केवल' शब्द अधिक लिखा गया है जिसका मूल के साथ कुछ भी संबंध नहीं है, प्रत्युत् मूल के अर्थ में वह बाधाकर है। और "जल जड़ रूप होकर" इस वाक्य से जड़ जल का विशेषण प्रतीत होता है। मूल में 'जड़' ऐसा पाठ है जो 'भारती' का विशेषण है। मूल का भावार्थ ऐसा जान पड़ता है कि—"जो भारती (सरस्वती) शब्दमयी अर्थात् वेद रूप से चार प्रकार की है, (वेद चार हैं), और उससे अधिक पाँचवाँ स्वरूप उस का जड़ (अचेतन) जो जल-मय (अर्थात् सरस्वती नदी रूप) है, वही प्रभास क्षेत्र में शिव को प्राप्त होकर पाँच प्रवाह के रूप में स्थित है।" प्रभास क्षेत्र में जो सरस्वती नदी बहती है, वह जल रूप है ही।

(३ रा श्लोक)

शीर्षे विधृत्य बड़वानलफालगोलं
वाग्देवता कथयतीव हि दिव्यपूर्वम् ।
कस्माद्विवादमधियन्ति च दर्शनानि
तत्त्वं शिवात्परतरं न हि किंचिदस्ति ॥

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ यह लिखा गया है—"द्यौ लोक में बड़वानल को ललाट मंडल में धारण करनेवाले शिव को अपने मस्तक पर रखकर मानों वाग्देवता सरस्वती अपूर्व बात कह रही है" और इस अर्थ की पुष्टि के निमित्त टिप्पणी में यह लिखा गया है—"तीसरे श्लोक में 'बड़वानलफालगोलं' बड़वानल के फाल का गोला। वस्तुतः 'फाल' के स्थान में 'भाल' हो तो ठीक है। 'बड़वा-नलभालगोल' इस प्रकार यह शिव का विशेषण बन सकेगा, अर्थात् बड़वानल है मस्तक-मंडल में जिसके, ऐसे शिव को सिर पर धरकर"। यहाँ 'फाल' के स्थान में 'भाल' पाठ बदलने में अर्थ का अनर्थ हो जाता है। मूल पाठ के अनुसार पूर्वार्द्ध का अर्थ यह है—"वाग्देवता (सरस्वती) अपने मस्तक पर बड़वानल रूपी तप्त लोहे के गोले को धारण करके मानों दिव्य (शपथ) पूर्वक

कहती है कि छहों दर्शन (शास्त्र) क्यों विवाद करते हैं, शिव से पर-तर कोई तत्त्व नहीं।

(४ था श्लोक)

तत्पत्तनं यस्य मुखे सरस्वती
गर्भे धृता येन हरिर्हराद्याः।
सामान्यजन्तोरपि मुक्तिदं यत्
केनोपमेयं नगरेण तस्मात्॥

द्वितीय चरण में 'हरिर्हराद्याः' की जगह 'हरिहराद्याः' पाठ होना चाहिए; परंतु उसमें छंदोभंग बाधक है।

(५ वाँ श्लोक)

भीतोऽहमेकेन हि वाड़वेन
दृष्ट्वा पुरे वाडवमुख्यलक्षम्।
स्तुतिर्व (तिं व ?)त्यर्णव एष घोषः
करोर्मिभिः सच्चरणौ नमस्यन्॥

टिप्पणी में 'दृष्ट्वा पुरे वाड़वमुख्यलक्षं' का अर्थ ऐसा किया है—"जिसने बड़वानल को अपने मुख्य तीसरे नेत्र में धारण किया है।" इस अर्थ में महादेव विशेष्य जाने जाते हैं; परंतु उक्त चरण का अर्थ उससे अन्य प्रतीत होता है। यथा—"मैं एक ही बाड़वानल से डर गया हूँ; तो इस पुर में लाख वाडव (अर्थात् ब्राह्मण) मुख्य हैं। उनको देखकर मेरी क्या दशा होगी।" इस विचार से यह समुद्र अपनी रक्षा के लिये तरंग रूपी हाथों से तेरे चरणों को नमस्कार करता हुआ घोष रूपी स्तुति करता है।

'घोषः' के स्थान में 'घोषं' पाठ हो तो उत्तम है। उसका अर्थ यह होगा—"घोष रूप स्तुति करता है"। यहाँ उद्देश्य विधेयभाव है। "घोषमुद्दिश्य स्तुतित्वं विधीयते इति।" "सच्चरणौ" के स्थान में "त्वच्चरणौ" पाठ हो तो उत्तम है।

(६ठा श्लोक)

अहो प्रसिद्धः किल यादवानां
वंशावतंसो हि वसुंधरायाः।
यत्राभवत् (द्) भीमनृपोरिभीमः
श्रीभीमचित्तो न जनेषु भीमः॥

इस पद्य का अर्थ यह लिखा गया है—"अहा ! जहाँ यादव वंश का भूषण, वसुंधरा के भयानक शत्रु राजाओं को भी भय देनेवाला श्रीभीम हुआ है, जो प्रजा के लिये भय या त्रास न देकर उनके प्रति दयालु है।" दूसरे चरण में "वंशावतंसो" के स्थान में "वंशोऽवतंसो" ऐसा सुधारना चाहिए, जिसका अर्थ यह होगा कि पृथ्वी का भूषण यादवों का वंश प्रसिद्ध है, जिसमें शत्रुओं के लिये भयंकर भीम राजा हुआ। उसका नाम तो भीम है, परंतु लोगों के लिये उसका चित्त भयानक नहीं है।

(७वाँ श्लोक)

एवं गुणं तं पतिमाप्य रम्यं
माणिक्यदेवी सुतरां चकासे।
तयोश्च योगाद्यमुना प्रवृत्ता
किं स्यात्रथेयं नवमी च सिद्धिः॥

इस पद्य के अर्थ में 'रम्यं' पद छोड़ दिया गया है और 'माणिक्यदेवी' शब्द के आगे 'भी' पद लिखा गया है। मूल में 'भी' का वाचक कोई पद नहीं है।

नाम्ना भवेद्या यमुना न निम्नगा
राज्ञी भवेन्नो यमगर्भधारिणी।
मिमी (मां ?) क्ष वेद्यां न रुचिः स्वयंवरे
मदालसा या न भवेन्मदालसा॥

तीसरे चरण में 'मिमीक्ष' का 'मिमांक्ष' किया गया हैं, परंतु 'मिमंक्ष' रखना चाहिए। यह 'मस्ज्' धातु का रूप है; इसमें वृद्धि नहीं हो सकती।

शीलेन गङ्गा भवतीति शुद्धा
या नामधेयाद्यमुना प्रसिद्धा।
सरस्वती तद्वदनान्न याति
प्रयाग एषोऽभिनवो विभति॥

इस पद्य के आरंभ में टिप्पणी में "वह शील से तो गंगा और नाम से यमुना प्रसिद्ध है" ऐसा लिखा गया है। इस अर्थ में 'शुद्धा' पद छोड़ दिया गया है, और 'शुद्धा' पद से यह विशेष अभिप्राय प्रकट होता है कि जैसे गंगा 'शुद्धा' अर्थात् शुक्ल वर्ण और पवित्र है, वैसे ही उक्त रानी भी शील से शुद्ध है।

(१०वाँ श्लोक)

वंशो (शौ) प्रसिद्धो (द्धौ) हि यथा रवीन्द्वो (:)
राष्ट्रोऽडवंशस्तु तथा तृतीयः।
यत्राभवद्धर्मनृपोऽतिधर्म-
स्तस्माच्छिवं मा (सा ?) यमुना जगाम॥

(११वाँ श्लोक)

दत्तानि दानानि मयाखिलानि
तपांसि तप्तान्यतिनिर्मलानि।
कृतानि पुण्यान्यतिनिश्चलानि
प्राप्तानि सर्वाणि जनैः फलानि॥

चतुर्थ चरण में 'जनैः' छपा है, उसे 'जनेः' करना चाहिए। 'जनेः' अर्थात् जन्म के सब फल पाए।

(१२वाँ श्लोक)

या कारयामास नवापि वापिका
सरस्त्रिदेवायतनप्रपाश्च।
तथा प्रतोलीमुखमण्डनोपमं
निर्मापितं चत्वरमत्र सुन्दरम्॥

'प्रतोलीमुखमण्डनोपमं' का अर्थ यह लिखा गया है—"राज मार्ग के मुख का भूषण स्वरूप", परंतु यहाँ प्रतोली का अर्थ राज-

मार्ग नहीं है, किंतु महराबदार बड़ा दरवाजा है। चत्वर (चौक) दरवाजे के मुख पर ही होता है। 'नवापि वापिका' का अर्थ लिखा गया है "नई बावड़ी"। यदि प्रशस्तिकार को नई बावड़ी का अर्थ अभीष्ट होता तो वह 'वापिका' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति लगाता; क्योंकि 'वापिका' पद यहाँ अनुक्त कर्म है, जिससे 'वापिकाः' ऐसा द्वितीया का बहुवचन पाया जाता है; और 'नव' पद का अर्थ संख्यावाचक ६ होने से नौ बावड़ियाँ बनवाई हों, ऐसा जाना जाता है।*

टिप्पणी में 'संवत् १४४५ ज्येष्ठ सुदी १३ के दिन' ऐसा लिखा गया है और मूल में संवत् १४ ज्येष्ठ (ज्येष्ठ) छपा है। कदाचित्

* मूल लेख का आशय एक बावड़ी बनाने का है, नौ का नहीं। (सं०)

मूल में १४ के आगे ४५ हो, छपने में अशुद्धि हुई हो। नहीं तो टिप्पणी में १४ के आगे ४५ कहाँ से आया?

फिर इसके आगे टिप्पणी में 'इस तीसरे भीम चित्तवर भीम के वंश में हुई थी' ऐसा लिखा गया है। इस लेख से 'भीमचित्तवर' भीम का विशेषण प्रतीत होता है। यह किस आधार से लिखा गया है? मूल में चित्तवर का बोधक कोई शब्द नहीं मिलता।

टिप्पणी के अंत में लिखा गया है कि "राष्ट्रोड़ वंश कोई तीसरा ही वंश सिद्ध होता है" जो मूल के अनुसार लिखा गया है। परंतु राष्ट्रोड़ वंश को सूर्य चंद्र वंश से भिन्न तीसरा वंश बतलाना प्रशस्तिकार की भूल है। राष्ट्रोड़ वंश सूर्य चंद्र वंश से पृथक् नहीं है। राष्ट्रोड़ वंश सूर्य वंश* के अंतर्गत है।

---

* राठौड़ों (राष्ट्रकूटों, राष्ट्रोड़ों) की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ मिलती हैं। दक्षिण के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा विज्जल के वर्तमान शक संवत् १०८४ (वि० सं० १२१८) के मनगोलि गाँव के शिलालेख में राठौड़ों को दैत्यवंशी लिखा है (एपि० इं० जि० ५, पृ० १०)। राठौड़ों के भाट उनके मूल-पुरुष को राक्षस (असुर) हिरण्यकशिपु की संतान कहते हैं (राजस्थान रत्नाकर, तरंग १, पृ० ८८)। कर्नल टॉड ने इंद्र की राठ (रीढ़ की हड्डी) से उनके मूल पुरुष का उत्पन्न होना लिखा है (टॉड राजस्थान, कलकत्ते का छपा, जि० २ पृ० २)। अनुमान होता है कि प्रभास पाटन के उक्त लेख के रचयिता ने ऐसे ही

इतिहास

यह शिलालेख यादववंशी भीम का है। इस शिलालेख से

प्रचलित प्रमाणों को आधार रखकर राष्ट्रोड (राठौड़) वंश को सूर्य और चंद्रवंशों से भिन्न तीसरा वंश बतलाया हो। परंतु ऊपर लिखे हुए प्रमाण विश्वास योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे राठौड़ों के प्राचीन शिलालेखादि से नहीं लिए गए और उन के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन काल में राठौड़ अपने को सूर्य-चंद्रवंशों से भिन्न वंश के मानते थे। राठौड़ों का मूल राज्य दक्षिण में था जहाँ से गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रदेश, गया (पीठी) आदि में उनके स्वतंत्र या परतंत्र राज्य स्थापित हुए। कन्नौज के सूर्यवंशी गाहड़वालों (गहरवारों) के प्रतापी राज्य समय राष्ट्रकूटों (राठौड़ों) का एक राज्य या ठिकाना बदायूँ में भी था। दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के समय के शक सं० ७८२ (वि० सं० ६१७) के कौनूर के शिलालेख में (एपि० इं० जि० ६, पृ० २६), राठौड़ गोविंदराज (सुवर्णवर्ष) के शक संवत् ८५२ (वि० सं० ६८७) के खंभात से मिले हुए दानपत्र में (एपि० इं०, जि० ७, पृष्ठ ३७), उसी राजा के शक सं० ८५५ (वि० सं० ६६०) के साँगली से मिले हुए दानपत्र में (इंडि० ऐंटि०, जि० १२, पृ० २४६), कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८८० ((वि० सं० १०१५) के करहाड़ के दानपत्र में (एपि० इं०, जि० ४, पृ० २८२) और कर्कराज (दूसरे, अमोघवर्ष) के शक सं० ८६४ (वि० सं० १०२६) के कर्डा के दानपत्र में राठौड़ों का यदुवंशी होना लिखा है। राठौड़ राजा इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) के शक सं० ८३६ (वि० सं० ६७१) के बगुमरा से मिले हुए दो दानपत्रों में (बंब० एशि० सोसा० जर्नल, जि० १८, पृ० २५७; २६१) और कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८६२ (वि० सं० ६६७) के देवली से मिले हुए दानपत्र में (एपि० इंडि०, जि० ५, पृ० १६२-१६३) राठौड़ों का चंद्रवंश की यदुशाखा के सात्यकि के वंश में होना लिखा है। हलायुध पंडित ने अपनी रची हुई 'कविरहस्य' नाम की पुस्तक में उसके नायक राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा कृष्णराज को सोमवंश (चन्द्रवंश) का भूषण कहा है (बंबई गेज़ेटियर, जि० १, भाग २, पृ० २०८-६)। ये सब प्रमाण, जो राठौड़ों के ही शिलालेखों और दान पत्रादि से उद्धृत किए गए हैं, यही बतलाते हैं कि वि० सं० ६१७ से १०२६ तक तो दक्षिण के राठौड़ अपने को चंद्रवंश की यदु (यादव) शाखा में होना मानते थे। इसी को हम भी प्रमाण रूप मान सकते हैं। वि० सं० १५०० के पूर्व के किसी शिलालेख, दानपत्र अथवा पुस्तक में राष्ट्रकूट, राठौड़ या राठौड़ वंश का सूर्यवंश के अन्तर्गत होना लिखा नहीं मिलता [सं०]।

यादव-वंशी भीम बिलकुल नवीन दृष्टिगोचर हुआ है। इस शिलालेख से इस का समय संवत् १४४२ (ई. स. १३८५) ज्ञात हुआ है। इससे पहले दो भीम हुए थे, जो शिलालिखों से जाने जाते हैं; परंतु वे इससे पूर्व काल में हुए थे। प्रथम भीम विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में, और दूसरा विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुआ था; और यह वैक्रमी पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। पहले दोनों भीम चौलुक्य-वंश के थे और यह यादववंशी था। वे अणहिलवाड़ा के स्वामी थे, और यह कच्छ प्रांत के लाखड़ा विआरा का स्वामी था। इस के कुछ वंशजों के पश्चात् खंगार ने अपनी राजधानी कच्छ देश के भुज नगर में नियत की थी।

मूहणोत नैणसी की ख्याति नामक पुस्तक में भाटी (भट्टि) वंश का इतिहास लिखते हुए प्रसंगवश लखहिया और जाड़ेचा आदि यादव वंशों का इतिवृत्त लिखा गया है। उस प्रकरण में नैणसी ने पहले जाड़ेचों की वंशावली लिखी है। उससे पूर्व लिखा है कि श्रीकृष्णचंद्र के पुत्र स्याम (साम्ब) के वंशज सामा जाड़ेचा कहलाते हैं, और प्रद्युम्न के वंशज भाटी कहलाते हैं। जाड़ेचों की वंशावली निम्न रीति रूप में लिखी है—

१ गाहरियो २ ओटौ (ओढो) ३ ढाहर ४ अहर (ग्राहर) ५ फूल ६ लाखो ७ महर ८ मोकलजी ९ खेतसी १० दलो ११ बड़ो हमीर (हमीर के दो* पुत्र हुए) १२ रायधण और १२ हालो, १३ फूल (दूसरा) १४ अलैदियो १५ जनागर १६ लोदी १७ भीम १८ दलो (दूसरा) १९ साहिब २० राहिब २१ बड़ो भीम २२ बड़ो हमीर २३ अमर २४ भोजराज २५ बीसो २६ ओठो २७ हमीर (दूसरा) २८ खंगार† २९ भारो ३० मेघ ३१ रामधण ३२ तमायची।‡

---

* यहाँ दो पुत्र लिखे गए हैं, परंतु आगे जो वृत्तांत लिखा गया है, उस से तीसरा पुत्र भीम भी जाना जाता है।

† इसके वंशज भुज नगर के राजा हैं।

‡ नैणसी दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के समकालीन मारवाड़ के महाराज

जाड़ेचों की हमीर के पुत्र रायधण और हाला से दो शाखा हुई। रायधण से रायधण और हाला से हाला शाखा। रायधण शाखा के जाड़ेचा कच्छ के स्वामी, जिन के अंतर्गत रायधण के भाई भीम का वंश भी है, और हाला शाखा के जाड़ेचा जामनगर के स्वामी हैं।

पहले यहाँ प्रकृत रायधण शाखा का इतिवृत्त लिखा जाता है। नैणसी लिखता है कि रायधणों के हस्तगत कच्छ की भूमि इस तरह हुई। जाड़ेचों से पूर्व कच्छ की भूमि पर घोघा जाति का अधिकार था। लाखड़ी नगर में उनकी राजधानी थी। घोघाकरन वहाँ का राजा था। उसके राज्य में भ्रमण करता हुआ गरीबनाथ नामक योगी आया, जो धूंधलीमल योगी का शिष्य था। गरीबनाथ महा-तपस्वी और सिद्धियों का भंडार था। उसने लाखड़ी में आकर अपना आसन जमाया और उसके आस पास आम के पेड़ लगा दिए। समय पाकर पेड़ बड़े हुए, आश्रम की शोभा अनोखी हो गई। समय पर फल लगे। अब तो गरीबनाथ का आश्रम हर एक का आश्रयदाता हो गया। आते जाते पथिक उसमें विश्राम लेते थे। खाने को फल और पीने को जल मिल जाता है।

लाखड़ी के राजा करन के दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से एक से राजा अप्रसन्न रहता था, इस कारण वह दुहागिन कही जाती थी। वह गरीबनाथ की चेली थी। गरीबनाथ की उस पर पूर्ण कृपा थी। उस दुहागिन रानी को योगी बहन कहकर पुकारता था। उसका पुत्र ज्येष्ठ मास में योगी गरीबनाथ के आश्रम में आया। उसे देखकर योगी ने अपने शिष्यों से कहा कि शिष्यो! भानजे को आम दो। एक चेले ने आम के पेड़ पर चढ़कर ५०-६० फल लाकर गुरु के चरणों में रक्खे। गरीबनाथ ने वे दुहागिन के पुत्र

जसवंतसिंह जी का प्रधान मंत्री था। उसने इस पुस्तक में संवत् १७२२-२३ तक का वृत्तांत लिखा है, जिससे जाना जाता है कि उस समयमें तमायची भुजनगर का राजा था।

को दे दिए। वह वे फल लेकर घर पर आया। सुहागिन के पुत्रों ने उन फलों को देखकर, जिनकी सुगंधि से वे लालायित हो गए थे, माता के पास जाकर कहा कि भाई जो आम लाया है, वह हमें दिलवा दो। तब मानवती रानी ने राजा से कहा कि योगी गरीबनाथ के आश्रम में आम फले हैं, आप राजकुमारों के लिये मँगवा दें। राजा ने आम लाने के लिये अपने मनुष्य भेजे। उन्होंने जाकर योगी से कहा कि "योगिराज ! आप के आश्रम में आम फले हैं। राजकुमार ने उन्हें देख लिया है, वे आम के फल चाहते हैं। इसी लिये राजा ने हमें आप के पास भेजा है। कृपाकर कुछ फल राजा के लिये दीजिए"। योगी ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, कि वे राजा के भेजे हुए आए हैं। योगी ने प्रत्युत्तर में कहा कि "हम योगी हैं; हमें राजा से क्या मतलब है? राजा हम से क्यों माँगता है? हम आम किस किस को दें, आम हमारे हैं, राजा को आवश्यकता है तो कहीं से मँगा सकता है"। यह सुन राजा के मनुष्यों ने कहा कि "आम के पेड़ आप ने लगाए हैं। आम आपके हैं, परंतु पृथ्वी पृथ्वी के पति की है"। इतना कहकर राजा के मनुष्य आम के पेड़ों पर चढ़ गए और फल तोड़ तोड़कर नीचे गिराने लगे। राजकर्मचारियों की ऐसी उद्धतता देखकर योगी क्रुद्ध हुआ, कुल्हाड़ी लेकर उठा, और आम के पेड़ काटने को उद्यत हुआ। तब उसके एक शिष्य ने योगी के समीप आ, पैरों में पड़, हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि "योगिराज ! ये पेड़ आप ही ने सींच कर बढ़ाए हैं, आप अपने हाथ से कैसे काट सकते हैं? नीति का वचन है "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।" आप ने जो मुद्रा धारण कर रक्खी है, वह किस दिन के लिये है? आप अपने योग के प्रभाव से सब कुछ कर सकते हैं। आमों का स्वरूप बदल दीजिए"। शिष्य के कथन से योगी ने आम को इमली बना दिया। वहाँ इमलियों के पेड़ अब तक विद्यमान हैं। आम के पेड़ों को इमली के पेड़ बनाकर एक चेले को अपने आसन की

जगह में गाड़कर शाप दिया कि "जैसे हमारा स्थान उठाया गया है, वैसे तुम्हारा राज्य भी उठ जाय"। लाखड़ी से बारह कोस की दूरी पर धीणोद् नाम का गाँव है। वहाँ धूँधलीमल का आश्रम है। उस योगी के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि धीणोद् के पहाड़ में अब तक उसका निवास है। गरीबनाथ राजा को शाप देकर अपने गुरु धूँधलीमल के पास धीणोद् चला गया। दस पन्द्रह दिन हुए होंगे, धूँधलीमल और गरीबनाथ पहाड़ से नीचे उतर रहे थे। वर्षा ऋतु थी। आगे जाते हुए उन्होंने देखा कि जाड़ेचा हमीर और उसका पुत्र भीम दोनों खेत में हल चला रहे हैं। भीम खेत में के पौधों को काटकर खेत साफ कर रहा है। भीम की गरीबनाथ पर दृष्टि पड़ी। उसने गरीबनाथ को पहचान-कर अपने मन में कहा कि यह तो वही गरीबनाथ मालूम होता है जिसे मैंने लाखड़ी में देखा था। भीम गरीबनाथ को देखते ही तुरंत दौड़कर उसके निकट आकर चरणों में गिर पड़ा और अत्यंत नम्रता और विनय से प्रार्थना करके गुरु-चेलों को अपने डेरे पर ले आया, जो नीम के एक वृक्ष के तले था। इतने में भीम के घर से भात (भोजन) आया। भीम ने उस भात में से तृप्ति योग्य भात योगिराज के पात्र में परोस दिया और स्वयं उसके पास बैठकर मक्खी उड़ाने लगा। योगिराज धूँधलीमल ने भोजन करते करते अपने पात्र में से एक मुट्ठी भात भीम को देकर कहा कि 'तू यह खा ले'। तब भीम ने मुख से तो स्वीकार कर लिया, परंतु जूठा समझकर खाने में विलम्ब किया। योगी ने दो तीन बार कहा, परंतु उसने नहीं खाया। अपनी माता से दूसरा भात लेकर खाया और गुरु का दिया भात पास ही में रख छोड़ा। गुरु ने समझ लिया कि यह हमारा जूठा खाने से परहेज करता है। गुरु ने उसे उठाकर अपने पात्र में ले लिया और जल में घोलकर पी लिया। तदनन्तर भीम से कहा कि 'यदि तू यह भात खाता तो अजरामर हो जाता। अस्तु, जो होना था सो हुआ। अब हमने तुझको

यहाँ का राज्य दिया। तू अपनी राजधानी तो लाखड़ी में स्थापित कर, और हमारा आसन धीणोद में रहेगा। इस आसन के लिये तू इतना प्रबंध कर दे कि 'दस घोड़ी के पीछे एक घोड़ियों, दस भैंसों के पीछे एक भैंस, दस साँड़नियों (ऊँटनियों) के पीछे एक साँड़नी, माल में एक दूकान पीछे दो महम्मदी (एक प्रकार का सिक्का), जन्म और विवाह पीछे दो महम्मदी, और प्रत्येक हल के पीछे एक सेई धान्य दिया जाय।' और फिर कहा कि 'तुम योगियों की तन मन धन से सेवा करोगे तो प्रतिदिन तुम्हारा राज्य बढ़ता रहेगा। जब सेवा में कुछ त्रुटि होगी, तब राज्य का नाश हो जायगा।' इस प्रकार योगी ने भीम पर कृपा की। तब भीम ने अंजली बाँधकर प्रार्थना की कि 'घोघा लोग बहुत बलवान् हैं; मैं उनसे राज्य कैसे ले सकूँगा?' तब योगी ने कहा कि 'इनको हमारा शाप हो चुका है; इन पर अचानक कठाहियों की सेना आक्रमण करेगी। तुम इस बात की खबर लेते रहना। जब तुमको यह पक्की खबर लग जाय कि घोघे मारे गए, तब तुम अपने साथ लोगों को लेकर जाना। तुम्हारी पीठ पर हमारे हाथ हैं। तुम किसी प्रकार मत घबराओ, यहाँ का राज्य सुगमता से बिना मार काट के तुम्हारे हस्तगत हो जायगा। तुम्हारे आगे एक भी शत्रु नहीं ठहरेगा।' इतना कहकर दोनों योगी उठे और भीम से फिर कहा कि 'अब हम पर्वत में जाते हैं। तुमसे हमें यह कहना है कि पहाड़ में जहाँ हमारे पैरों के चिह्न गड़े हुए दृष्टि में आवें, वहाँ इस समय तो संकेत के लिये पत्थर इकट्ठे करके रख देना, और जब तुम्हें राज्य मिल जाय तब उस स्थान पर मंदिर बनवा देना।' इतना कहकर गुरु शिष्य दोनों चल दिए। जाते जाते योगी ने भीम से फिर कहा—'सुनो, अपनी इस वाणी की सत्यता का सूचक हम एक चिह्न तुम्हें बतला देते हैं, उस पर ध्यान रखना। वह बात हो जाय तो जान लेना कि आगे भविष्यत् में भी ऐसा ही होगा। वह चिह्न यह है कि तुम्हारा पिता आज से पंद्रहवें दिन मर जायगा। इसी से तुम हमारे कथन को सत्य समझ लेना। घोघा लोगों को हमारा

शाप हो चुका है, अतएव ऐसा ही होगा। हमारा एक कथन और है। वह यह कि जब तुम राज्याधिकारी हो, तब अपनी पदवी राव रखना।' योगी इतना कहकर चल दिए। पंद्रहवें दिन भीम का पिता हमीर स्वर्गगामी हुआ, तब भीम को पूर्ण विश्वास हो गया। अब तो भीम ने अपने पास आदमी रखना आरंभ किया। किसी को कुछ दिया, और किसी को कुछ। अल्प ही समय में उसके पास चार पाँच सौ बंधुवर्ग एकत्र हो गए।

घोघा लोगों ने मोखी के प्रदेश में बिगाड़ किया था, इसलिये माखी और वीरमगाँव के थानेदार अपने मनुष्यों को लेकर अचानक घोघों पर चढ़ आए और उन पर एक साथ टूट पड़े। घोघों के पास तीन हजार मनुष्य थे, जिनमें से सात सौ मारे गए। अन्य जो मँगनी के मनुष्य थे, वे निकल गए। जो कायर या रणभीरु थे, वे युद्ध का आरंभ होते ही चल दिए थे। शत्रुओं के भी बहुत से मनुष्य मारे गए, इसलिये वे भी अपने स्थान को लौट गए। लूट-पाट कुछ न की; बल्कि मोखी की सीमा में जाकर विश्राम लिया।

भीम के मनुष्य पहले से ही इस अन्वेषण में लगे हुए थे। उन्होंने आकर भीम को खबर दी कि 'घोघे मारे गये; और मुसलमान जो चढ़कर आये थे, वे भी लौट गए हैं। ठिकाना खाली पड़ा है।' यह खबर पाते ही भीम तुरंत अपनी सेना लेकर लाखड़ी पर चढ़ गया और बिना खून-खराबी के उस पर अधिकार कर लिया। वहाँ भीम को भूमि तो मिली ही, परंतु उसके साथ द्रव्य और सामान भी बहुत मिला। भीम लाखड़ी का राव हुआ। आसपास के घोघों ने जब सुना कि भीम लाखड़ी का मालिक बन बैठा है, तब वे इकट्ठे होकर भीम पर चढ़ आए। परंतु दैव जिसके अनुकूल होता है, उसका कोई क्या कर सकता है? भीम और घोघों से युद्ध हुआ। घोघे परास्त हुए और भीम की विजय हुई।

एक घोघा सरदार हारकर काठियों में मोखी की तरफ गया। उसके वंशज मोखी हलोद्र के प्रांत में हैं। और कई घोघे भागकर

पारकर और सातलपुर की ओर गए, जहाँ कांथड़नाथ योगी था घोघों ने आकर योगिराज के चरणों में गिरकर प्रणाम किया और अपना वृत्तांत कहा कि "हमको गरीबनाथ योगी ने शाप दिया जिससे हमारा सर्वनाश और राज्य भ्रष्ट हो गया है। अब आपका अनुग्रह हो तो हम यहाँ ठहरें"। तब कांथड़नाथ ने कहा कि "यदि तुमको यहाँ रहना है तो ऊपर तो हमारी पादुका स्थापित करो, और उससे नीचे अपने निवास के लिये कोट बनवाओ।" उन्होंने वैसा ही किया। पादुका ऊपर को स्थापित की गई, और कोट नीचे बनवाया गया। उस कोट का नाम योगी के नाम पर कांथड़-कोट रक्खा गया और घोघे लोग वहाँ रहने लगे। वह कांथड़कोट अब तक विद्यमान है। कांथड़कोट के स्वामी का तीन सौ गाँवों पर अधिकार है। उनकी भूमि में योगी कांथड़नाथ के वंशज योगियों का कर अब तक लगता है।

भीम ने लाखड़ी लेकर कच्छ देश पर अपना अधिकार कर लिया। भीम एक खेत गोड़नेवाला दरिद्र मनुष्य था, परंतु योगिराज गरीबनाथ के अनुग्रह से वह कच्छ देश का स्वामी हुआ। वह राज्य पाकर भी अपने गुरु को नहीं भूला। उसकी समस्त आज्ञाओं का उसने पालन किया। वहाँ जो लाग-भाग और कर नियत हुआ था, वह अब तक अविच्छिन्न दिया जाता है। भीम ने धीणोद में, जहाँ पादुका स्थापित की गई थी, पादुका के ऊपर देवालय बनवाया, और उसीके पार्श्व में गढ़ बनवाया। वहाँ योगियों का मठ भी बनवाया गया।

इस समय भीम के वंशज कच्छ देश के स्वामी हैं। उनकी राज-धानी भुज नगर है। हम प्रथम टिप्पणी में लिख आए हैं कि हमीर (संख्या ११) का तीसरा पुत्र भीम था। नैणसी दूसरी बार वंशावली का आरंभ भीम से करता है; और उससे पूर्व यह लिखता है कि "भींव' (भीम) के वंशज इस समय भुज नगर के और राव कच्छ के स्वामी हैं। वंशावली इस प्रकार लिखी है—

१ भीम २ लाखो ३ हमीर ४ राघो ५ कांहियो ६ अलइयो ७ भोज-राज ८ रायधण ९ हमीर १० कमो ११ मूलवो १२ महड़ १३ भीव १४ हमीर १५ खंगार १६ भारो १७ भोजराज १८ खंगार।

यह वंशावली नैणसी ने संवत् १७२० के लगभग जोधपुर के राठौड़ राजा महाराज जसवंतसिंह जी प्रथम के समय में लिखी थी।

इसी प्रकरण में नैणसी लिखता है कि लाखा के पश्चात् कितने ही पुरुषों के अनंतर हालो और रायधण दो भाई हुए। उनके वंशज हाला और रायधण कहलाए। जब वे अत्यंत निर्बल और दीन-हीन दशा में हो गए तब घोघों की भूमि में खेती करते थे और भूमि-कर के स्थान में मुकाता देते थे। रायधण की अपेक्षा हाला के पास दस पाँच ग्राम अधिक थे, और उसके पास मनुष्य भी कुछ अधिक थे। जब हमीर का पुत्र भीम लाखड़ी का स्वामी हो गया, तब हाला के भी मन में अभिलाषा हुई कि हम भी किसी भूमि पर अपना अधिकार करें। फिर इधर उधर की समस्त भूमि देखी तो भद्रेस, जो योगी भद्रावल के नाम से बसा था, उस समय अस्वा-मिक था। वहाँ जाकर हाला ने अपना अधिकार कर लिया। जब हाला का वैभव बढ़ा तब घोघों के सरदार ने आकर हाला से कहा कि "आप हमारी सहायता करें तो हम अपना स्थान भीम से ले लें। आपको हम किनारे के २०० या ३०० ग्राम सहायता करने के प्रत्युपकार में दे देंगे।" हाला ने उनकी सहायता करना स्वीकार कर लिया, और वैसा प्रबंध करने लगा। यह खबर भीम को लगी। तब भीम ने अपना मनुष्य भेजकर हाला को कहलाया कि "हम लोग भाई हैं। आप घोघों की सहायता करने के लिये कैसे उद्यत हो गए हैं? आपको विचार करना चाहिए कि मैं और आप कौन हैं। यदि मेरे पास राज्य रहा तो अपने घर में है। दोनों घर एक ही हैं। मैंने जो भूमि दबाई है वह तो मेरे पास रहे, और आप ने जो दबाई है, वह आप के पास रहे। फिर झगड़ा किस बात का?" भीम के दूत द्वारा यह समाचार सुनकर हाला ने कहा कि "भीम का कहना

ठीक है, हम भी उसे मानते हैं। परंतु फिर पीछे आपस में किसी तरह का टंटा पैदा न हो जाय, इसलिये परस्पर शपथ हो जानी चाहिए, कि भविष्यत् में किस प्रकार काम हो"। हाला के अधिकार में भी भूमि बहुत आ गई थी, इसलिये दोनों आपस में राजी हो गए; और परस्पर शपथ भी कर ली गई कि "एक दूसरे की भुमि पर किसी तरह कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा"। देवी आसापुरा को साक्षी रखकर यह शपथ की गई थी। दोनों भाई एक हो गए। अब घोघों का क्या सामर्थ्य था कि वे कुछ उपद्रव करें। प्रत्युत् यह हुआ कि उन दोनों ने मिलकर घोघा लोगों को उस देश से निकाल दिया। भीम के वंशज राव कहलाते हैं और हाला के वंशज जाम नाम से प्रसिद्ध हुए। दोनों में परस्पर अत्यंत प्रेम है। किसी शत्रु से काम पड़ता है तो एक दूसरे की सहायता करते हैं।

हाला के वंश में अनुमान १२-१३ पुरुषों पीछे जाम लाखा हुआ। और रायधर्णों* के वंश में राव हमीर हुआ। एक दिन राव हमीर पचीस मनुष्यों के साथ अपनी खोई हुई घोड़ी की तलाश में गया। घोड़ी के पीछे पीछे वह जाम लाखा के निकट जा पहुँचा। तब उसने विचार किया कि "लाखाजी यहाँ से समीप में ही हैं, हमारे भाई हैं, उन से मिल लें"। हमीर लाखा के पास आया। लाखा ने उसका भली भाँति स्वागत किया और अत्यंत प्रीति का व्यवहार दिखलाते हुए मेहमानी की। लाखा के पुत्र रावल को, जिसने जामनगर बसाया था, काठियों ने बहकाया, जो रावल के मामा होते थे। उन्होंने रावल से कहा कि "भानजा! देखो, लाखा की बुद्धि कैसी भ्रष्ट हो गई है, कि काबू में आए हुए हमीर को मारना नहीं चाहता। इसको मारने का ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा? इसके पुत्र तो बालक हैं। यदि यह मारा गया तो कच्छ का राज्य

* भीम के वंशज भी रायधण कहलाते थे।

तुम को मिल जायगा। यह अवसर किसी प्रकार निकल गया तो फिर पछताओगे। हमने तो अच्छा अवसर देखकर तुम को चिता दिया है; करना तुम्हारा काम है।" रावल तरुण वय में था। उसने विना विचारे हमीर को मारने की ठान ली। हमीर दोपहर के समय घर में सोया था। रावल वहाँ जाकर उसके पैर दबाने लगा। हमीर को निद्रा आ गई। रावल ने देखा कि अब तो हमीर सुख-निद्रा में हैं। उसी समय उसने तलवार से उसका सिर काट डाला और पिता के भय के मारे वहाँ से भाग गया। इतने में शोर-गुल हुआ कि हमीर मारा गया। लाखा को इस बात की खबर नहीं थी कि हमीर को मारनेवाला मेरा पुत्र ही है। लाखा उसके पीछे चला और उस पर तीर चलाने लगा। रावल अपने प्राण बचाने के लिये भागता हुआ काठियों के वास में एक बाड़े की काँटों की बाढ़ में कूद पड़ा। लाखा ने देखा कि अपराधी जाता है। उसने उस पर तलवार चलाई। परंतु रावल ने पास ही पड़ी गुदड़ी ओढ ली। तलवार उस पर लगी। गुदड़ी दो अंगुल कटी और रावल बच गया। लाखा ने समझा कि अपराधी मारा गया। लाखा पीछे लौटा। रावल काठियों के पास गया। लाखा हमीर के अश्वारोहियों के साथ भुज में गया। वहाँ हमीर के पुत्र खंगार को, यद्यपि वह बालक था, तथापि, भुज की गद्दी पर बैठाकर अपने हाथ से राजतिलक किया और अपनी ओर से पट्टाधिकार के निमित्त टीके (तिलक) के घोड़े दिए, जैसा कि परंपरा से व्यवहार था। लाखा वहाँ बहुत दिनों तक रहा। उसका वहाँ रहने का उद्देश यह था कि मेरे पुत्र ने खंगार के पिता हमीर का वध किया है; यदि खंगार मेरी मृत्यु का कारण हो जाय तो हम दोनों समान हो जायँ, और हमारा कलंक दूर हो जाय। राव खंगार को किसी प्रकार यह ज्ञात हो गया। तब खंगार ने लाखा से कहा कि चचाजी! अब आप अपने घर जायँ। मैंने आपका अभिप्राय जान लिया है। आप जिस अभिप्राय से यहाँ ठहरे हुए हैं, वह

सिद्ध नहीं होगा। आप जानते हैं, मैं ऐसा अधम कार्य कदापि न करूँगा। वह कार्य तो रावल ही के हाथ से हो सका। रावल ने जो कार्य किया है, उसका बदला हम उससे लेंगे। आपसे कुछ भी सरोकार नहीं। जब रावल गद्दी पर बैठेगा तब हम हैं, और रावल है। यह मैं माता आसापुरा को साक्षी रखकर कहता हूँ। आप कृपा करके जाइए। लाखा अपने स्थान पर लौट आया और रावल को कहला दिया कि मुझे मुँह मत दिखाओ। जब तक लाखा जीवित रहा, तब तक उसने रावल को अपने निकट न आने दिया। एक दिन लाखा किसी कार्य-वश कहीं जा रहा था। घोघों ने उसके साथ बहुत थोड़े मनुष्य देखकर उस पर आक्रमण किया। लाखा असावधान था, और साथ में मनुष्य भी कम थे; तथापि उसने शत्रुओं को पीठ नहीं दिखाई, लड़कर स्वर्ग को सिधारा।

(शेष आगे)

साधारण अधिवेशन

शनिवार ३० भाद्रपद १९८० (१५ सितम्बर १९२३)

समय—सन्ध्या के ५½ बजे स्थान—सभा भवन

(१) बाबू श्यामसुंदरदास के प्रस्ताव तथा पंडित रामनारायण मिश्र के अनुमोदन पर बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह सभापति चुने गए।

(२) मंत्री ने सूचना दी कि हिंदी के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक, इस सभा के परम सहायक, सभासद, ट्रस्टी और पुस्तकों के प्रकाशन के लिये सभा को सबसे पहली निधि देनेवाले मुंशी देवीप्रसाद जी का स्वर्गवास हो गया।

इस पर सभा ने अत्यन्त शोक प्रगट किया।

(३) गत अधिवेशन (३० आषाढ़ १९८०) का कार्य्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(४) प्रबंध समिति का ३१ आषाढ़ १९८० का कार्य्य विवरण सूचनार्थ पढ़ा गया।

(५) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के फ़ार्म उपस्थित किए गए—

१ पंडित अम्बालाल शर्म्मा, वैद्य, रामदयालु आयुर्वेदीक औषधालय, अजमेर। ३)

२ बाबू त्रिलोकीनाथ सिंह, कानूनगोपुरा, बहराइच। ३)

३ पंडित भगवानदीन मिश्र वैद्य, चौक बहराइच। ३)

४ बाबू सिद्धनाथ, गवर्मेण्ट हाई स्कूल, बहराइच। ३)

५ पंडित रामलखन पांडेय, महल्ला गुदड़ी, बहराइच। ३)

६ बाबू कमलाप्रसाद, हाई स्कूल बहराइच। ३)

७ पंडित इन्द्रनारायण द्विवेदी, सराय आकिल, इलाहाबाद ३)

८ बाबू त्रिवेणीदयाल सिंह, असिस्टेण्ट मास्टर, गवरमेण्ट हाई स्कूल बहराइच। ३)

९ पंडित मूलचंद्र गौड़ आयुर्वेदविशारद, बहराइच । ३)

१० बाबू हुकुमसिंह विशेन, वकील, बहराइच । ३)

११ श्रीयुत ब्योहार राजेंद्रसिंह, साठिआकुआँ, जबलपुर । ३)

१२ बाबू शिवप्रसाद सिंह बी० टी० सी० विशारद, माध्यमिक पाठशाला, बैरिया, जि० बलिया । ३)

१३ पंडित लालमोहन त्रिवेदी, पुरुलिया ३)

१४ पंडित हरिशंकर शर्म्मा, गोपाल मन्दिर, काशी । ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ ।

(६) निम्नलिखित सभासदों के त्यागपत्र उपस्थित किए गए और स्वीकृत हुएः—

१ बाबू माँगीलाल कानूनगो, चाँदपोल, जयपुर ।

२ बाबू मंगलसेन, मुख़ार, बदायूँ ।

३ बाबू बंशीधर वैश्य मारवाड़ा, शीतलगंज, बुलन्दशहर ।

४ बाबू रामलखन सिंह, पिउखिर, पो० नरायनपुर, जि० मिर्जापुर ।

(७) मंत्री ने सूचना दी कि निम्नलिखित सभासदों के पास नागरी प्रचारिणी पत्रिका उनके वार्षिक चन्दे के लिये वी० पी० द्वारा भेजी गई थी, पर वी० पी० पेकेट उन सज्जनों ने यह लिख कर लौटा दिया है कि हमें अब लेना स्वीकार नहीं हैः—

१ राव विजयसिंह, मसूदा ।

२ पंडित दुर्गाशंकर कृपाशंकर मेहता, वकील, सिवनी ।

३ पंडित गोकरणनाथ मिश्र, शेर दरवाजा, लखनऊ ।

४ राजा बलदेवसिंह गुतरेवाले, नन्दपुर, भटोली, जि० काँगड़ा ।

निश्चय हुआ कि इन सज्जनों के नाम भी सभासदों की नामावली में से काट दिए जायँ ।

(८) मंत्री ने निम्नलिखित सभासदों की मृत्यु की सूचना दीः-

१ पंडित माताप्रसाद पांडेय, तुकोगंज, इन्दौर ।

२ बाबू दुर्गाप्रसाद सिंह, सुपर्वाइज़र कानूँगो, सैदराजा, जिला बनारस ।

३ बाबू रामधन सिंह, डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ़ स्कूल्स, बाँदा।

सभा ने इस पर शोक प्रकट किया।

(६) निम्नलिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं:—

संयुक्त प्रदेश की गवर्नमेण्ट—

Disrtict Census of the United Provinces of Agra & Oudh. 1921. Allahabad District.

Do. Do Etawah.

पंडित ब्रजविलास शर्म्मा, मौज़ा सिगड़ापुरा, पो० मिर्ज़ापुर जि० शाहजहाँपुर।

सामवेद भाष्यम् अध्याय १ से ३

अथर्ववेद भाष्यम् द्वितीय कांड से दशम कांड तक

बाबू मन्मथनाथ राय एम० ए०, एल० टी, सेंट्रल हिंदू स्कूल, काशी

भारतवर्ष का इतिहास

बाबू गोपालराम, विलासभवन, मामूरगंज, काशी

कर्म मार्ग, कुंदनलाल, जासूस जगन्नाथ, जोड़ा जासूस, वनवीर नाटक, गोविंदराम, सुनहरी टोली, गाड़ी में लाश, मन्नू से राय मुन्नालाल बहादुर।

श्रीयुत अध्यक्ष, देश सुधार ग्रंथमाला, भोजूबीर, काशी

योगशास्त्रान्तर्गत धर्म, राजयोग, योग की कुछ विभूतियाँ, संसार रहस्य, सीधे पंडित, जीवन मरण रहस्य।

श्रीयुत ललित विजय जी, आत्मानंद जैन सभा, होशियारपुर

जैन शिक्षावली प्रथम भाग, आबू जैन मन्दिरों के निर्माता, सूराचार्य और भीमदेव, आरामनन्दन, कुमारपाल चरित, क्षमा ऋषि (२ प्रतियाँ) श्रीहरिविजय सूरि (२ प्रतियाँ)

श्रीयुत पं० शिवनारायण प्रसाद, मंत्री, ऋषिकुल, हरद्वार

वृद्धबोध वर्ण परिचय (२ प्रतियाँ)

बाबू मुकुन्ददास, साहित्य सेवा सदन, काशी

भ्रमरगीत

सेठ हरनन्दराय गुप्त, नार्मल स्कूल, मुलतान

हिन्दी आशुबोध प्रथम भाग

बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त, हिन्दी ग्रंथ भण्डार कार्य्यालय, काशी

गुलामी, डाकू रघुनाथ, रानी की कब्र, विश्वबोध नाटिका

स्वामी मायानन्द चैतन्य, ठि० पं० श्रीधर रामचन्द्र देसाई, ग्वालियर।

श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्

कुंवर शिवनाथ सिंह सेंगर, आबू

श्रीलोकेन्द्राख्यान (सेंगर वंश का इतिहास)

बाबू जीतमल लूणिया, हिन्दी साहित्य मंदिर, काशी

नाटक वीर कुमार छत्रसाल

बाबू अयोध्याप्रसाद भार्गव, भार्गव पुस्तकालय, काशी

सन्तति शास्त्र

पंडित लक्ष्मण शर्मा, तोछीगढ़, अलीगढ़

मानुषत्वम् वा सुन्दर जीवनम्

पंडित अम्बिकाचरण शर्मा, ब्राह्मण रक्षा सभा, काशी

आह्निक तत्व, शक्ति त्रयी

राय बहादुर बाबू हीरालाल, रिटायर्ड डिपटी कमिश्नर, कटनी।

Swami Ram Tirtha Vols I and II

Queen Elizabeth (Twelve English Statesmen series)

General Biology by Mac Ginlery

Practical Zoology by Marshall and Hurst

Maryada or an essay on Traditional Morality. Vijaya Dharma Suri

Central Provinees Ethnographic Survey Vols II & IV

स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन, अमेरिका

Explorations and Field work of the Smithsonion Institution in 1922.

Bureau of American Ethnology Bull. 77.
Cvillages of the Algonquion. Siuaon, and
Caddoav Tribes, west of the Mississippi)

Indian Qntiquary for July 1923.

गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद

सरस्वतीचन्द्र मा वस्तुनी फूल-गूथणी

बाबू वासुदेव सहाय एजेन्ट द्वारा प्राप्त—

कवि प्रिया, रसराज, रसिक प्रिया, वैद्यमनोत्सव, बहुला, व्याघ्र संवाद, शत पंच चौपाई, देवकौमुदी, मन संबोध और रामायण (हस्तलिखित)

ऋण नाश करण स्तोत्र, भगवद्गीता, युद्ध चिन्तामणि, हनुमत दुर्गा, और समर सार (संस्कृत की हस्तलिखित)

पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित एजेन्ट द्वारा प्राप्त

कवित्त रामायण, वैद्यक का संग्रह, रामचंद्रिका, गीतावली, सटीक, कोक संबंधी, बिहारी सतसई, हनुमान बाहुक सत्यनारायण कथासार, नाम माला, रामायण नाटक, ज्योतिष, कवितावली, सगुन बिचार (हस्त-लिखित)

क्रय की गई—

हिन्दी विश्वकोश भाग ६, राजर्षि प्रह्लाद, भारत के महापुरुष, बाबू कुँवरसिंह, आदर्श माता, जाग्रत भारत, स्वाधीनता के सिद्धान्त, कर्मयोग, विजय ध्वनि, प्रेम (पं० भुवनेश्वर मिश्र अनुवादित, प्रेम (बाबू पन्नालाल जैन द्वारा अनुवादित), बालिका हरण, राम चरित मानस, प्राचीन कवि और पंडित

(१०) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

साधारण सभा

शनिवार २७ आश्विन १९८० (१३ अक्टूबर १९२३)

समय—संध्या के ५ बजे

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका और निश्चय

हुआ कि अब शनिवार १० कार्तिक १९८० को अधिवेशन किया जाय।

साधारण सभा

शनिवार १० कार्तिक १९८० (२७ अक्टूबर १९२३)

समय—संध्या के ५ बजे स्थान—सभा भवन

(१) बाबू श्यामसुंदर दास के प्रस्ताव तथा बाबू बटुकप्रसाद खत्री के अनुमोदन पर रायबहादुर पंड्या बैजनाथ जी सभापति चुने गए।

(२) गत अधिवेशन (३० भाद्रपद १९८०) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(३) प्रबंध समिति का १७ भाद्रपद १९८० का कार्य विवरण सूचनार्थ पढ़ा गया।

(४) बाबू श्यामसुंदरदास जी ने इस सभा के आनरेरी सभासद तथा हिंदी के प्रसिद्ध लेखक पंडित गोविंदनारायण मिश्र की दुःखद मृत्यु की सूचना देते हुए यह प्रस्ताव किया कि यह सभा मिश्र जी के देहांत पर अत्यंत शोक प्रकट करती है। बाबू बटुकप्रसाद खत्री ने इसका अनुमोदन किया।

उपस्थित सज्जनों ने खड़े होकर इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया।

(५) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के पत्र उपस्थित किए गए:—

१ पंडित कृष्णदेव नारायण शर्म्मा, सराय गोवर्धन, काशी ३)

२ बाबू लक्ष्मीनारायण, लक्खी चबूतरा, काशी ३)

३ श्रीयुत बी० स्वरूप चतुर्वेदी, तहसीलदार, काशी ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ।

(६) निम्नलिखित सभासदों के त्यागपत्र उपस्थित किए गए और स्वीकृत हुए:—

१ राय बहादुर मिस्टर ए० सी० मुकर्जी, काशी

२ बाबू श्रीकृष्णदास, लक्खी चबूतरा, काशी

३ बाबू रलयाराम, काशी

(७) निम्नलिखित पुस्तकें उपस्थित की गईं और धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं :—

पंडित विनायकराव, जबलपुर

श्री रामचरित मानस (विनायकी टीका)

लक्ष्मण विनोद, अयोध्या रत्न भण्डार

बाबू बेणीप्रसाद जी, रानीकुआँ, काशी

मायावती

पंडित देवीप्रसाद उपाध्याय, रामापुरा, काशी

नेपाल का इतिहास

लाला भगवानदीन, काशी

सूक्ति सरोवर

पंडित लक्ष्मणनारायण गर्दे, सम्पादक, भारतमित्र, कलकत्ता

सरल गीता

पंडित सभापति उपाध्याय व्याकरणाचार्य, लालघाट, काशी

वैदिक धर्म रहस्य

राजपूताना हिन्दी साहित्य सभा, झालरापाटन

सुधारण और प्रगति

बा० रामचंद्र वर्म्मा, काशी

तरुण भारत

पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित, एजेन्ट

हिन्दू जाति

डाक्टर शम्भूदयाल मिश्र, इटावा

जीवन विज्ञान

पंडित केदारनाथ पाठक, राजा दरवाजा, काशी

उर्दू शतक

बाबू मटुकसिंह, गवर्नमेंट हाई स्कूल, बलिया

महाभारत (संक्षिप्त)

बा० मोहनलाल वर्म्मा, नीलकंठ, काशी

भूतों का मकान

बाबू कन्हैयालाल जैन, ठि० कन्नू जी माबूमल एण्ड सन्स, दिल्ली

भारत जागृति

बाबू शारदाप्रसाद गुप्त, अहरौरा, ज़ि० मिर्ज़ापुर

प्राचीन कीर्ति Psalms of Pleasure

ठाकुर कल्याणसिंह जी शेखावत बी० ए०, खाचरिया वास (जयपुर)

जयपुर राज्य में हिन्दी, Victory is co-existent with Truth.

पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, सम्पादक, स्वतंत्र, कलकत्ता

भारतीय शासन पद्धति भाग १—२

बाबू पन्नालाल गुप्त, मीची बाग, काशी

बंकिम ग्रंथावली भाग १

सेठ जीतमल जी जूणिया, हिन्दी साहित्य मन्दिर, काशी

धर्म और जातीयता, लक्ष्मी चरित्र

बाबू बजरंगलाल लोहिया, हिन्दी साहित्य कार्यालय, कलकत्ता

भगवान की लीला, नारी रहस्य

बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०, काशी

साहित्य विहार, रामचरित मानस, कानन कुसुमांजलि

संयुक्त प्रदेश की गवर्नमेंट

District Census Statistics of the United Provinces of Agra and Oudh 1921 for Benares District

,,	,,	Ballia	,,
,,	,,	Ghazipore	,,
,,	,,	Jaunpore	,,
,,	,,	Bahraich	,,
,,	,,	Sitapur	,,

भारत की गवर्नमेंट

Annual Report of Archealogical Survey of India for 1920–21.

Memoirs of the Archealogical Survey of India No 14 (Antiquities of Bhimbar and Rajauri.)

बरमा की गवर्नमेंट

Report of the Superintendent, Archealogical Survey, Burma for the year ending 31st March 1923.

स्मिथसोनियन इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन, अमेरिका

37th Annual report of the Bureau of American Ethnology for 1915–16.

Designs of Pre-historic Pottery from the Mimbres Valley, Mexico.

The distribution of Energy in the Spectra of the Sun and Stars.

Some Practical Aspects of Fuel Economy.

सर जी० ए० ग्रियर्सन, पी० एच० डी०, सी० आई० ई० इंगलेण्ड

The Eastern School of Prakrit Grammarians and Paisachi prakrit.

Indian Antiquary for September. October 1923.

क्रय की गईं—

कालिदास और शेक्सपियर स्वामी रामतीर्थ ग्रंथावली भाग १ से १२ चन्द्रकान्ता, पद्मिनी, सती सुनीति, आलोकलता, रणजीतसिंह

सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

प्रबंध समिति

रविवार १७ भाद्रपद १६८० (२ सितम्बर १६२३)

संध्या के ६ बजे स्थान—सभाभवन

(१) गत अधिवेशन (१५ जुलाई १६२३) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) श्रावण १६८० के आय-व्यय का निम्नलिखित हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया :—

गत मास की बचत	५६७॥)।॥	अमानत	४०४)
अमानत	६८≶)।॥	कार्यकर्त्ताओं का वेतन	१८१॥।≶)॥।
जोधसिंह पुरस्कार	३३)	छपाई	१८१६।)
नागरी प्रचार	२।≶)	डाक व्यय	२६४॥।)
पुस्तकालय	११७०)	पुस्तकालय	५६०)
पुस्तकालय के लिये अमानत	३५)	पुस्तकालय के लिये अमानत	४०)
फुटकर	३१=)।॥	फुटकर	६८०)
सभासदों का चंदा	८६८॥)	सभाभवन पर टिकस	६०।
रत्नाकर पुरस्कार	१॥।≶)१	मरम्मत	१००)
बटुकप्रसाद पुरस्कार	॥।)	हिंदी पुस्तकों की खोज (सं० प्र०)	१००-)
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक		” ” (पंजाब)	४५॥)
माला	४६५।॥०)।	पारितोषिक	४२)
पुस्तकों की बिक्री	१४८६≶)	सभासदों का चंदा	६)
पृथ्वीराज रासो	८७॥=)	देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक	
भारतेंदु ग्रंथावली	३५।)॥	माला	१०१०)
मनोरंजन पुस्तकमाला	५०६।॥-)	मनोरंजन पुस्तकमाला	५८१०)॥
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	१८०॥।)॥	हिंदी कोश	१०६॥।)
हिंदी कोश	७०२॥-)॥	सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	४५)
तुलसी स्मारक	२७४॥)		
पुस्तकों पर रायल्टी	२८॥≶)।		४०२४॥।-)॥।
		बचत	१५३२।)५
	५५५७-)११		५५५७-)११

बचत का ब्योरा

१३१२।-)८ बनारस बंक, चलता खाता
१३५॥)७ बनारस बंक, सेविंग बंक
८४॥)२ रोकड़ सभा

१५३२।)५

(३) बनारस म्युनिसिपल बोर्ड का ७ अगस्त का पत्र नं० २३६० उपस्थित किया गया जिसमें लिखा था कि सभाभवन के पीछे की जमीन १२०००) रु० मूल्य पर अथवा ३० वर्ष के लिये पट्टे पर २००) वार्षिक पर दी जा सकती है।

निश्चय हुआ कि सभा इस जमीन को पट्टे पर नहीं लेना चाहती, वरन् खरीदना चाहती है। पर बोर्ड जो मूल्य माँग रहा है वह बहुत अधिक है; अर्थात् सभाभवन की जमीन का जो मूल्य म्युनिसिपैलिटी को सन् १९०३ में दिया गया था, उससे यह दसगुना है। अतः सभा की प्रार्थना है कि बोर्ड इस संबंध में पुनः विचार करे।

(४) बनारस के कलेक्टर का ८ अगस्त का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मुहर्रिरों की लाइसेन्स फ़ीस क्षमा करने का उन्हें अधिकार नहीं है।

निश्चय हुआ कि इस वर्ष मुहर्रिर की लाइसेन्स फ़ीस २०) रु० सभा द्वारा दी जाय और इसके उपरान्त यह विषय समिति में पुनः विचारार्थ उपस्थित किया जाय।

(५) पंडित कामताप्रसाद गुरु का ७ अगस्त का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने पूछा था कि क्या सभा उन्हें दूसरे प्रकाशकों के लिये व्याकरण का मिडिल संस्करण तथा अलग अलग कक्षाओं के लिये अलग अलग व्याकरण तैयार करने की अनुमति दे सकती है अथवा उन्हें स्वयं प्रकाशित कर सकती है।

निश्चय हुआ कि मिडिल कक्षा के लिये वे जो व्याकरण तैयार करें, उसे सभा प्रकाशित करेगी। अन्य कक्षाओं के लिये वे अन्य

प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित करने के लिये स्वतंत्र व्याकरण लिख सकते हैं; पर वे व्याकरण सभा के व्याकरणों की नकल न हों और न सभा द्वारा प्रकाशित व्याकरणों के प्रतिद्वंदी हों।

(६) साहित्य समिति, फतहपुर, जयपुर का श्रावण शु० २ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके यहाँ सुप्रसिद्ध कवि श्री सुंदरदास दादूपंथी का एक आश्रम है जिसकी जमीन का कुछ अंश कुछ लोगों ने खरीद लिया है। इससे उक्त कवि का यह स्मारक इस समय आपत्तिग्रस्त है और इमारत भी टूटी फूटी अवस्था में है। इसलिये सभा को इसकी रक्षा के लिये उचित उद्योग करना चाहिए।

निश्चय हुआ कि इस आश्रम की रक्षा के लिये राव राजा सीकर से प्रार्थना की जाय और आस पास के सदस्यों को भी इस संबंध में लिखा जाय।

(७) मंत्री ने सूचना दी कि ज्ञानमंडल तथा मेसर्स नंदकिशोर ब्रदर्स को छोड़कर शेष सब पुस्तक-विक्रेताओं के हाथ सभा की पुस्तकें नगद मूल्य पर बेची जाती हैं।

निश्चय हुआ कि आगे से किसी को पुस्तकें उधार या जाकड़ न दी जायँ।

(८) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबंध समिति

शनिवार २७ आश्विन १९८० (१० अक्टूबर १९२३)

समय—संध्या के ५ बजे। स्थान—सभा भवन

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका और निश्चय हुआ कि अब यह अधिवेशन १० कार्त्तिक १९८० को किया जाय।

प्रबंध समिति

शनिवार १० कार्त्तिक १९८० (२७ अक्टूबर १९२३)

समय संध्या ५ बजे स्थान—सभा भवन

(१) बाबू श्यामसुंदर दास के प्रस्ताव पर बा० बकुलप्रसाद खत्री सभापति चुने गए।

(२) गत अधिवेशन (१७ भाद्रपद १९८०) का कार्य विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(३) रायबहादुर बाबू हीरालाल का २८ जुलाई १९२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने संयुक्त प्रदेश के लिये हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज का निरीक्षक होना स्वीकार किया था।

निश्चय हुआ कि इसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाय।

(४) मिश्रबंधु कार्यालय, जबलपुर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने प्रार्थना की थी कि सभा बुद्ध-चरित के दो चित्रों की दो दो हजार प्रतियाँ छपवाकर उन्हें उचित मूल्य पर देने की कृपा करे।

निश्चय हुआ कि सभा की पुस्तकों में प्रकाशित चित्रों और उनके ब्लाकों के बनवाने में जो कुछ व्यय हुआ हो, उसका चतुर्थांश तथा चित्रों की छपाई और कागज का पूरा व्यय देने पर मंत्री ऐसे चित्रों को छपवा दे सकते हैं। परंतु ब्लाक प्रबंध समिति की विशेष अनु-मति के बिना किसी को मँगनी न दिए जायँ।

(५) ज्ञानमंडल का २६–५–८० का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें प्रार्थना थी कि उस संस्था के संबंध में सभा ने अभी तक आकर पुस्तकें देने की जो रिआयत कर रक्खी थी, उसे वह कृपा कर कायम रक्खे।

निश्चय हुआ कि जब सभा की पुस्तकें सब जगह नगद मूल्य पर जाती हैं, तब केवल किसी एक संस्था से उसके विपरीत व्यवहार रखना समिति उचित नहीं समझती।

(६) मारवाड़ी अग्रवाल कार्यालय, कलकत्ता का १-६-२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के चित्र का छोटा ब्लाक मँगनी माँगा था।

निश्चय हुआ कि इस संबंध में आज के निश्चय नं० ४ के अनुसार कार्य किया जाय।

(७) संयुक्त-प्रदेश के डाइरेक्टर का ८ सितंबर का पत्र नं० ८४ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने गवर्न्मेंट की कुछ पुस्तकों के छपाने के संबंध में टेंडर माँगे थे।

निश्चय हुआ कि सभा इन पुस्तकों में से किसी के छपने का ठेका नहीं ले सकती।

(८) हिंदी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने नए नियमों के अनुसार सभा से वार्षिक शुल्क का २) माँगा था।

विशेष विचार के अनंतर निश्चय हुआ कि सम्मेलन से जो इस सभा का संबंध है, वह तोड़ दिया जाय और यह सभा सम्मेलन की संबद्ध सभाओं में न गिनी जाय।

(९) ज्ञानमंडल, काशी का ११-६-८० का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें यह लिखा था कि अशोक की धर्म-लिपियों के २३ चित्रों को ज्ञानमंडल इस शर्त पर लेना चाहता है कि उन चित्रों के जो ब्लाक बनेंगे, वे सभा को एक बार छापने के लिये मँगनी दिए जायँगे। दूसरी बार उनकी आवश्यकता होने पर मंडल ग्राहक दर से व्यय लेकर उन चित्रों को छाप देगा।

निश्चय हुआ कि यह शर्त स्वीकार की जाय और उनको लिखा जाय कि इन चित्रों से बने हुए ब्लाकों को जब कभी वे छापें तो प्रत्येक चित्र पर यह भी अवश्य छपे कि वे काशीनागरी-प्रचारिणी-सभा की कृपा से प्राप्त हैं।

(१०) बनारस म्युनिसिपल बोर्ड का ६ अक्टूबर का पत्र नं० ३६२६ उपस्थित किया गया जिसमें लिखा था कि म्युनिसिपल बोर्ड

ने सभा के हाथ उसके भवन के पीछे की ज़मीन ४०००) पर बेचना स्वीकार किया है और इसके लिये कमिश्नर की अनुमति माँगी गई है।

निश्चय हुआ कि यह धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जाय और मंत्री को यह अधिकार दिया जाता है कि जिस समय इस ज़मीन का बैनामा लिखवाकर रुपया देने की आवश्यकता हो, उस समय यदि सभा में रुपया तयार न हो तो वे चार हज़ार रुपये तक उधार लेकर इस कार्य्य को संपन्न करें।

(११) मंत्री के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि सभा के पुस्तकालय के लिये छः नई अलमारियाँ बनवा ली जायँ।

(१२) नागरीप्रचारिणी-सभा बहराइच का २७-६-२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें प्रार्थना थी कि उस सभा का संबंध इस सभा से स्थापित किया जाय।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(१३) रायबहादुर बाबू हीरालाल संपादित हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की सन् १९१७-१९ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार की जाय और गवर्नमेंट के पास भेज दी जाय। रायबहादुर बाबू हीरालाल को इस कार्य को संपन्न कर देने के लिये विशेष धन्यवाद दिया जाय।

(१४) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का ६-१०-२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मैं अपनी पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ, सरस्वती के १७ वर्षों के लेखों की हस्त-लिखित प्रतियाँ तथा अपने कुछ पत्र व्यवहार के साथ अपना पुस्तकों का वह संग्रह जो जूही में है, सभा को देना चाहता हूँ। यदि सभा चाहे तो किसी को भेजकर पुस्तकें आदि मँगा ले।

निश्चय हुआ कि यह दान धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जाय तथा यह समस्त संग्रह अलग अलमारियों में रक्खा जाय जिन पर यह लिखा रहे "पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का संग्रह"। यह भी निश्चय हुआ कि मंत्री इस संग्रह के शीघ्र मँगवाने का प्रबंध करें

और इसे सभा के उक्त निश्चय के अनुसार रक्षापूर्वक पुस्तकालय में रक्खें।

(१५) लाला संतराम का ५ अक्तूबर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने अपने किए इत्सिंग के अनुवाद के सभा द्वारा प्रकाशित किए जाने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय और उन्हें १२) रुपया प्रति सोलह पेजी डबल क्राउन में छपे फर्मे के हिसाब से पुरस्कार दिया जाय।

(१६) निश्चय हुआ कि विशेष कार्यों के लिये यह अधिवेशन १२ कार्तिक १९८० तक के लिये स्थगित किया जाय।

---

(१६) संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान*

(लेखक—धीरेन्द्र वर्म्मा, एम० ए०, इलाहाबाद।)

संसार की भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण

वंश-क्रम के अनुसार भाषा-तत्त्वविज्ञ संसार की भाषाओं को वर्गों, उपवर्गों, कुलों, उपकुलों, शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभक्त करते हैं। हिन्दी भाषा का संसार की भाषाओं में कौन स्थान है, यह समझने के लिये इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन सब भाषाओं की गणना एक वर्ग में की जाती है जिनके संबंध में यह प्रमाणित हो चुका हो कि ये सब किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। नए प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्त्तन भी हो सकता है। अब तक की खोज के आधार पर संसार की भाषाएँ निम्न लिखित मुख्य वर्गों में विभक्त की गई हैं †—

(क) भारत-यूरोपीय वर्ग—हम लोगों की दृष्टि में इस वर्ग का स्थान सब से प्रथम है। कुछ विद्वान् इस वर्ग को आर्य्य, भारत-जर्मनिक तथा जफ़ेटिक‡ नाम से भी पुकारते हैं। इस वर्ग की

---

* ये लेख "हिन्दी भाषा का इतिहास" शीर्षक पुस्तक के प्रारंभिक अध्याय हैं।

† भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्य मात्र की क्या कोई एक मूलभाषा भी थी, इत्यादि प्रश्न भाषा-विज्ञान से संबंध रखते हैं। हमारे क्षेत्र से ये पूर्ण रूप से बाहर हैं।

‡ जफ़ेटिक नाम मनुष्य जाति के बाइबिल के अनुसार वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफ़ेटिक के अतिरिक्त मनुष्य जाति के दो अन्य विभाग सेमिटिक और हैमेटिक के नाम से भी बाइबिल में किए गए हैं। इनमें से भी प्रत्येक के नाम पर एक एक भाषा वर्ग का नाम पड़ा है। मनुष्य जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में संदेह होने पर जफ़ेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अब भी प्रचलित हैं। भारत-जर्मनिक से तात्पर्य्य उन

भाषाएँ उत्तर भारत, अफ़गानिस्तान, फ़ारस तथा प्रायः संपूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, पाली, जेन्द, फ़ारसी, ग्रीक, लेटिन इत्यादि प्राचीन भाषाएँ इसी वर्ग की थीं। आजकल इस वर्ग में अँग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, नूतन फ़ारसी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बँगला तथा गुजराती इत्यादि भाषाएँ हैं।

(ख) सेमिटिक वर्ग—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओं के केन्द्र जैसे फोनेशिया, अरमीया तथा असीरिया के लोगों की भाषाएँ इसी वर्ग की थीं। इन प्राचीन भाषाओं के नमूने अब केवल शिला-लेखों इत्यादि में मिलते हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा जिसमें मूल बाइबिल लिखी गई थी और प्राचीन अरबी भाषा जिसमें क़ुरान है, इसी वर्ग की हैं। आज कल इस वर्ग की उत्तराधिकारिणी वर्त्तमान अरबी तथा हबशी भाषाएँ हैं।

(ग) हैमिटिक वर्ग—इस वर्ग में मिश्र देश की प्राचीन भाषा मुख्य थी। इसके नमूने चित्रलिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ्रीका

भाषाओं से लिया जाता था जो पूरब में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती हैं। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयर्लैंड की केल्टिक भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं, तब यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरम्भ में भाषा-शास्त्र में जर्मन विद्वानों ने अधिक कार्य्य किया था और यह नाम उन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अब भी इस वर्ग का यही नाम प्रचलित है। आर्य्य वर्ग नाम सरल तथा उपयुक्त था; किन्तु एक तो इससे यह भ्रम होता था कि आर्य्य वर्ग की भाषाएँ बोलनेवाले सब लोग आर्य्य जाति के होंगे, जो सत्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय कुलों का संयुक्त नाम आर्य्य-उपवर्ग पड़ चुका था, अतः यह सरल नाम छोड़ देना पड़ा। भारतीय-योरोपीय नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और युरोप में बोली जानेवाली सभी भाषाओं की गणना इस वर्ग में होनी चाहिए। किन्तु भारत में ही द्रविड़ इत्यादि दूसरे कुलों की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस नाम में दूसरी त्रुटी यह है कि भारत और युरोप के बाहर बोली जानेवाली ईरानी भाषा के कुल का उल्लेख इसमें नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस वर्ग का यही नाम प्रचलित हो गया है। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी विद्वान् इस वर्ग को भारत-युरोपीय नाम से ही पुकारते हैं।

के समुद्र तट के कुछ भाग में प्रचलित लीबियन या बर्बर तथा पूर्व भाग के कुछ अंश में बोली जानेवाली एथिओपियन आदि इसी वर्ग की भाषाएँ हैं। मिस्र देश की वर्त्तमान भाषा अरब के मुसलमानों के प्रभाव के कारण अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री भाषा काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल निवासी, जो काप्टिक नाम से प्रसिद्ध हैं, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं।

(घ) तिब्बती-चीनी वर्ग—इस वर्ग को बौद्ध वर्ग नाम देना अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि जापान को छोड़कर शेष समस्त बौद्धधर्म्मावलम्बी देश जैसे चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के आन्तरिक प्रदेश, इसी वर्ग की भाषाएँ बोलनेवालों से बसे हैं। संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में इस वर्ग की भाषाएँ प्रचलित हैं। इन सब में चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक चीनी भाषा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

(ङ) यूरल-अलटाइक वर्ग—इसको तूरानी या सीदियन वर्ग भी कहते हैं। इस वर्ग की भाषाएँ चीन के उत्तर में मंगोलिया, मंचूरिया तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी वर्ग की है। यूरोप में भी इसकी एक शाखा गई है जिसकी भिन्न भिन्न बोलियाँ रूस के कुछ भागों में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान् जापान तथा कोरिया की भाषाओं की गणना भी इसी वर्ग में करते हैं। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी वर्ग में रखते हैं।

(च) द्राविड़ वर्ग—इस वर्ग की भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। इसमें मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनड़ी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह उत्तर भारत की आर्य्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं।

(छ) मैले-पोलीनेशियन वर्ग—मलाका प्रायद्वीप, प्रशान्त महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों तथा अफ्रीका के

निकटवर्त्ती मडागास्कर द्वीप में इस वर्ग की भाषाएँ बोली जाती हैं। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी वर्ग की हैं। भारत में संथालों इत्यादि की कोल-भाषाएँ इसी वर्ग में गिनी जाती हैं। मलय साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में तो ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक के लेख इसी वर्ग की भाषाओं में मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिन्दू काल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

(ज) बंटू वर्ग— इस वर्ग की भाषाएँ दक्षिण अफ्रीका के आदिम निवासी बोलते हैं।

(झ) मध्य-अफ्रीका वर्ग—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू वर्गों के बीच में शेष मध्य अफ्रीका में एक तीसरे वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं। इनकी गिनती मध्य-अफ्रीका वर्ग में की गई है। इनमें से जंजीबार की स्वाहिली भाषा तथा अफ्रीका के मरुदेश सूडान की हौसा भाषा मध्य-अफ्रिका के व्यापारियों के बहुत काम की है। यही इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएँ हैं।

(ञ) अमेरिका की भाषाओं का वर्ग—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों की बोलियों को एक पृथक् वर्ग में स्थान दिया गया है। मध्य अफ्रीका की बोलियों की तरह इनकी संख्या भी बहुत है तथा इनमें आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी थोड़ी दूर पर बोली में अन्तर हो जाता है।

कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक ठीक ठीक नहीं हो सका है। इनमें आस्ट्रेलिया महाद्वीप की बोलियों की गणना सबसे पहले करनी होगी। इन बोलियों का एक पृथक् वर्ग मानना होगा। काकेशिया प्रदेश की भाषाओं को भी किसी अन्य वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। युरोप की बास्क तथा यूट्रस्कन नाम की भाषाएँ भी बिलकुल निराली हैं। संसार के किसी भाषा-वर्ग में इनकी गणना नहीं की जा सकी है। यूरोप के भारत-युरोपीय वर्ग की भाषाओं से इनका कुछ भी संबंध नहीं है।

भारत-युरोपीय वर्ग

संसार की भाषाओं के इन दस मुख्य वर्गों में से हमारा भारत-युरोपीय वर्ग से विशेष संबंध है। जैसा कहा जा चुका है, इस वर्ग की भाषाएँ प्रायः संपूर्ण युरोप, ईरान, अफ़गानिस्तान तथा उत्तर भारत में फैली हुई हैं। इन्हें दो समुदायों में विभक्त किया जाता है जो 'केन्टम' और 'शतम' समुदाय * कहलाते हैं। प्रत्येक समुदाय में चार चार भाषा कुल हैं। इन आठों कुलों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) आर्य्य या भारत-ईरानी—इस कुल में दो मुख्य उपकुल हैं। प्रथम में भारतीय आर्य्य भाषाएँ हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषाएँ। इनका विशेष उल्लेख आगे किया जायगा।

(२) आरमेनियन—आर्य्य कुल के पश्चिम में आरमेनियन है। इसमें ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओं के बीच में है।

(३) बाल्टो-स्लेवॉनिक—इस कुल की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में प्रायः संपूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आर्य्य कुल की तरह इसके भी दो उपकुल हैं। बाल्टिक उपकुल में लिथूनियन लेटिश, और प्राचीन प्रशियन बोलियाँ हैं। स्लैवॉनिक उपकुल में बलगेरिया की

---

* भारत-युरोपीय वर्ग को दो समुदायों में विभक्त करने का आधार कुछ मूल कंठदेशीय वर्णों (क, ग, ख, घ) का इन समुदायों की भाषाओं में भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समुदाय में यह व्यंजन ही रहते हैं, किन्तु दूसरे में यही ऊष्म (sibilants) हो जाते हैं। यह भेद इन भाषाओं में पाए जानेवाले "सौ" शब्द के दो भिन्न रूपों से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समुदाय की भाषाओं में से एक है, 'सौ' के लिये 'केन्टम' शब्द आता है; किन्तु संस्कृत में, जो दूसरे समुदाय की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहला समुदाय बिलकुल युरोपीय है और 'केन्टम समुदाय' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समुदाय में पूर्व-युरोप, ईरान तथा भारत की आर्य्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। यह 'शतम समुदाय' कहलाता है।

प्राचीन भाषा, रूस की भाषाएँ, सर्वियन, स्लोवन, पोलैंड की भाषा, ज़ेक अथवा बोहेमियन और सार्व यह मुख्य भेद हैं।

(४) अलबेनियन—'शतम समुदाय' की अन्तिम भाषा अलबेनियन है। आरमेनियन की तरह इस पर भी निकटवर्त्ती भाषाओं का प्रभाव अधिक है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता।

(५) ग्रीक—'केन्टम समुदाय' की भाषाओं में यह सब से पहली है। प्रसिद्ध होमर कवि ने 'ईलियड' तथा 'ओडेसी' नामक महाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुक़रात तथा अरस्तू के मूल ग्रन्थ भी इसी में हैं। आजकल भी यूनान देश में इसी प्राचीन भाषा की बोलियों में से एक का नवीन रूप बोला जाता है।

(६) इटैलिक या लैटिन—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लैटिन भाषा के कारण यह कुल विशेष आदरणीय हो गया है। युरोप की संपूर्ण वर्त्तमान भाषाओं पर लैटिन और ग्रीक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। विज्ञान के शब्दों का निर्माण इन्हीं भाषाओं के सहारे होता है। इटली, फ्रांस, स्पेन, रूमानिया तथा पुर्तगाल की वर्त्तमान भाषाएँ लैटिन की ही पुत्रियाँ हैं।

(७) केल्टिक—इस कुल की भाषाओं के दो मुख्य भेद हैं। एक का वर्त्तमान रूप तो आयर्लैंड में मिलता है तथा दूसरे का ग्रेट-ब्रिटेन के वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है। इस कुल की पुरानी गाल भाषा अब जीवित नहीं है।

(८) जर्मनिक या ट्यूटानिक—इसका प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। प्राचीन नार्स भाषा से निकट ऐतिहासिक काल में स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क तथा आइसलैंड की भाषाएँ निकली हैं। जर्मन, डच, फ्लेमिश तथा अंग्रेजी भाषाएँ इसी कुल में हैं।

आर्य्य अथवा भारत-ईरानी कुल

भारत-युरोपीय वर्ग के इन आठ कुलों में आर्य्य अथवा भारत-

ईरानी कुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, इसके दो मुख्य उपकुल हैं। एक में ईरान की भाषाएँ हैं और दूसरे में भारत की आर्य्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। एक तीसरा उपकुल पिशाच या भारतीय असंस्कृत आर्य्य भाषाओं* का भी माना जाने लगा है।

(१) **ईरानी**—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के चार भेद मिलते हैं—(क) सबसे प्रथम **जेंद** अर्थात् पारसियों के धर्म्म ग्रन्थ अवस्ता की भाषा है। अवस्ता के सबसे पुराने भाग ईसा से पूर्व चौदहवीं शताब्दी के माने जाते हैं। जेंद भाषा ऋग्वेद की संस्कृत से बहुत मिलती है। ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्य्य कुल का मानते थे। इस कुल का उल्लेख भी इनके ग्रंथों में बहुत स्थानों पर आया है। (ख) जेंद के बाद **पुरानी फ़ारसी** भाषा के नमूने मिलते हैं। यह कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला खंडों और ईंटों पर पाए गए हैं। हखामनीय वंश के महाराज दारा (५२२–४८६ पू० ई०) के शिलालेख पुरानी फारसी भाषा में हैं। इन लेखों में दारा अपने आर्य्य कुल में होने का

---

* मध्य-एशिया से आर्य्य लोग भारत में दो मार्गों से आए थे : एक तो हिंदूकुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से और दूसरे वक्षु (Oxus) नदी के उद्गम स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतों को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आनेवाले सब आर्य्य उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गए थे, इसमें संदेह है। कम से कम कुछ आर्य्य हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में अवश्य रह गए थे। इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक है; क्योंकि संस्कृत का विशेष दृढ़ रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आजकल इन भाषाओं के बोलनेवाले काश्मीर तथा उसके उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पाए जाते हैं। यह भाषाएँ **भारतीय-असंस्कृत आर्य्य भाषाएँ** कहलाती हैं। इनका दूसरा नाम **पिशाच या दर्द** भी है। **काश्मीरी** भाषा भी इन्हीं में से एक है। कुछ समय से इस पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि यह भारत की शेष आर्य्य भाषाओं में गिनी जाने लगी थी। काश्मीरी प्रायः शारदा लिपि में लिखी जाती है। मुसल्मान लोग फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

उल्लेख गर्व के साथ करता है। (ग) पुरानी फ़ारसी के बाद माध्यमिक फ़ारसी का काल आता है। इसका मुख्य रूप पह्लवी है। ईसवी तीसरी से सातवीं शताब्दी तक ईरान में ससान वंशी राजाओं ने राज्य किया था। उनके संरक्षण में पह्लवी साहित्य ने बहुत उन्नति की थी। (घ) नई-फ़ारसी का सबसे प्राचीन रूप फ़िरदौसी के शाहनामे में मिलता है। फ़िरदौसी ने सेमिटिक वर्ग के शब्दों को अपनी भाषा में नहीं मिलने दिया था; परन्तु आज कल साहित्यिक फ़ारसी में अरबी शब्दों की भरमार हो गई है। अफ़गानिस्तान की पश्तो भाषा तथा बलूचिस्तान की बलूची नई फ़ारसी की ही प्रशाखाएँ हैं।

(२) भारतीय आर्य्य-भाषा—यह तीन कालों में विभक्त की जाती हैं—प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल तथा तृतीय प्राकृत काल। (क) प्रथम प्राकृत काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिह्न नहीं रहा है। (ख) द्वितीय प्राकृत काल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत, पाली, अशोक की धर्म्म-लिपियों की भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ इसी काल में गिनी जाती हैं। (ग) तृतीय प्राकृत काल में भारत की वर्त्तमान आर्य्य भाषाएँ हैं। इनके भिन्न भिन्न रूप आज कल समस्त उत्तर भारत में बोले जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनमें हिन्दी, बँगला, मराठी तथा गुजराती मुख्य हैं।

वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाएँ

इन वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं का कुछ विस्तार से वर्णन करना उचित होगा; क्योंकि हिंदी भाषा इन्हीं में से एक है। इन भाषाओं का एक दूसरे से बहुत निकट का संबंध है और इनका प्रभाव भी एक दूसरे पर अधिक पड़ा है।

भाषा-तत्त्व के आधार पर इन भाषाओं को तीन समुदायों में

विभक्त किया जाता है—मध्यस्थित या अंदर की, अन्तरस्थित या बीच की, और बहिरस्थित या बाहरी। (क) मध्य के समुदाय में केवल एक ही भाषा हिंदी है। पूर्वी हिंदी से भेद स्पष्ट करने के लिये इसे पश्चिमी हिंदी भी कहते हैं। (ख) बीच के समुदाय में बहुत सी भाषाएँ सम्मिलित हैं। इनमें से पंजाबी, राजस्थनी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ मध्यस्थित हिंदी-भाषा के अधिक निकट हैं। केवल पूर्वी हिंदी का बाहरी भाषाओं से अधिक संबंध है। (ग) बाहरी भाषा-समुदाय में पश्चिमोत्तर में लहँदा और सिन्धी, दक्षिण में मराठी तथा पूर्व में बिहारी, उड़िया, बंगाली और आसामी हैं।

(१) **हिंदी या पश्चिमी हिंदी**—यह मनुस्मृति के 'मध्य देश' की वर्त्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खड़ी बोली से वर्त्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इसकी एक दूसरी बोली व्रजभाषा, पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व साहित्य के क्षेत्र में वर्त्तमान हिंदी भाषा का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में और भी कई बोलियाँ सम्मिलित हैं; किन्तु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उत्तर-मध्य-भारत का वर्त्तमान साहित्य हिंदी भाषा में ही लिखा जा रहा है। पढ़े लिखे मुसलमानों में उर्दू का प्रचार है।

(२) **पंजाबी**—पंजाबी भाषा हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह मध्य-पंजाब में बोली जाती है। पंजाब के पश्चिम भाग में लहँदा और पूर्व भाग में स्वयं हिंदी ही का क्षेत्र है। पंजाबी पर दर्द अथवा पिशाच भाषाओं का भी काफ़ी प्रभाव है। पंजाबी भाषा लहँदा से ऐसी मिली हुई है कि दोनों का अलग करना कठिन है; किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका भेद स्पष्ट है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा कहलाती है। यह राजपूताने की महाजनी और काश्मीर

की शारदा लिपि से मिलती जुलती है। यह लिपि बहुत अपूर्ण है और इसके पढ़ने में बहुत कठिनता होती है। सिक्खों के गुरु अंगद (१५३८–५२ ईसवी) ने देव नागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लंडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आज कल पंजाबी भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। मुसलमानों के अधिक संख्या में होने के कारण पंजाब में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत है। उर्दू फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। प्रत्येक पंजाबी नागरिक हिंदू उर्दू लिखना पढ़ना जानता है। पंजाबी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। पंजाबी में साहित्य अधिक नहीं है। सिक्खों के ग्रंथ साहब की भाषा प्रायः पुरानी हिंदी है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरों में लिखा गया है। पंजाबी भाषा में बोलियों का भेद अधिक नहीं है। उल्लेख योग्य केवल एक बोली 'डोग्री' है। यह जम्मू राज्य में बोली जाती है। 'टकरी' या 'टाकरी' नाम की इसकी लिपि भी भिन्न है।

(३) राजस्थानी—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी अथवा राजस्थान की भाषा है। एक प्रकार से यह हिंदी का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अन्तिम सीढ़ी गुजराती है। राजस्थानी में मुख्य चार बोलियाँ हैं—(१) मेवाती, (२) मालवी, (३) जयपुरी और (४) मारवाड़ी। इन बोलियों में और भी सूक्ष्म भेद हैं। राजस्थानी भाषा बोलनेवाले भूमिभाग में हिंदी भाषा ही साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियों में से किसी को नहीं मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य मारवाड़ी में पाया जाता है। पुरानी मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कम भेद है। निज के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाड़ियों के साथ महाजनी लिपि समस्त-उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

(४) गुजराती–गुजराती भाषा गुजरात, बड़ौदा और निकटवर्त्ती

अन्य देशी राज्यों में बोली जाती है। गुजराती में बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं है। पारसियों द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजराती पश्चिम भारत में व्यवसाय की भाषा हो गई है। भीली और खानदेशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य बहुत विस्तीर्ण तो नहीं है, किंतु तो भी उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता (जन्म सन् १४१३ ईसवी) का गुजरात में अब भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचंद्र भी गुजराती ही थे। यह बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। इन्होंने अपने व्याकरण में गुजरात की नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। वैदिक काल से अब तक की भाषा के क्रमपूर्वक उदाहरण केवल गुजरात में ही मिल सकते हैं; अन्य स्थानों की आर्य्य भाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। बीच के समुदाय की भाषाओं में केवल गुजराती ही बाहरी समुदाय की भाषाओं को तोड़कर समुद्र तक पहुँची है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अब गुजरात में कैथी से मिलते जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है।

(५) पूर्वी पहाड़ी:—यह हिमालय के दक्षिण पार्श्व में नेपाल में बोली जाती है। इसको नेपाली, पर्बतिया, गोरखाली और खस-कुरा भी कहते हैं। पूर्वी-पहाड़ी भाषा का विशुद्ध रूप काठमंडो की घाटी में बोला जाता है। इसमें कुछ नवीन साहित्य भी है। नेपाल राज्य की अधिकांश प्रजा की भाषाएँ तिब्बती-चीनी वर्ग की हैं। इनमें मुख्य नेवार जाति के लोगों की भाषा 'नेवारी' है। नेपाल के राज-दरबार में हिंदी भाषा का बहुत आदर है। नेपाली का अध्ययन जर्मन और रूसी विद्वानों ने विशेष किया है। नेपाली देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

(६) माध्यमिक पहाड़ी—इसके दो मुख्य भेद हैं:—कुमायूनी और गढ़वाली। इनमें साहित्य विशेष नहीं है। यहाँ के लोगों ने

साहित्यिक व्यवहार के लिये हिंदी भाषा को ही अपना लिया है। साधारणतया यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है।

(७) पश्चिमी पहाड़ी—इस भाषा की भिन्न भिन्न बोलियाँ सरहिंद के उत्तर में शिमले के निकटवर्त्ती प्रदेश में बोली जाती हैं। इन बोलियों का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है, न इनमें साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियों का पता चला है जिनमें संयुक्त प्रांत के जौनसार-बावर प्रदेश की बाली जौनसारी, शिमला पहाड़ की बोली क्योंथर्ली, कुलू प्रदेश की कुलुई और चम्बा राज्य की चम्बाली मुख्य हैं। चम्बाली बोली की लिपि भिन्न है। शेष टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती है।

वर्त्तमान पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यामिक पहाड़ी का संबंध जयपुरी से और पश्चिमी पहाड़ी का संबंध मारवाड़ी से अधिक विदित होता है। पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व काल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को यह लोग पूर्व-राजस्थान में चले गए थे। मुसलमान काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, तब इन खस विजेताओं के साथ यहाँ के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस संपर्क के कारण ही राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कुछ समानता पाई जाती है।

(८) पूर्वी हिन्दी—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पूर्वी हिन्दी का क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी के पूर्व में पड़ता है। यह कुछ बातों में पश्चिमी हिन्दी से मिलती है और कुछ में बाहरी समुदाय की बिहारी भाषा से। व्याकरण के अधिकांश रूपों में इसका संबंध पश्चिमी हिन्दी से कम है। पूर्वी हिन्दी भाषा में तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी बोली का दूसरा नाम कोसली भी है। कोसल अवध का प्राचीन नाम था। वहीं श्रीरामचन्द्र जी हुए थे। तुलसीदास जी के समय से श्रीरामचन्द्र जी के यशोगान

में प्रायः अवधी का ही प्रयोग होता रहा है। जैन धर्म्म के प्रवर्त्तक महावीर जी ने अपने धर्म्म का प्रचार करने में यहाँ की ही प्राचीन बोली अर्ध-मागधी का प्रयोग किया था। बहुत सा जैन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में है। अवधी और बघेली भाषा में साहित्य बहुत है। पूर्वी हिन्दी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई में तो सदा इसी का प्रयोग होता है। लिखने में कभी कभी कैथी लिपि भी काम में आती है। अपने प्राचीन रूप अर्धमागधी प्राकृत के समान पूर्वी हिन्दी अब भी बीच की भाषा है। इसके पश्चिम में शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिन्दी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

यहाँ तक बीच की और भीतरी भाषाओं का वर्णन हुआ। अब बाहरी भाषाओं के संबंध में लिखना है। हिन्दी और बाहरी समुदाय की भाषाओं में विशेष अन्तर यह है कि हिन्दी भाषा वियोगात्मक है, किन्तु बाहरी समुदाय की भाषाएँ इस अवस्था को पार करके अब फिर संस्कृत के समान संयोगात्मक होती जा रही हैं। बाहरी समुदाय में तीन विभाग हैं। इनमें से पश्चिमोत्तर विभाग में लहँदा और हिन्दी भाषाएँ हैं।

(६) लहँदा—यह पश्चिम पंजाब की भाषा है। पंजाबी के वर्णन में बताया जा चुका है कि इसकी और पंजाबी की सीमाएँ ऐसी मिली हुई हैं कि दोनों का भेद करना दुःसाध्य है। लहँदा पर पिशाच भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पड़ता है जहाँ पैशाची प्राकृत तथा व्राचड़ अपभ्रंश बोली जाती थी। लहँदा के अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची, तथा हिन्दकी हैं, किन्तु यह सब अनुपयुक्त हैं। पंजाबी में 'लहन्दे दी बोली' का अर्थ 'पश्चिम की बोली' है ('लहँदा' शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है)। लहँदा में न तो विशेष साहित्य है और न वह कोई साहित्यक भाषा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती जुलती बोलियों का समूहमात्र है। लहँदा का व्याकरण और

शब्द समूह दोनों पंजाबी से भिन्न हैं। यद्यपि इसकी अपनी भिन्न लिपि 'लंडा' है, किन्तु आजकल यह प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

(१०) सिन्धी—सिंध देश में सिन्धु नदी के दोनों किनारों पर सिंधी भाषा बोली जाती है। इस भाषा के बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं, इसी लिये इसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से होता है। सिंधी फ़ारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि निज के हिसाब किताब में देवनागरी लिपि का एक बिगड़ा हुआ रूप भी व्यवहृत होता है। इसकी अपनी लिपि लंडा है। कभी कभी यह गुरुमुखी में भी लिखि जाती है। सिन्धी भाषा की पाँच मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से मध्य भाग की 'बिचोली' बोली साहित्य की भाषा का स्थान लिए हुए है। सिन्ध प्रदेश में ही पूर्व काल में व्राचड़ देश था, जहाँ की प्राकृत और अपभ्रंश इस देश के नाम से ही प्रसिद्ध है। सिन्ध के दक्षिण में कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है। यह सिन्ध और गुजराती का मिश्रण है। सिन्धी भाषा में साहित्य बहुत कम है।

(११) मराठी—दक्षिण में महाराष्ट्री प्राकृत की पुत्री मराठी भाषा है। यह संपूर्ण महाराष्ट्र में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ हैं। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से पूने के निकट बोली जानेवाली देशी मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोड़ी' लिपि का व्यवहार होता है। इसका आविष्कार महाराज शिवाजी (१६२७-८० ईसवी) के सुप्रसिद्ध मन्त्री बालाजी अवाजी ने किया था। मराठी का साहित्य बहुत विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

(१२) बिहारी—यद्यपि राजनीतिक, धार्म्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त प्रांत से रहा है, किन्तु यहाँ की

भाषा बँगला की बहन है। बँगला, उड़िया और आसामी के साथ इसकी उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से हुई है। हिन्दी भाषा बिहारी की चचेरी बहन कही जा सकती है। मागध अपभ्रंश के बोले जानेवाले भूमिभाग में ही आजकल बिहारी बोली जाती है। बिहारी भाषा में तीन मुख्य बोलियाँ हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी। इनमें मैथिली और मगही एक दूसरे के अधिक निकट हैं; भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में आते हैं तथा लिखने में साधारणतया कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों की एक अपनी लिपि अलग है जो मैथिली कहलाती है और बँगला अक्षरों से बहुत मिलती है।

(१३) उड़िया—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्त्तमान उड़िया उपप्रान्त में यह बोली जाती है। इसको उत्कली अथवा ओड्री भी कहते हैं। उड़िया शब्द का शुद्ध रूप ओड़िया है। सबसे प्रथम कुछ उड़िया शब्द तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आए हैं। प्रायः एक शताब्दी के बाद का एक अन्य शिलालेख मिलता है जिसमें कुछ वाक्य उड़िया भाषा में लिखे पाए गए हैं। इनसे विदित होता है कि उस समय तक उड़िया भाषा को बहुत कुछ विकास प्राप्त हो चुका था। उड़िया लिपि बहुत कठिन है। उस का व्याकरण बंगाली से बहुत मिलता जुलता है, इसलिये बंगाली के कुछ पंडित इसे बंगाली भाषा की एक बोली समझते थे; किन्तु यह भ्रम था। बंगाली के साथ ही उड़िया भी मागधी अपभ्रंश से निकली है। बंगाली और उड़िया आपस में बहनें हैं; इनका संबंध माँ-बेटी का नहीं है। उड़िया लोग बहुत काल तक विजित रहे हैं। आठ शताब्दी तक उड़ीसा में तैलंगों का राज्य रहा। अभी कुछ ही काल पूर्व प्रायः पचास वर्ष तक नागपुर के भोंसले राजाओं ने उड़ीसा पर राज्य किया है। इन कारणों से उड़िया भाषा में तेलगू और मराठी शब्द बहुतायत से पाए आते हैं। मुसलमानों

और अँग्रेज़ों के कारण फ़ारसी और अँग्रेज़ी शब्द तो हैं ही। उड़िया साहित्य विशेष रूप से श्रीकृष्ण के संबंध में है।

(१४) **बंगाली**—बंगाली गंगा के मुहाने और उसके उत्तर और पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। गाँव के बँगालियों और नगरवालों की बोली में बहुत अंतर है। साहित्य की भाषा में संस्कृत तत्समों का प्रचार शायद बँगला में सबसे अधिक है। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी बँगला में भेद है। पूर्वी बँगला का केन्द्र ढाका है। हुगली के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी बँगला का एक रूप ही वर्त्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बँगला उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देने के लिये प्रसिद्ध ही है। बंगाली का साहित्य अत्यंत उत्तम अवस्था में है। बँगला लिपि देवनागरी का ही एक रूप है।

(१५) **आसामी**—आसामी बाह्य विभाग की अंतिम भाषा है। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है, यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहाँ के लोग इसे असमिया कहते हैं। उड़िया की तरह आसामी भी बँगला की बहन है, बेटी नहीं। यद्यपि आसामी व्याकरण बँगला व्याकरण से बहुत भिन्न नहीं है, किंतु इन दोनों के साहित्य की प्रगति पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। आसामी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं है। अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं में यह अभाव बहुत खटकता है। आसामी प्रायः बँगला लिपि में लिखी जाती है। इसमें कुछ सुधार अवश्य कर लिया गया है।

हिंदी भाषा

इस प्रकार संसार के भाषा-वर्गों में भारत-युरोपीय वर्ग के भारत-ईरानी कुल में भारतीय आर्य्य उपकुल के मध्य समुदाय की पश्चिमी हिंदी भाषा की खड़ी बोली के आधार पर आधुनिक हिंदी भाषा की सृष्टि हुई है। वर्त्तमान समय में यह पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी तथा राजस्थानी भाषा-क्षेत्रों के हिंदुओं की सर्वमान्य

साहित्यिक भाषा है*। इस भूमिभाग के अतिरिक्त बिहारी तथा राजस्थानी के प्रदेशों में भी हिंदी ही आजकल साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त हुए है। अतः भारत के निम्नलिखित प्रांतों की भाषा हिंदी कही जा सकती है:—संयुक्त प्रांत, देहली, पंजाब के सरहिंद के जिले, राजस्थान, अजमेर, मध्य भारत, हिंदुस्तानी मध्य प्रांत और उड़ीसा को छोड़कर शेष बिहार प्रांत।

---

* इस भूमिभाग में गाँव के मुसल्मान भी प्रायः हिंदुओं की ही बोलियाँ बोलते हैं, यद्यपि उनका आदर्श नगर-निवासी मुसल्मानों की भाषा उर्दू अवश्य है। उर्दू हिंदी की मुसलमान धर्म ग्रहण करनेवाली सगी बहन है। वास्तव में यह दोनों एक हैं। उर्दू का व्याकरण तो प्रायः हिंदी भाषा के समान ही है, केवल शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श पर संस्कृत के स्थान पर उर्दू में फ़ारसी का प्रभाव अधिक है। लिपि का भेद विशेष है। हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, किंतु उर्दू फारसी लिपि में। पंजाब में पढ़े लिखे हिंदू और मुसलमान दोनों उर्दू का ही व्यवहार करते हैं। देहली प्रांत, सरहिंद तथा संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग के हिंदू घरों में अब भी उर्दू का प्रचार अधिक है, यद्यपि यह लोग धीरे धीरे हिंदी को अपना रहे हैं। पहाड़ी भाषाओं के प्रदेश में हिंदी ने साहित्यिक भाषा का स्थान ले लिया है। व्याकरण की एकता होने पर भी साहित्य की भारी विभिन्नता के कारण उर्दू भाषा की गिनती हिंदी भाषा से पृथक् करनी पड़ती है।

(१७) हिन्दी की पूर्ववर्ती आर्य भाषाएँ

(लेखक—धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, इलाहाबाद)

पिछले लेख में हम दिखला चुके हैं कि भारत की अन्य वर्त्तमान आर्य्य भाषाओं के साथ ही हिन्दी भाषा का जन्म भी प्राचीन आर्यों की भाषा से हुआ है। इन प्राचीन भारतीय आर्य्यों की तत्कालीन भाषा धीरे धीरे हिंदी भाषा के रूप में कैसे परिवर्त्तित हो गई, इस लेख में इसी पर विचार किया जायगा।

आर्यों का आदिम स्थान—सबसे पहले इन भारतीय आर्यों के आदिम स्थान के संबंध में कुछ जान लेना उत्तम होगा *। हमारे

---

* हमारे प्राचीन ग्रंथों में आर्य्यों के भारत आगमन के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य्य लोगों का मूलस्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य-सृष्टि हुई थी और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में आर्य्य लोग भी वहीं से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर पूज्यवर पंडित बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रदेश में आर्य्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादित किया था। इस कल्पना का खंडन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि आर्य्यों का मूलस्थान भारत में ही सरस्वती नदी के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के आन्तरिक भाग में कहीं पर था। प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण यही था। यहीं से आकर आर्य्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्य्यों के पश्चिम में बसनेवाली कुछ अनार्य्य जातियाँ, जिनकी भाषा पर आर्य्य भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलवासियों को विजय करके वहाँ जा बसी थीं। यूरोपीय उपकुल की भाषाओं

पूर्वज आर्यों का मूल वासस्थान कहाँ था, इस संबंध में बहुत मतभेद है। भाषा-विज्ञान के आधार पर युरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा दक्षिण-पूर्व युरोप में कहीं रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय वर्ग के युरोपीय, ईरानी तथा भारतीय उपकुल जहाँ पर मिले हैं, उसी के आस पास कहीं इन भाषाओं के बोलनेवालों का मूल स्थान होगा; क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागों में विभक्त हुए होंगे। सबसे पहले युरोपीय शाखा अलग हो गई थी; क्योंकि उसकी भाषाओं और शेष आर्य्यों की भारत-ईरानी भाषाओं में बहुत भेद है। यह शेष आर्य्य कदाचित् बहुत समय तक साथ रहते थे। बाद को एक शाखा ईरान में जा बसी और दूसरी भारत में चली आई। इन दोनों शाखाओं के लोगों के प्राचीनतम ग्रंथ अवस्ता और ऋग्वेद हैं, जिनकी भाषा एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्त्तन करने पर दोनों भाषाओं का रूप एक हो जाता है।

आर्य्यों का भारत में आगमन—भारत में आनेवाले आर्य्य एक ही समय में नहीं आए थे, किन्तु संभावना ऐसी है कि ये कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य्य लोग भारत में दो बार में अवश्य आए थे*। ऋग्वेद तथा

में इसी लिये आर्य्य भाषा के चिह्न बहुत कम पाए जाते हैं। वास्तव में वे आर्य्य भाषाएँ हैं ही नहीं।

जो कुछ हो, आर्य्यों के मूलस्थान के विषय में निश्चयपूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्य्यों का आदिम स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था।

* भाषा शास्त्र के नियमों के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदों पर विचार

बाद के संस्कृत साहित्य में भी इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं *। यदि वे एक दूसरे से बहुत समय के अनंतर आए होंगे, तो इनकी भाषा

करने के अनंतर हार्नले साहब भी इस मत पर पहुँचे थे। उनके मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे, एक शौरसेनी भाषा का समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा का समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इसका प्रभाव धीरे धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनका कहना है कि शौरसेनी नवागत आर्यों की भाषा थी। पूर्वागत आर्यों की मागधी भाषा के बीच में उत्तर की ओर से घुसकर इसने पूर्व मागधी भाषा को दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया था। मागधी का केन्द्र पूर्व की ओर रह गया था, अतः पश्चिम की भाषा में उसकी विशेषताएँ धीरे धीरे क्षीण होती गईं।

* ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओं में दिवोदास के पौत्र पंजाब के राजा सुदास का समकालीन की भाँति वर्णन है। राजा सुदास की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने पुरु नाम की एक अन्य आर्य्य जाति को, जो पूर्व में यमुना के किनारे रहती थी, विजय किया था। पुरु लोगों को 'मृध्रवाच' अशुद्ध भाषा बोलनेवाले कहकर संबोधन किया है। उत्तर भारत के आर्य्यों में इस भेद होने के चिह्न बाद को भी बराबर मिलते हैं। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वशिष्ठ और पूर्व के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनबन का बहुत कुछ उल्लेख है। विश्वामित्र ने रुष्ट होकर वशिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वशिष्ट को बहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पांचालों का युद्ध भी इस भेद की ओर संकेत करता है। लैसन साहब के समय से यह मत सर्वमान्य हो गया है कि पांचाल लोग कुरुओं की अपेक्षा पहले से भारत में बसे हुए थे। रामायण से भी इस भेदभाव की कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्य देश के पूर्व में कोशल जनपद के राजा थे, किन्तु उन्होंने विवाह मध्य देश के पश्चिम के केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगों का मूलस्थान सतलज के निकट इक्षुमती नदी के तट पर था।

में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार में आनेवाले आर्य्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे; किंतु दूसरी बार में आनेवाले आर्य्य किस मार्ग से आए थे, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संभावना ऐसी है कि ये लोग काबुल की घाटी के मार्ग से नहीं आए, किन्तु गिलगित्त और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे। इस प्रकार यह दूसरी बार में आनेवाले आर्य्य पैशाची अथवा असंस्कृत आर्य्य-भाषा बोलनेवालों के अधिक निकटस्थ माने जा सकते हैं।

पंजाब में उतरने पर इन नवागत आर्य्यों को अपने पुराने भाइयों से सामना करना पड़ा होगा, जो इतने दिनों तक इनसे अलग रहने के कारण कुछ भिन्न भाषा भाषी हो गए होंगे। ये नवागत आर्य्य कदाचित् पूर्व पंजाब में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इनके चारों ओर पूर्वागत आर्य्य बसे थे। धीरे धीरे ये नवागत आर्य्य फैले होंगे। संस्कृत साहित्य में एक 'मध्य देश' पद आता है। इसका व्यवहार आरंभ में केवल कुरु-पांचाल और उसके उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिये हुआ है। बाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमिभाग की सीमा में वृद्धि हुई है। संस्कृत ग्रंथों ही के आधार पर हिमालय और विन्ध्य के बीच में तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमिभाग 'मध्य देश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में बसनेवाले लोग उत्तम माने गए हैं और उनकी भाषा भी प्रामाणिक गिनी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्य्यों की ही बस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्य्यों से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्य्य भाषाओं में भी यह भेद स्पष्ट है। प्राचीन मध्य देश की वर्तमान भाषा हिन्दी चारों ओर की शेष आर्य्य भाषाओं से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् है। इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट की है। साहित्यिक संस्कृत की उत्पत्ति ही शौरसेन (मथुरा) प्रदेश में मानी जाती है।

प्रथम प्राकृत-काल—भारतीय आर्य्यों की तत्कालीन भाषा का थोड़ा बहुत रूप अब केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न देश-कालों में हुई थी; किंतु उनका संपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल में होने के कारण उसमें भाषा की विचित्रता अब अधिक नहीं पाई जाती। ऋग्वेद का संपादन पश्चिम 'मध्य देश' अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग में हुआ था; अतः यह इस भूमिभाग के आर्य्यों की भाषा का बहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्य्यों की अपनी बोल चाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर अवश्य होगा। उस समय के आर्य्यों की बोली का शुद्ध रूप अब हमें कहीं नहीं मिल सकता। उसकी जो थोड़ी बहुत बानगी साहित्यिक भाषा में आ गई हो, वही खोजी जाती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई आधार नहीं है। ऋग्वेद का रचना काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्य्यों की शुद्ध बोली प्रथम प्राकृत कहला सकती है। इस प्रथम प्राकृत काल की बोलचाल की भाषा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है।

आर्य्यों की इस साहित्यिक भाषा में परिवर्तन होता रहा। इसके नमूने ब्राह्मण ग्रंथों और सूत्र ग्रंथों में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहि-हित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बाँधना आरंभ किया। पाणिनि ने (३०० ई० पू०) उसको ऐसा जकड़ा कि उस में परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया। आर्य्यों की भाषा का साहित्यिक रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका प्रयोग उस समय से अब तक संपूर्ण भारत में विद्वान् लोग धर्म और साहित्य में करते आए हैं।

साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्य्यों की बोल चाल की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती जुलती मूल आर्य्यों की बोली भी धीरे धीरे बदली होगी। जिस समय

'मध्य देश' में संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहाँ के जन समुदाय की बोली * के नमूने अब हमें कहीं प्राप्त नहीं हैं। किंतु पूर्व में मगध की बोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप (यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक काल में मगध की भी बोली भिन्न होगी) उस बोली में बुद्ध भगवान् के धर्म्म प्रचार करने के कारण सर्वमान्य हो गया। इस द्वितीय प्राकृत काल की मगध की बोली का थोड़ा नमूना पाली में मिलता है। वास्तव में पाली में लोगों की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है।

उत्तर भारत के आर्य्यों की बोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल के इसके भिन्न भिन्न रूप उत्तर भारत की वर्तमान बोलियों और उनके साहित्यिक रूपों में मिलते हैं। इस अंतिम काल को तृतीय प्राकृत काल नाम देना उचित होगा। हमारी हिन्दी इसी तृतीय काल की 'मध्य देश' की साहित्यिक भाषा है।

इन तीनों प्राकृत कालों के बीच में बिलकुल अलग अलग लकीरें नहीं खींची जा सकतीं। ऋग्वेद में जो एक आध रूप मिलते हैं, उनको यदि छोड़ दिया जाय, तो द्वितीय प्राकृतों के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले पहल अशोक की धर्म्म-लिपियों में (३०० ई० पू०) पाए जाते हैं। यहाँ यह प्राकृत प्रारम्भिक अवस्था में नहीं है, किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। द्वितीय प्राकृतों से तृतीय प्राकृतों में परिवर्तन इतने सूक्ष्म रूप से हुआ है कि दोनों के मध्य काल की भाषा को निश्चय रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिन-

---

* साहित्यक भाषा से भिन्न लोगों की यह बोलियाँ थीं अवश्य, इसके प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में बहुत मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण शास्त्र जाननेवाले केवल विद्वान् ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे तथा साधारण लोग 'प्राकृत' भाषा (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।

ताओं के होते हुए भी इन तीनों प्राकृत कालों में भाषाओं की अपनी अपनी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। प्रथम काल में भाषा संयोगात्मक है तथा कर्ण-कटु संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा संयोगात्मक ही रही है। किंतु संयुक्त स्वरों (Dipthongs) और कर्ण कटु संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दों में तो प्रायः केवल स्वर ही स्वर रह गए हैं, जो एक आध व्यंजन के सहारे जुड़े हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई है और स्वरों के बीच में फिर संयुक्त वर्ण डाले जाने लगे हैं। वर्तमान बाह्य समुदाय की कुछ भाषाएँ तो आजकल फिर संयोगात्मक होने की ओर झुक रही हैं। इस प्रकार वे प्रथम प्राकृत का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

द्वितीय प्राकृत काल—हमें मालूम है कि प्रथम प्राकृत काल में बोलियों का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्व प्रदेश में पूर्वागत आर्य्यों की बोली और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्य देश' में नवागत आर्य्यों की बोली, जिस का साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(१) पाली तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ—द्वितीय प्राकृत काल में भी बोलियों का यह भेद पाया जाता है। इस संबंध में महाराज अशोक की धर्म्मलिपियों से पूर्व्व का हमें कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता। इन धर्म्मलिपियों की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर भारत की भाषा में कम से कम तीन भिन्न भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नहीं, इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल की साहित्यिक भाषा की प्रतिनिधि पाली के रूप में पूर्वी बोली थी।

(२) साहित्यिक "प्राकृत" भाषाएँ—लोगों की बोली में बराबर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा ही बाद को "प्राकृत" हो गई। (जब बिना किसी विशेषण के प्राकृत शब्द प्रयुक्त होता है, तो उससे इन्हीं का अर्थ समझना चाहिए।) बाद को संस्कृत के साथ साथ साहित्य में इन प्राकृतों का भी व्यवहार होने लगा। इनमें काव्य ग्रंथ तथा धर्म पुस्तकें लिखी जाने लगीं। संस्कृत नाटकों में भी इन्हें स्वतंत्रतापूर्वक बराबर की पदवी मिलने लगी। समकालीन अथवा कुछ समय के अनंतर होनेवाले विद्वानों ने इन प्राकृत भाषाओं के भी व्याकरण रच डाले। साहित्य और व्याकरण के प्रभाव के कारण इनके मूल रूप में बहुत अंतर हो गया। इन प्राकृतों के साहित्यिक रूप के ही नमूने आजकल हमें देखने को मिलते हैं। उस समय की बोलियों के शुद्ध रूप के संबंध में हम लोगों को अधिक ज्ञान नहीं है। तो भी अशोक की धर्मलिपियों की भाषा की तरह उस समय भी पूर्वी और पश्चिमी दो भेद तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत और पूर्वी का मागधी प्राकृत, अर्थात् मगध या दक्षिण-बिहार की भाषा थी। इन दोनों के बीच में कुछ भाग की भाषा का रूप मिश्रित था। यह अर्ध-मागधी कहलाती थी। इस अंतिम रूप से अधिक मिलती जुलती महाराष्ट्री प्राकृत थी, जो आजकल के बरार प्रांत और उसके निकटवर्त्ती प्रदेश में बोली जाती थी। इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक भिन्न भाषा बोली जाती थी, जो प्रथम प्राकृत काल में सिंधु नदी के तट पर बोली जानेवाली भाषा से निकली होगी। इस भाषा की स्थिति का प्रमाण द्वितीय प्राकृत काल की भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से मिलता है।

(३) अपभ्रंश भाषाएँ—साहित्य में प्रयुक्त होने पर वैयाकरणों ने "प्राकृत" भाषाओं को कठिन अस्वाभाविक नियमों से बाँध दिया; किंतु जिन बोलियों के आधार पर उनकी रचना हुई थी, वे बाँधी नहीं जा सकती थीं। लोगों की यह बोलियाँ विकास को प्राप्त

होती गई। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के संमुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा के लिये इस शब्द के प्रयुक्त होने पर भाषा-तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त' होगा।

जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाएँ हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों का भी भाग्य जागा और इनको भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। फिर क्या था। वैयाकरणों ने इनका भी गला घोंटना आरम्भ किया। साहित्यिक अपभ्रंशों के लेखक अपभ्रंशों का आधार प्राकृतों को मानते थे। उनके मत में यह 'प्राकृतोऽपभ्रंश' थीं। यह लेखक तत्कालीन बोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे; शुद्ध अपभ्रंश अर्थात् लोगों की असल बोली में नहीं लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतों के समान साहित्यिक अपभ्रंशों से भी लोगों की तत्कालीन असल बोली का ठीक पता नहीं चल सकता। तो भी यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा; जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश; मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश; महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे। इनके नाम नागर, व्राचड़ और उपनागर थे। इनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहाँ आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचंद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। व्राचड़ अपभ्रंश सिन्ध में बोली

जाती थीं। उपनागर अपभ्रंश व्राचड़ तथा नागर के मेल से बनी थी। अतः यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की बोली होगी। अपभ्रंशों के संबंध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचंद्र हैं। इन्होंने केवल शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कंडेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशों के संबंध में अधिक सहायता नहीं मिलती। इन अपभ्रंश भाषाओं का काल छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाएँ द्वितीय प्राकृत काल की अन्तिम अवस्था की द्योतक हैं।

तृतीय प्राकृत काल—इस काल में भारत की वर्तमान आर्य्य भाषाएँ हैं। उनकी उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी, किन्तु अपभ्रंशों से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती का संबंध है। इनमें से गुजराती का संपर्क शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से अधिक है। बिहारी, बँगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिन्दी का अर्ध-मागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिये प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिन्धी के लिये वैयाकरणों को व्राचड़ अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लँहदा के लिये एक केकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह व्राचड़ अपभ्रंश से मिलती जुलती होगी।

इस तृतीय प्राकृत काल की भाषाओं के जन्मकाल का निरूपण किया जा सकता है; किन्तु इसके लिये हमें "भाषा" शब्द के इतिहास पर विशेष ध्यान देना होगा। 'भाषा' शब्द 'भाष्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'बात चीत करना'। अतः 'भाषा' का शब्दार्थ 'बात चीत की बोली' होगी। बाण के हर्ष-चरित (छठी शताब्दी ईसवी) में भाषा शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। बाण के मित्रों में एक ईशान थे, जिनको 'भाषा कवि' कहा गया है। साथ ही एक दूसरे मित्र वायुविकार 'प्राकृत कवि' बतलाए गए हैं। यहाँ

स्पष्ट ही 'भाषा' का अर्थ छठी शताब्दी की नित्य के व्यवहार की बोली से है और 'प्राकृत' का अर्थ उस बोली के बनावटी साहित्यिक रूप से है। तात्पर्य यह है कि ईशान अपभ्रंश में कविता करते थे और वायुविकार साहित्यिक प्राकृत के कवि थे। राजशेखर (दसवीं शताब्दी ईसवी) ने चार साहित्यिक भाषाएँ मानी हैं—बाल भारत अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत वचन (या पैशाची प्राकृत)। कल्हण की राजतरंगिणी (बारहवीं शताब्दी ईसवी) में काश्मीर के राजा हर्षदेव को, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे, "अशेष देश भाषाज्ञ" अर्थात् 'अगणित देशों की भाषाओं का ज्ञाता' कहा है और "सर्व भाषासु" अर्थात् सब भाषाओं में कविता करने-वाला बतलाया है। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि यहाँ देश भाषाओं से तात्पर्य उत्तर-भारत की तत्कालीन साहित्यिक बोलियों से है, जो तृतीय प्राकृत काल में व्यवहार में आने लगी थीं। काश्मीरी बोली भी इन्हीं में से एक होगी। "पिंगलार्थप्रदीप" नाम की पुस्तक (१६०१ ईसवी) में छंदों के उदाहरण स्वरूप जो श्लोक दिए हैं, वे प्राचीन पुस्तकों में से संकलित किए गए हैं। उनमें बहुत से श्लोक तत्कालीन कवियों द्वारा रचे हुए और कुछ राजाओं की प्रशंसा में हैं। इन राजाओं का शासन काल ज्ञात है। ये श्लोक भिन्न भिन्न भाषाओं में हैं। भांडारकर का कहना है कि इन श्लोकों में से कुछ महाराष्ट्री प्राकृत में हैं। कुछ श्लोक अपभ्रंश में भी हैं और इन्हीं में से एक चेदिराज कर्ण की प्रशंसा में है। यह राजा कर्ण ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के प्रथमार्ध में हुए थे। कुछ श्लोक तृतीय प्राकृत काल की भाषाओं में भी हैं। ये हम्मीर देव की प्रशंसा में हैं जिनका शासन काल तेरहवीं शताब्दी में पड़ता है। हिन्दी के आदि ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो के लेखक चंद कवि का देहावसान बार-हवीं शताब्दी ईसवी के अंत में हुआ था। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग होना कम से कम तेरहवीं शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य

प्रारम्भ हो गया था और अपभ्रंशों का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य होने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि द्वितीय प्राकृतों के अंतिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी में हुआ होगा। १००० ईसवी में ही महमूद गज़नवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण भी किया था।

इन वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलिति है; अतः उसका जन्म काल भी दसवीं शताब्दी ईसवी में मानना होगा।

नोट:—इन अध्यायों की सामग्री का मुख्य आधार निम्न लिखित पुस्तकें हैं:—

(१) इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (ग्यारहवाँ संस्करण) विशेष रूप से ये लेख—फिलालोजी; इंडो-यूरोपियन लैंग्वेजेज़, पर्शिया, लैंग्वेज एंड लिटरेचर।

(२) बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरिएंटल स्टडीज़, लंडन इंस्टीट्यूट, जिल्द १, भाग ३ (१९२०) तथा जिल्द २, भाग ४ में ग्रियर्सन साहब का "इंडो-एरियन वर्नाक्युलर्स" शीर्षक लेख।

(३) लैंग्वेजेज़ आफ इंडिया, १९०३।

(४) गुणे, इंट्रोडक्शन टू कम्पैरेटिव फिलालोजी।

(१८) प्रभास पाटन के यादव भीम के सं० १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा

[ना० प्र० पत्रिका भाग ४, अंक १ पृष्ठ १६० के आगे ।]

लाखा के अनंतर रावल गद्दी पर बैठा। तब खंगार ने कहा—"तुमने हमारे पिता हमीर को छल से मारा था, हम हमीर को माँगते हैं।" उस समय खंगार भी पूर्ण युवा था; बीस बाईस वर्ष की वय थी, राज्य का पूर्ण अधिकार उसके हाथ में था, उसने रावल से बदला लेने के लिये उस (रावल) पर चढ़ाई की। इनके राज्यों के मध्य में सीप नामक एक नदी है। वहाँ खंगार पहुँचा। दूसरी ओर से रावल जाम सात सहस्र सेना लेकर आया। खंगार के पास भी आठ नौ हजार के अनुमान सेना थी। दोनों तरफ मोर्चाबंदी होकर युद्ध का प्रारंभ हुआ। दिन में तो युद्ध होता था, और रात्रि में सब अपने अपने डेरे में जाकर आनंद से शयन करते थे। इधर की सेना के मनुष्य उधर की सेना में जाते आते थे। रात्रि में उनमें बंधुओं का सा व्यवहार रहता था; और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही फिर युद्ध का आरंभ हो जाता था। नैणसी लिखता है कि इस प्रकार बारह वर्ष युद्ध हुआ। रावल और जाम में परस्पर आशापुरा देवी को मध्य में रखकर शपथ हुई थी। पर रावल जाम ने उसका उल्लंघन किया। जिससे अंत में उसका बल घटने और शत्रु का बल बढ़ने लगा।

रावल जाम ने अपना बल घटता हुआ देखकर अपने प्रधान मंत्री लाडक से कहा—"इस तरह तो हम जीत नहीं सकते, पराजय होने की सूरत है। देखो, अपना बल घटता जाता है और उनका बढ़ता जाता है। इस समय बिना किसी उपाय के काम नहीं चल सकता। तुम करो तो एक उपाय है। वह यह कि तुम वृद्ध हो; तुम अपने प्राणों का लोभ त्यागकर खंगार को छल से मार

डालो। मुझे तो इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं सूझता। कदाचित् तुम अपने पुत्रों की चिंता करते हो; तो उनका भरण पोषण हम करेंगे। तुम उनकी चिंता तनिक भी मत करो। हम उनको और भी बढ़ावेंगे।" लोभ बड़ा बलावान् होता है। लाडक ने रावल का कथन स्वीकृत किया। अब रावल और प्रधान मंत्री लाडक ने आपस में वैमनस्य प्रकट करने के लिये, जिसमें जगत् जान जाय कि अब ये दोनों परस्पर शत्रु हो गए हैं, ऐसा षड्यंत्र रचा कि रावल ने मंत्री की किसी बात पर कुपित होकर उसके सिर पर जूता मारा। मंत्री बहुत बिगड़ा और अत्यंत क्रोध का आडंबर करता हुआ और रावल जाम को भला बुरा कहता हुआ खंगार के पास गया। खंगार को असल भेद तो मालूम नहीं था। उसने ऊपर की बातें सुनी थीं कि रावल और लाडक में परस्पर बिगाड़ हो गया है; जिससे लाड़क को खंगार के पास पहुँचने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई। प्रत्युत् उसका स्वागत हुआ। लाडक के वहाँ जाने के समय खंगार के डेरे में अकस्मात् ऐसी घटना हुई कि किसी के दीपक से आग लग गई। सब लोग आग बुझाने में लगे। सबको अपनी अपनी पड़ी थी। खंगार के पास कोई नहीं था। केवल एक लाड़क खड़ा था; और उसके मन में वही बात समाई हुई थी जिसके लिये यह कौतुक रचा गया था। अचानक लाडक का हाथ काँपने लगा। तब खंगार ने उससे पूछा—'तुम्हारा हाथ क्यों काँपता है?' लाडक ने कहा—'यह तो शरीर का धर्म है, ऐसे ही होता रहता है।' खंगार को उसके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं था। उसने किसी कारणवश दूसरी तरफ देखा। इतने में लाड़क ने खंगार पर तलवार का प्रहार किया। तलवार राव की पीठ में लगी। घाव बहुत गहरा लगा था; परंतु खंगार ने उसी दशा में लाडक की गर्दन पकड़ उसे नीचे गिराकर उसका हाथ मरोड़, और हाथ में से तलवार लेकर लाडक का सिर काट दिया। राव खंगार के घाव की चिकित्सा होने लगी।

उसी घटना की रात्रि को खंगार की सेना में कोई सरदार मर गया। वह जलाया गया, जिसे देखकर रावल ने यह समझा कि खंगार के घाव बहुत गहरा लगा था, वही मरा है। ये लोग उसे गुप्त रखते हैं। यह समझकर रावल अपनी सेना लेकर खंगार की सेना पर टूट पड़ा। उधर से खंगार की सेना आई। परस्पर संग्राम हुआ। यह युद्ध रात में शुरू हुआ था। दूसरे दिन मध्यान्ह तक खूब तलवार चली। रुधिर की गंध के मारे वीरों को अपने पराए का भी भान नहीं रहा। जो सामने आया, उसी से संग्राम हुआ। होते होते पिछला चार घड़ी दिन रह गया। उस समय राव खंगार ने सोचा कि "आज युद्ध बंद क्यों नहीं होता? शायद इस-लिये बंद न होता कि शत्रु को ऐसा भ्रम हो गया है कि रावल के घाव बहुत गहरा लगा है, जिससे वह मर गया है। शायद ऐसा ही हो, तो इसका उपाय यही है कि मैं उच्च स्थान पर खड़ा हो जाऊँ, जिससे सबको विश्वास हो जाय कि खंगार जीवित विद्यमान है।" रणक्षेत्र में उच्च स्थान कहाँ? तब एक खाट पर राव खंगार खड़ा हुआ। रावल जाम के मनुष्य, जो दिन भर अविच्छिन्न युद्ध करने से पूर्ण श्रांत हो गए थे, खंगार को जीवित देखकर हताश हुए। रावल अपनी थकी हुई सेना को पीछे हटाकर रणभूमि से निराश होकर निकल गया। डेरे पर जाकर उसने सबके समक्ष कहा कि "मैंने देवी आशापुरा की शपथ का भंग किया। उसी का यह फल है कि मेरी पराजय हुई। अब इस पृथ्वी को छोड़कर चल देना चाहिए; क्योंकि सफलता तभी प्राप्त होती है, जब दैव अनुकूल होता है। उसे तो मैंने पूर्ण रुष्ट कर दिया है। अब विजय कैसे हो?" इतना कहकर रावल यहाँ से चला गया। ३०-३५ कोस की दूरी पर जेठवा, काठी और बाढ़ेलों (राठौड़ों) के बीच में सोरठ की भूमि ६०-७० कोस तक खाली पड़ी थी। रावल जाम ने वहाँ जाकर 'नयानगर' नामक नगर बसाकर निवास किया। भाद्रेसर पर खंगार ने अपना कब्जा कर लिया। वह अब तक उसी के वंशजों के कब्ज़े में है।

अब रावल गिरनार के स्वामी चिंगसखाँ गोरी से मिला। उसके साथ रावल की मैत्री हो गई। उसने रावल से कहा कि तुम गुजरात के बादशाह से मत मिलना। हमारे साथ मित्रता हो गई है, तो अब उसको निबाहना; और उसी मैत्री के हेतु हम तुमको तुम्हारे राज्य की वृद्धि का एक उपाय बतलाते हैं। वह यह कि तुम्हारे पार्श्ववर्ती जेठवा राजपूत केलवे में रहते हैं। उनको मारकर उनकी भूमि ले लो। काम पड़ेगा तो हम तुम्हारी सहायता करने को तैयार हैं। चिंगसखाँ ने रावल को जबानी हुक्म दे ही दिया था। अब रावल चूकनेवाला कब था? उधर जेठवा और काठियों ने एकत्र होकर परामर्श किया कि यह रावल हमारी पृथ्वी पर बलपूर्वक आ बैठा है। यदि यह यहाँ जम गया तो कभी न कभी हम लोगों को मारेगा। जब मरना ही है तो हम अभी उससे युद्ध करें। ये सब लोग मिलकर दस सहस्र हुए। उनमें से कितनों ही के पास सवारी थी और कितने ही पैदल थे। जब रावल को उनके आने की खबर मिली, तब वह भी छः हजार सेना लेकर सामने चला। परगना बरड़ा में ये दोनों शामिल हो गए। वहाँ इनका युद्ध हुआ। युद्ध के समय रावल का भाई हरधवल अपनी सेना से पृथक् हो एक हजार सवार लेकर एकाएक शत्रु की सेना पर टूट पड़ा। शत्रुओं के सरदार मारे गए, परंतु हरधवल भी जीता नहीं बचा। रावल की विजय हुई। शत्रु सेना में तीन सरदार थे—जेठवों में भीम, काठियों में हाजी और बाढ़ेलों (राठौड़ों) में भाण। ये तीनों मारे गए। शत्रु सेना भागी। रावल जाम ने इन तीनों को हटाकर उनकी भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। जेठवा आदि वहाँ से निकलकर समुद्र के किनारे जा बसे। वहाँ उनमें जेठवा खीवा महावीर और बलशाली हुआ।

सोरठ में जेठवा, बाढ़ेला और काठियों के अधिकार में ४५०० ग्राम थे—बाढ़ेलों के १०००, काठियों के २००० और जेठवों के १५००। उनमें से रावल जाम ने जेठवा, बाढ़ेला और काठियों की भूमि

दबाकर ४००० चार हजार ग्रामों पर अपना अधिकार कर लिया, जिससे उसका राज्य पूर्ण प्रबल हो गया। तब उसने अपने बंधुओं से कहा कि हम लोग योग्य हुए; हमने बहुत बड़ा देश अपने अधीन कर लिया है। मेरे मन में एक मनोरथ है। वह मैं आपसे कहे देता हूँ। वह यह कि पितृ-परंपरागत भूमि में से हम को खंगार ने निकाल दिया है। उस भूमि में से जब तक कुछ भाग न ले लें, तब तक हमारा मन संतुष्ट नहीं होगा। आप की सम्मति हो तो इसके निमित्त यत्न किया जाय। इसका उपाय यही है कि खंगार को किसी प्रकार दबाया जाय। रावल के कथन से सब सहमत हो गए। रावल सेना लेकर खंगार पर चला। उस समय खंगार का पुत्र ब्याहने के लिये बरात लेकर ऊमरकोट गया था; और बहुत से सरदार और राजपूत भी उसके साथ चले गए थे। यहाँ राव खंगार के पास मनुष्य बहुत कम थे। वर्षा ऋतु थी, घास नई उत्पन्न हुई थी, राव खंगार अपने घोड़ों को ताजा करने के निमित्त धीणोद के पास घोड़े चराने जा बैठा था। रावल ने अपने दूत भेजकर खबर मँगाई। दूतों ने आकर रावल से वहाँ का वृत्तांत कहा। वह यह सोचकर कि यह अवसर अति उत्तम है, ५०० सवारों के साथ एकाएक खंगार पर चला गया। राव खंगार धीणोद के पर्वत में ५० मनुष्यों के साथ था। घोड़े चरते थे। गौओं भैंसों का दूध घोड़ों के लिये बर्तनों में भरकर रक्खा गया था। इतने में तीतर बोला। तब सोढा नंदा ने खंगार से कहा कि महाराज ! उठिए, शत्रु आए। राव यह सुनकर पर्वत में चला गया। पीछे से रावल आया। उसने वहाँ का दृश्य देखकर समझा कि राव अभी यहाँ से गया है। रावल विचार करने लगा कि राव तो पर्वत में चला गया, अब क्या करें। इस प्रकार रावल मन में संकल्प विकल्प कर रहा था, उसके ध्यान में कुछ नहीं आता था। खंगार के पीछे जाने में वह महा विपत्ति समझता था; और न जाने में प्रयत्न निष्फल होता था। रावल विचार में पड़ा था, उसे कुछ नहीं सूझता था। उसे देखकर

गाजणिया जाति के रणधीर ने, जो पहले खंगार के पास रहता था, रावल से कहा कि आप क्या देखते हैं ? चलिए, खंगार के ऊँटों को पकड़ लीजिए। वह उनके पीछे अवश्य आवेगा, उनको किसी भाँति नहीं छोड़ेगा। तब रावल ने खंगार के ऊँटों को पकड़वा मँगाया, और धीरे धीरे जाने लगा। रावल पीछे की ओर बार बार देखता था कि खंगार अब तक नहीं आया। उधर खंगार ऊँट ले जाने की खबर पाकर ५० सवारों के साथ रावल पर चला। उस समय कुछ मनुष्यों ने खंगार से यह भी कहा कि आपके पास आदमी बहुत कम हैं, अभी छोड़ देना चाहिए। रावल से फिर समझ लेंगे। तब खंगार ने कहा—"ईश्वर न करे कि रावल ऊँटों को लेकर चला जाय, और मैं खड़ा देखूँ।" राव खंगार यह कहकर पर्वत के दूसरे मार्ग से निकल सोलह कोस पर जाते हुए रावल के सामने आया। इधर रणधीर ने ऊँट पर खड़े होकर पीछे की ओर देखा तो खंगार नहीं था। जब आगे की ओर देखा तो सवार नज़र आए। रणधीर ने तुरंत रावल से कहा—महाराज ! खंगार आ गया है, वह सामने आता है। रावल ने भी खंगार को देख लिया। तब रावल ने अपने आदमियों से कहा—"शत्रु की संख्या कम है; परंतु खंगार मुझ से लड़े बिना नहीं रहेगा।" यह कहकर रावल बीच में खड़ा हो गया और उसके दोनों ओर पाँच सौ सवार, २५० एक पार्श्व में और २५० दूसरे पार्श्व में, सुसज्जित होकर स्वामिरक्षार्थ बड़ी सावधानी से खड़े हो गए। उस समय रावल ने उनसे कहा कि जब खंगार मेरे ऊपर आवे, तो सब लोग उसे एक एक भाला मारना। पाँच सौ भाले लगेंगे, तो खंगार अवश्य मर जायगा।

इधर खंगार के सगे भाई साहिब और चचेरे भाई फूल दोनों ने विचार किया कि हम अपनी आँखों से खंगार को मरता न देखें, चलो हम लोग उससे पहले मरें। उनका परस्पर का वार्तालाप सुनकर खंगार ने उन दोनों से कहा—"इतनी जल्दी मत करो। तुम जानते नहीं हो कि खंगार तुम्हें मरने देगा ? फिर ऐसा विचार क्यों

करते हो ?" यह कहकर खंगार पचास सुसज्ज सवारों का गोल बाँधकर रावल पर टूट पड़ा। खंगार ने ऐसी फुर्ती की कि रावल के दोनों तरफ जो सवार खड़े थे, उनमें से कुछ तो खंगार पर भाले चला सके और बाकी बहुतों के भाले हाथों में ही रहे। खंगार एक दम आ पड़ा। तलवार चली। रावल का प्रधान मंत्री खंगार के हाथ से मारा गया और रावल की सेना भागी। उस समय रावल ने बड़ी वीरता का काम किया। तीन बार घोड़े को उठा उठाकर खंगार पर डाला; और खंगार ने साहिब पर तलवार का प्रहार किया। परंतु उसकी आयु अवशिष्ट थी, प्रहार टोप पर लगने से साहिब बच गया। रावल बार बार घोड़े को खंगार पर लाता था। उसे देख खंगार ने उसके प्राणों के रक्षार्थ अपने सैनिकों से कहा—"सावधान, रावल न मारा जाय। इसे मत मारना।" अपने मनुष्यों से यह कहकर उसने रावल के मनुष्यों से कहा—"अपने बाप (रावल) को जल्दी निकालो"। उस समय सोढा नंदा ने रावल को भाले की बूड़ी (भाले के नीचे का भाग) से मारा। तब किसी ने नंदा से कहा—"तूने इस प्रहार में भूल की"। नंदा ने कहा—"मैंने भूल नहीं की है, साँड़ को अंकित किया है। हमारे स्वामी की आज्ञा मारने की नहीं है। यदि वैसी आज्ञा होती तो वैसा ही किया जाता।" रावल इस बात से अत्यंत कुपित हुआ। उसने फूल पर बरछी चलाई, पर वह घोड़े की काठी के अग्र भाग में लगने से टूट गई। तब रावल के राजपूतों ने कहा कि आज दैव अनुकूल नहीं है; चलो, फिर देख लेंगे। यह कहकर वे वहाँ से चले गए। रावल के पचीस मनुष्य मारे गए और खंगार के चार पाँच मनुष्य मरे।

रावल लौट आया। उस समय उसने घोड़ों को दाना देने के बहाने सबके पाहोरे मँगाए, तो एक सौ बीस पाहोरों में से भाले के फल (लोहे का बना अग्रभाग) और बूड़ी मिली। रावल को यही देखना था कि जबहमारे ऊ पर शत्रु आया था, तब किस किस ने हमारी

सहायता की थी। जो रावल के हितैषी नहीं थे, उन्होंने फल और बूड़ी तो निकालकर पाहोरे में रख ली थी और खाली डंडे दिखाने के लिये हाथ में रख लिए थे। रावल ने उन स्वामि-द्रोही सैनिकों के लिये यह दंड नियत किया कि इनकी घोड़ियों के जो बछेड़ियाँ हों, वे तो उनके पास रहें; और जो बछेड़े हों, वे राज्य में भेज दिए जायँ। जिनके लिये रावल की उक्त आज्ञा हुई थी, उनके वंशजों से अब तक वैसे ही दंड लिया जाता है। तदनंतर रावल शांत होकर बैठ गया। रावल का वैभव बहुत बढ़ा, खंगार से ड्योढ़ा हो गया।

नैणसी ने अपनी पुस्तक में यदुवंशी जाड़ेचों की वंशावली दो जगह लिखी है। एक स्थल में तो 'जड़ेचाँ री पीढ़ी' शीर्षक से, जिसमें संख्या १ गाहरियो नाम से आरंभ करके संख्या ३२ तमाचची नाम पर समाप्त की है। इस वंशावली* में 'भीम' नाम तीन बार आया है—

संख्या १७ भीम लोदी का उत्तराधिकारी।
„ २१ बड़ा भीम साहिब का उत्तराधिकारी।
„ २३ अमर भीम बड़े हमीर का उत्तराधिकारी।

और दूसरी वंशावली "भीव रै वंस रा हमै भुजनगर रा राव कच्छ रा धणी छै पीढी" इस शीर्षक से लिखी है। इसमें संख्या १ भीम से आरंभ करके संख्या १८ खंगार नाम पर समाप्त की गई है। यह संख्या १८ वाला खंगार संवत् १७२० के लगभग विद्यमान होना चाहिए; क्योंकि नैणसी ने संख्या १८ खंगार नाम पर वंशावली को समाप्त किया है, जो नैणसी के समय में विद्यमान था। इस वंशावली† में भीम नाम दो बार देखने में आता है—

१ भीम।
१३ भीम महड़ का पुत्र।

गुजरात राजस्थान नामक पुस्तक में, जो विक्रमी संवत् १९५१

---

* दे० ना० प्र० पत्रिका भाग ४, अंक ३, पृ० १५०

† „ „ „ „ „ „ „ „ „ १५७

(ई० सन् १८८४) में छपी थी, भुज और जामनगर के राजाओं की वंशावली इस प्रकार लिखी है—

१ जाम लाखोजी

२ जाम रायधणजी

(भुज)	(जामनगर)
३ आठाजी	३ गजणजी
४ गोडजी	४ हालोजी
५ वेहणजी	५ रायधणजी
६ मुलवोजी	६ कुबेरजी
७ कांवोजी	७ हरधोलजी
८ अमरजी	८ हरपालजी
९ भीमजी	९ ऊनड़जी
१० हमीरजी	१० तमाचीजी
११ खंगारजी	११ हरभमजी
(संवत् १६०६ में भुजनगर राजधानी की)	
१२ भारमलजी	१२ हरधोलजी
१३ भोजराजजी	१३ लाखोजी
१४ खंगारजी	१४ रावलजी
	(संवत् १५९६ में जामनगर बसाया; सं० १६१९ में स्वर्गवास।)

इन वंशावलियों के देखने से जाना जाता है कि जामनगर के राजाओं में भीम नाम का कोई राजा नहीं हुआ। कच्छ के राजाओं में भीम हुआ। परंतु उक्त वंशावली में का भीम हमारे शिलालेख का भीम नहीं हो सकता, क्योंकि यह भीम उस खंगार के पिता हमीर का पिता था जिस खंगार ने संवत् १६०६ में भुजनगर को राजधानी नियत किया था। उक्त खंगार का पिता हमीर जामनगर के स्वामी जाम रावल का समकालीन था। बल्कि रावल के हाथ से हमीर मारा गया था। जिस रावल ने संवत् १५९६ (ई० सन् १५३९)

में जामनगर बसाया और संवत् १६१६ (ई० सन् १५६२) में स्वर्गवास किया। उक्त वंशावली में के भीम का समय सत्रहवीं शताब्दी का आरंभ और हमारे शिलालेख के भीम का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य होने से उक्त शिलालेख का भीम उक्त वंशावली के भीम से भिन्न है।

हमारे शिलालेख का भीम नैणसी की लिखी हुई द्वितीय वंशावली का प्रथम भीम सिद्ध होता है, जो नैणसी की प्रथम वंशावली की संख्या ११ पर के बड़े हमीर का पुत्र था। यद्यपि नैणसी ने प्रथम वंशावली में बड़े हमीर के पुत्र रायधण और हालो दो ही लिखे हैं, परंतु नैणसी के आगे के लेख से तीसरा पुत्र भीम पाया जाता है, जिसे कच्छ के नरपतियों का मूल पुरुष कहना चाहिए। यह प्रथम टिप्पणी में दिखाया जा चुका है। और इसी आशय से नैणसी ने कच्छ के राजाओं की वंशावली का भीम से ही आरंभ किया है।

नैणसी और गुजरात राजस्थान के कर्ता ने कच्छ के राजाओं की जो वंशावलियाँ लिखी हैं, उनमें अंतर है; इसलिये वे अवलोकनार्थ नीचे लिख दी जाती हैं—

(नैणसी)	(गुजरात राजस्थान)
१ भीम	१ जाम लाखो (ई० स० ११४७)
२ लाखो	२ रायधण (ई० स० १३८५ तक)
३ हमीर	३ ...
४ राघो	४ ...
५ काँहियो	५ ...
६ अलइयो	६ ...
७ भोजराज	७ ओठोजी
८ रायधण	८ गोडजी
९ हमीर	९ वेहणजी
१० कमो	१० मुलवोजी

११ मुलुवो	११ कांयोजी
१२ महड़	१२ अमरजी
१३ भीम	१३ भीमजी
१४ हमीर	१४ हमीरजी
१५ खंगार	१५ खंगारजी
१६ भारो	१६ भारमलजी
१७ भोजराज	१७ भोजराजजी
१८ खंगार	१८ खंगारजी

दोनों वंशावलियों में संख्या १३ के भीम से नीचे के नाम तो बराबर मिलते हैं, परन्तु ऊपर के नामों में बहुत अंतर है। कई नाम आगे पीछे हैं, कई नाम अन्य ही हैं। नामों में न्यूनाधिकता भी है। इन दोनों वंशावलियों में से शुद्ध वंशावली कौन सी है, इसका निर्णय तो तभी हो सकता है जब कि वहाँ के शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि की जाँच की जाय। यह कर्त्तव्य वहाँ के नरेश्वर और पुरातत्व-शोधकों का है।

जामनगर के निर्माणकर्ता रावल जाम का समय पूर्णतया निश्चित है; और कच्छ का राजा हमीर और उसका पुत्र खंगार दोनों उसके समकालीन थे। जब कि रावल का समय संवत् १५६६ से १६१८ तक निश्चित है, तब हमीर का पिता भीम हमारे शिलालेख का नायक नहीं हो सकता, जिसका समय संवत् १४४२ है। तब उससे पूर्व जो भीम हुआ हो, वह होना चाहिए। अन्य वंशावलियों में तो उक्त भीम से इतर भीम दिखाई नहीं देता, नैणसी की वंशावली में दृष्टिगोचर होता है। वही संख्या १ वाला भीम हमारे शिलालेख का नायक होना चाहिए जो कच्छ के राजाओं का मूल पुरुष था। नैणसी के संख्या १ वाले भीम का समय इस शिलालेख के अनुकूल होने से नैणसी की वंशावली शुद्ध प्रतीत होती है। और यादव भीम के साथ शिलालेख में धर्म नामक राठौड़ का भी नाम

है, जिसे भीम यादव की कन्या यमुना ब्याही थी। वह वाढेला राठौड़ होना चाहिए।

वाढेला राठौड़ों के ठिकाने सोरठ में हैं। तवारीख फरिश्ता में वाढ़ेलों के तीन ठिकाने लिखे हैं—

१—जगत् (जिसे द्वारका कहते हैं)।

२—अरामड़ा—मारवाड़ की ख्यातियों में इसका नाम रामड़ा लिखा मिलता है।

३—धारही—फरिश्ता लिखता है कि यह शंखोद्धार होना चाहिए।

जब जोधपुर के महाराज अजीतसिंह जी गुजरात के सूबेदार थे, तब अहमदाबाद से द्वारका यात्रा को गए थे। उनके मार्ग में रामड़ानगर आया था। महाराज का रामड़ा में मुकाम हुआ था। वहाँ रामड़ा का वाढेला राठौर भोजराज महाराज के पास हाजिर हुआ था। उसने महाराज की आज्ञा से शंखोद्धार जाने के लिये नावों का प्रबंध किया था।

वाढेला राठौड़ों की वंशावली अब तक नहीं मिली है; इसलिये उक्त धर्म राठौड़ का पता नहीं चल सकता। वाढेलों का इतिहास हस्तगत होने पर वह भी प्रकाशित कर दिया जायगा।

---

(१९) हिन्दी श्रीहर्ष

[लेखक—बाबू जगन्मोहन वर्मा, काशी]

नैषध चरित का नाम अपरिचित नहीं है। यह संस्कृत में एक प्रधान काव्य है और संस्कृत के साहित्य-भांडार का एक अमूल्य रत्न है। इसके रचयिता हैं महाकवि श्रीहर्ष। श्रीहर्ष जी संस्कृत के प्रकांड पंडित और कवि ही नहीं थे, अपितु अपने समय के बहुत बड़े दार्शनिक भी थे। आपका बनाया खंडनखंडखाद्य नामक ग्रंथ अब तक विद्यमान है और नैषध चरित में पद पद पर दार्शनिक विचार कूट कूटकर भरे हैं। श्रीहर्ष काशी के राजा कान्यकुब्जेश्वर गोविंदचंद्र के आश्रित थे और काशी ही में रहकर उन्होंने इस ग्रंथकी रचना की थी। संस्कृत भाषा में इस अपूर्व ग्रंथ पर तेइस टीकाएँ हैं। इसी से इस ग्रंथ की गंभीरता और दुर्बोध्य का प्रमाण मिलता है। ऐसा अपूर्व और कठिन पुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में, सो भी पद्य में, गुमानोपनामक सर्वसुख मिश्र ने संवत् १८२५ में किया था जिसका नाम काव्यकलानिधि है। ये सर्वसुख मिश्र महम्मदी जिला खेरी के राजा अकबर अली खाँ *के आश्रित थे और उन्हीं

---

* राजा अकबरअली खाँ के पिता का नाम अब्दुल्लाहखाँ था। यह सोमवंशी क्षत्रिय थे जिनको औरंगाबाद के सैयद खुरंम ने मुसलमान करके अपनी लड़की ब्याह दी थी। उनका असल नाम बदरसिंह था। वह अपने भाई बहादुरसिंह के साथ अपने नाना दानशाह अहिवंशी के यहाँ बदिय गाँव परगना गोपामऊ जि० हरदोई में रहते थे। सैय्यद खुरंम ने सन् १७०० में दानशाह पर आक्रमण किया और सारे गाँववालों को मारकर बदरसिंह और बहादुरसिंह दो नाबालिग लड़कों को पकड़ लिया। बहादुरसिंह को उसने छोड़ दिया, पर बड़े भाई बहादुरसिंह को मुसलमान बना लिया। यह बदर उस की सेना का नायक और उसके राज्य का प्रबंधकर्ता हुआ। सन् १७०६ में खुरंम मर गया और उसके स्थान पर मुहम्मदअली अधिपति हुआ। खुरंम के एक और लड़का एक हिंदू स्त्री से इमामुद्दीनखाँ नामक था। उसने आधिपत्य के लिये विवाद आरंभ किया। अब्दुल्लाह ने उसकी सहायता की। पर मुहम्मदअलीने

की आज्ञा से उन्होंने इस ग्रंथकी रचना की थी। वे स्वयं लिखते हैं—

मिश्र सर्वसुख सुकविवर, श्रीगुरु चरण मनाइ।
बरनि कथा हौं कहतु हौं ह्वैहै वई सहाइ॥
संयुत प्रकृति पुराण सो संवत्सर निरदंभ।
सुरगुरु सह सित सत्तमी कियो ग्रंथ प्रारंभ॥ (आरंभ)
कविकुल मुकुटनि माहँ हीर सम कीरति राजै।
पिता हीर परसिद्ध जासुमति सुरगुरु लाजै॥
मामल देवी माय पुण्य पतिव्रत गिरिजा सी।
सकल मुक्ति की दानि साधु सेवत जो कासी॥
तेहि तनय भयो श्रीहर्ष कवि हरख भारती तंत्र को।
भव भाजन परम प्रसादमय जो चिन्तामणि मंत्र को॥

सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और इमामुद्दीन की माता को बंदी कर लिया। अब्दुल्लाह बड़ी चालाकी से उसे बंदी से छुड़ा, इमामुद्दीन को साथ ले १७२६ में भाग कर दिल्ली गया। वहाँ दिल्ली के सम्राट् मुहम्मदशाह से प्रार्थना की और दो वर्ष तक वहीं प्रयत्न करता रहा। मुहम्मदशाह से परवानगी लेकर सन् १७१८ में वह दिल्ली से लौटा और नवाब वजीर सआदतअली खाँ की सहायता से सारी सम्पत्ति पर इमामुद्दीन की माता का अधिकार करा दिया। १७२६ में दूसरे वर्ष इमामुद्दीन की माता मर गई। अबदुल्लाह ने राजा नवलराय के साथ मिलकर सारी सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर लिया और मुहमदी में गढ़ बनवाकर राजा की उपाधि ग्रहण की। अबदुल्लाह खाँ का देहांत १७३७ में हुआ। उसके तीन पुत्र थे। उसके मरने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र महबूबअली खाँ महम्मदी का राजा हुआ; पर वह पाँच बरस बाद १७४२ में मर गया। महबूब अली के बाद उसका मँझला भाई दस वर्ष तक राजगद्दी पर रहा। उसका देहांत होने पर राज्य के लिये सबसे छोटे भाई अली अकबर खाँ और महबूबअली के पुत्र गुलाम मुहम्मद में विवाद उत्पन्न हुआ। अली अकबर १७५१ में अपने भतीजे गुलाम मुहम्मद का घात कर स्वयं महम्मदी का राजा हुआ; पर महबूबअली खाँ की रानी ने सेना लेकर अलीअकबर का सामना किया और अलीअकबर रणभूमि से हार खाकर भागा। फिर अंत को दोनों में संधि हो गई। अली अकबर सन् १७७५ तक महम्मदी का राजा रहा और उसके अनंतर उसका भतीजा गुलाम महम्मद का भाई गुलाम नबी महम्मदी की गद्दी पर बैठा। अलीअकबर पंडित और हिन्दी कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में गुमान के अतिरिक्त प्रेमनाथ और निधान आदि कवि भी थे।

*   *   *   *

कनउज पति नरनाह जाहि उठि आसन साजै।
सभा माँहि सनमानि पान दै सुजस-समाजै॥
चरचा मम्मट भट्ट संग षट मास सुहाई।
जिन करिकै बहु भाँति वागदेवी लड़वाई॥
सुचि पुन्य पियूख विचित्र रस व्यास देव बरनी भली।
नलराज कथा नैषध वही तिहुँ लोक कीरति चली॥
रचे सरग बाईस जाहि कवि ईस सराहै।
श्रति पद व्यंजक मंजु रीति गुण गण उतसाहै॥
पूरब अरध अनूप गनत दुइ सहस सलोने।
इसलोक सँतीस अधिक पावैं जन टोने॥
द्वै सहस चारि इसलोक सौ उत्तर अरध सँवारिकै।
सब सहस चारि इसलोक औ इकतालीस विचारिकै।
खाँ साहिब के सुजस वर श्रीगुरु चरन सहाइ।
सो विचार अनुसार मत भाषा रच्यौ बनाइ॥

गुमान का यह ग्रंथ केवल अनुवाद ही नहीं है; इसमें कितने ही स्थलों में कवि ने अपनी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। पहले तो नैषधचरित जैसे क्लिष्ट ग्रंथ के अर्थ का समझना ही कठिन है; फिर उसे पद्य में अनुवाद करना और भी दुःसाध्य है। पर परम विद्वान सर्वसुख मिश्र ने इस दुरूह ग्रंथ का अनुवाद बड़ी योग्यता और पांडित्य से किया है। इतने बड़े कठिन महाकाव्य को, जिसे पढ़ाने में बड़े बड़े पंडितों की बुद्धि चकराती है, अपने सरल भाषानुवाद से पानी कर दिया है। इससे अनुमान होता है कि वह संस्कृत के कैसे धुरंधर विद्वान् और भाषा के अपूर्व कवि थे।

हिन्दी भाषा में रामचंद्रिका के बाद यही दूसरा महाकाव्य है। संस्कृत के नैषधचरित में बाईस सर्ग हैं; पर गुमान ने काव्यकलानिधि में उपोद्घात के अतिरिक्त आदि में एक और सर्ग जोड़कर जिसमें निषध देश का वर्णन है, तेइस सर्ग कर दिए हैं। अनुवाद

कहीं कहीं अक्षरशः, कहीं भावतः और कहीं संक्षेपतः किया है और कितने ही स्थलों पर अपनी प्रतिभा की भी झलक दिखाई है। अतः यह ग्रंथ मौलिक और अनुवाद दोनों कहे जाने योग्य है। हिन्दी भाषा के लिये यह दुःख की बात है कि जिस नैषधचरित की संस्कृत में बीसों टीकाएँ हैं और अनेक संस्करण अच्छे से अच्छे निकल चुके हैं और निकलते जा रहे हैं, उसके अनुवाद वा छायारूप 'काव्यकलाधर' की टीका की तो कौन कहे, आज तक कोई अच्छा संस्करण भी नहीं मिलता। श्रीवेंकटेश्वर का छपा केवल एक संस्करण मिलता है जिसे सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास ने सम्वत् १९५२ में प्रकाशित किया था। पर वह इतना अशुद्ध है कि उसे प्रकाशित करने से तो न प्रकाशित रहना ही भला था। उससे तो हिंदी साहित्य का उपकार की जगह अपकार ही हुआ है। अस्तु।

गुमान की कविता भूषण के टक्कर की ओजस्विनी है *। हम यहाँ उसके कुछ पद उदाहरण स्वरूप देते हैं:—

---

* भूषण की कविता से मिलाइयेः—

अति मतवारे जहाँ दुरद निहारियत
तुरगान ही में चंचलाई परतीत है।
भूषण भनत जहाँपर लगें बानन में कोक
पच्छिनहिं माहिं बिछुरन रीति है॥
गुनिगन चोर जहाँ एक चित्त ही के
लोक बँधे जहाँ एक सरजा की गुन प्रीति है।
कंप कदली में बारि बुंद बदली में
शिवराज अदली के राज में यो राजनीति है॥ १ ॥
रैया राय चंपत को चढ़ो छत्रसाल सिंह
भूषण भनत समसेर जामें जमकैं।
भादों की घटा सी उठी गरदैं गगन घेरैं
सेलैं समसेरैं फिरैं दामिनी सी दमकैं॥
खान उमरावन के, आन राजा रावन के
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी घमकैं।
बैहर बगारन की अरि के अगारन की
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥ २ ॥

दुजनि की हानि जहाँ बिरधापनोई करै
गुन लोप होत इक मोतिन के हार ही।
टूटे मनिमालै निर्गुन, हरताल लगै
पोथिन ही, रंक मन कलह-बिचारही।
संकरवरन पसु पच्छिन महँ पाइयत
अलकही पारै अरु भंग निरधारही।
जुग जुग राजै राज अली अकबर
सुरराज के समाज जाके राज पर वारही ॥१॥
थर थर हालैं धर धर धुंधकारनि सों
धीर नर तज जे धरैया बलबाहु के।
फूटत पताल ताल सागर सुखात सात
जात हय उड़ात व्योम बिहग बलाहके।
झालरि झुकत झलकत झबा पीलन पै
अली अकबर खाँ के सुभट सराह के।
अरि उर रोट सोर परत सँसार घोर
बाजत नागर नरवर नरनाह के ॥२॥
दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को माल बाल अबला को
अरि तजत परान राह चाहत परान की।
सैयद समरथ भूप अली अकबर को
दल चलत बजाइ मारु दुंदुभी धुकान की।
फेरि फेरि फणनि फणीस उलटतु ऐसे
ढोली खोलि उलटै ज्यों तमोली पाके पान की ॥३॥

गुमान का नैषध नगर का वर्णन भी किसी कवि से घटकर नहीं है और बड़ा ही पांडित्यपूर्ण है। यथाः—

ताने विशद वितान लाल झालरि झुकि झूमैं।
मौन सुधाधरबिंब प्रात रवि की छवि चूमैं ॥

बँगला बने अनेक लाल सित स्याम सुहावन।
गृह द्युति सागर माँह मनों फूले सरोजवन॥
कहुँ लरत गजराज बाघ हरिना कहुँ जूझत।
मल्लयुद्ध कहुँ होत मेष वृष महिष अरूझत॥
कहुँ नटत नट कोटि भाँट बतलावत गुनगनि।
कहुँ यज्ञ के ठाठ बेद गावत मुख मुनिगनि॥
कहुँ गनक गनत जोगी जपत तंत्र मंत्र मत विरत नित।
कहुँ करत चारु चरचा भली कवित चित्र की चतुरचित॥

कहीं कहीं तो गुमान की सूझ और उक्ति ऐसी है कि कलम चूमने को जी चाहता है; जैसेः—

जहँ दुर्वासा तप कियो कंटक लागो पाँइ।
शाप दियो ता देस ते डारो दर्भ नसाइ॥
सुख सों विहरत बनन में विद्याधर सुरसिद्ध।
तब ते त्रिभुवन में भयो देस विदर्भ प्रसिद्ध॥

क्या अच्छी कल्पना है! विदर्भ की ऐसी अच्छी निरुक्ति की है जो व्यासदेव को भी न सूझी थी।

पुनः—

ईश विलोचन पावक सों लपटो अँग अंग अनंग पराम्यो।
नाभि सुधारस की सरसी लखि झाँपि रह्यो यहि माहँ बुझान्यो॥
ताते कढ़ी यह धूम लता अति सूछम सुंदर रूप बखान्यो।
सोइ वरंगिनि की बरनी नवरोमवली मन है ठहरान्यो॥

क्या अनूठी उक्ति है, कैसी अद्भुत कल्पना है! बलिहारी इस सूझ की। गुमान की यह सूझ और कल्पना केवल अपनी ही स्वतंत्र रचना में नहीं है; कहीं कहीं अनुवाद में भी आपने ऐसी अलौकिक कल्पना और प्रतिभा दिखलाई है जिसने महाकवि श्रीहर्ष की उक्ति पर सोने में सुगंधि उत्पन्न कर दी है।

करि अंश दिगीसन के इक ठौर।
विरची नल मूरति रूप न थोर॥

तिसरी दृश अधिक वेदमयी है।
सब लोग देखावन काज भई है॥ सर्ग २।

यह श्रीहर्ष के इस श्लोक का अनुवाद है:—

दिगीशवृंदांशविभूतिरीशिता
दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां
निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्। सर्ग० १ श्लो०६।

कैसा दरिया को कूज़े में भर दिया है। यह श्लोक साधारण नहीं है। इस पर संस्कृत के टीकाकारों ने सफहे के सफहे स्याह कर डाले हैं और तब इसके आशय को समझा सके हैं।

बिधि भाल दरिद्र लिखो जेहि के,
नहि कीजत अंक वृथा तेहि के।
नल पतिक ताहि तुरंत दिये,
दारिद्र को दारिद दूर किये॥ सर्ग २।

नैषधचरित में इसका मूल श्लोक यह है:—

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं
लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः
प्रणीय दारिद्र्य दरिद्रतां नलः। सर्ग १ श्लो० १५।

कैसी सरल भाषा में गंभीर आशय प्रकट किया है। और लीजिए:—

बिंदुमती की चातुरी तें जु करी निरधार।
वोही तें संसार यह निहचै भयो ससार॥ सर्ग १०

इसका मूल इस प्रकार है:—

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी
घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव।
मसारतारादि ससारमात्मना
तनोषि संसारमसंशयं यतः॥ सर्ग ६ श्लो० १०४

कितने थोड़े शब्दों में श्लोकगत गूढ़ाशय को व्यक्त किया है ! अब आपके संक्षिप्त छायानुवाद का उदाहरण लीजिए—

देखु कले ! कछु नैन चले,
मुख नैन हने सो चले ! पहिचाने।
काँपत होंठ तकै तुम मेनके !
बोलति कल्पलते ! सुन कानै ॥
चारुमती तनु आँचर झाँपहि,
केशिनि केशन को गहि आनै।
पोंछु तरंगिनि ! नैनन सों,
जलधार बहै सरिता सर तानै ॥ सर्ग ५।

संस्कृत श्लोकों के भावों से मिलाइए और देखिए, कैसा आशयानुवाद थोड़े शब्दों में किया है। चने की दाल पर चित्रकारी की है:—

अथ कले कलयश्वसितस्फुटं चलति पक्ष्मचले परिभावय।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके किमपि जल्पति कल्पलते शृणु ॥
रचय चारुमते स्तनयोर्वृतिं कलय केशिनि केश्यमसंयतम्।
अवगृहाण तरंगिणि नेत्रयोर्जलभराविति शुश्रुविरे गिरः ॥
स० ४, श्लोक ११३-११४

अब विशदानुवाद का उदाहरण लीजिए:—

अनल मैं न करी अभिलाष मैं। सजहि वेग हमैं किन राख मैं ॥
निषध देश चलौं उड़ि वायु सों। समय पाइ मिलौं नल पायँ सों ॥
अइ विरंचि बड़े तुम धीर हो। पर मनोरथ भंजन-बीर हो ॥
जियहु कोटि बरीसन जाइ कै। पियहु मो तन प्राण अघाइ कै ॥
सर्ग १०

त्वरस्व पञ्चेषु हुताशनात्मनः स्तनुष्व मद्भस्ममयं यशश्रयम्।
विधेः परेहाफल भक्षणव्रती पताद्य तृप्यन्नसुभिर्यमाफलैः ॥
सर्ग ६, श्लोक ८८

क्या अच्छी सूझ है ! पंचेषु से अग्नि प्रदीप्त कराके उससे यशश्चैत्य चुनवाने की कल्पना श्रीहर्ष ने की जिससे कोई निजी लाभ न

था। पर गुमानने कामाग्नि से यह कामना कराई कि तू अपनी ज्वाला में जलाकर राख कर दे जिसमें मैं राख होकर वायु से उड़कर निषध देश में पहुँचूँ और अपने प्रियतम नल के पद को स्पर्श करूँ। कितनी बढ़िया कल्पना है! कमाल कर दिखाया है। एक पंथ द्वो काज। शरीर का वियोग से जलना और प्रियतम से मिलना।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक अनोखी कल्पनाएँ हैं जो कवि की कविता में पद पद पर मिलती हैं। क्या ही अच्छा होता यदि कोई सहृदय प्रकाशक इस अनोखे ग्रंथ का एक अच्छा संस्करण निकाल कर इसका उद्धार करते। मेरा ध्यान इस ग्रंथ की ओर इसी वर्ष गया। कारण यह था कि इस पुस्तक को हिंदू यूनिवर्सिटी की एम० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में रखा गया और मुझे अपने ज्येष्ठ पुत्र चिरंजीव सत्यजीवन वर्मा को पढ़ाने के लिये इसे ध्यानपूर्वक देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मुझे तो यह ग्रंथ काव्य और भाषा की दृष्टि से हिंदी साहित्य का एक अमूल्य रत्न प्रतीत होता है। पर जहाँ रामचंद्रिका तक का कोई शुद्ध संस्करण हिंदी भाषा में अब तक नहीं निकल पाया है, वहाँ इस अमूल्य ग्रंथ का उद्धार होने की कम आशा है।

कविवर गदाधर जी

[लेखक—पं० रामनारायण मिश्र बी० एस सी०]

अवध के रायबरेली जिले में हसनपुर नामक एक ग्राम है। कविवर गदाधर जी वहीं रहा करते थे। इनका जन्म बगसर में हुआ था। जन्मतिथि का ठीक पता नहीं लगता। कुछ लोग इनका जन्म काल १८०८ विक्रमी बतलाते हैं। काव्य इन्होंने बगसर में ही पढ़ा था। वहाँ के तत्कालीन राजा अमानसिंह जी इन पर बड़ी कृपा रखते थे। राज-भण्डार से इन्हें भोजन की सामग्री मिल जाया करती थी फिर भी गरीबी के कारण कुटुम्ब की रक्षा के लिये प्रायः भिक्षाटन करना पड़ता था। बाल्यकाल में इन्होंने सारस्वतचन्द्रिका, अमरकोष और रघुवंश आदि काव्य ग्रंथ पढ़े थे। बगसर से थोड़ी दूर पर इन्होंने अपने रहने का मकान अलग बनवाया था। वहाँ धीरे धीरे और लोग आकर रहने लगे और एक छोटा सा गाँव बस गया जिसका नाम गदाधर जी ने काशीखेड़ा रक्खा। यह गाँव अब भी मौजूद है।

गदाधर जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण, पाटन के शुक्ल थे। इनकी ननसाल रायबरेली जिले के पारा नामक गाँव में थी। बड़े होने पर यह वहाँ जाकर रहने लगे। वहाँ यह अपने मामा बेनीराम के पास पाँच वर्ष रहे। परंतु वहाँ के रघुवंशी ठाकुरों से लड़ाई हो जाने की वजह से यह वहाँ से हटकर पूर्व ओर कोटवा नामक ग्राम में रहने लगे। वहाँ के मुसलमान ज़मींदार ने इनका बड़ा मान किया और हसनपुर में गुरऊ चौधरी के यहाँ इन्हें बसाया। वहाँ इनकी पाण्डित्य-प्रतिभा का उदय हुआ। श्रीमद्भागवत की कथा कहकर इन्होंने स्थानीय ज़मींदारों से अपने लिये ज़मीन और बाग़ इत्यादि प्राप्त किए।

हसनपुर से छः कोस पर चन्दापुर नामक एक राज्य है। वहाँ के तत्कालीन राजा दिग्विजयसिंह ने इनकी प्रशंसा सुनकर इन्हें

बुलाया और बड़ा सम्मान किया। तब से उनके दरबार में ये प्रायः आया करते थे। वहाँ से इन्हें गढ़ी, कोटवा, कुसुढ़ी और बँसफटा नाम के निकटवर्त्ती ग्रामों में माफ़ी की ज़मीन मिली। आजीविका का कष्ट दूर हुआ और धीरे धीरे भाग्य का सितारा चमका। इन्होंने खजुरगाँव नामक राज्य में भी अपनी रसाई पैदा कर ली। लखनऊ जाकर वहाँ के प्रसिद्ध दानी नवाब आसफुद्दौला से मुलाक़ात की। नवाब साहब ने इनके काव्य से प्रसन्न होकर इन्हें अपने यहाँ से पचास रुपए सालाना की मंजूरी कर दी; और इनकी ननसाल पारा में इन्हें बहुत सी ज़मीन माफ़ी की अपनी मुहर से युक्त सनद लिखकर दी। इनको इसी प्रकार अवध के कई तअल्लुकेदारों से 'सालाने' मिलते थे।

इनकी कवित्व शक्ति बड़ी विलक्षण थी; जहाँ कहीं यह जाते, अपनी प्रतिभा से विद्वानों को मुग्ध कर लिया करते थे।

इनके लिखे हुए छः ग्रंथों का पता लगता है :—

(१) शृंगारचंद्रिका, (२) भ्रमरगीत, (३) सुदामाचरित्र, (४) विनयविनोद, (५) भोजनमाला और (६) करुणालहरी।

इनमें से "भोजनमाला" और "करुणालहरी" तो संस्कृत के और शेष चारों हिंदी के काव्य ग्रंथ हैं।

चंदापुर के राजा दिग्विजयसिंह से इनका विशेष संबंध रहा करता था। उनकी प्रशंसा में यह प्रायः कविता लिखा करते थे। नमूने के लिये इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

भूप दिग्विजयसिंह तिहारे तोपखाने कछू
मोपै न बखाने जात देखतै सोहात हैं।
....
संगर उदंड में उड़ाये टोलै बैरिन के
आड़े नहिं अड़ैं उड़े गोले ओर जात हैं।
समुद गिरावें गिरि टोपरी टपरी टपरि फेरि
समुद के टापू पर टप्पे जाय आत हैं।

एक बार यह जगन्नाथ जी गए थे। वहाँ से आकर महाराज

दिग्विजयसिंह से मिले। महाराज ने इनसे प्रश्न किया कि जगन्नाथ जी हाथ-पैर-विहीन क्यों हैं। इसका जवाब इन्होंने जिस कवित्त में दिया, वह तो नहीं मिलता। पर उसका आशय यह था :—

"मैंने जगन्नाथ जी से स्वप्न में उनके हाथ-पैर विहीन होने का कारण पूछा। इस पर उन्होंने स्वयं कहा—मेरे हाथ राजा दिग्विजय-सिंह की पीठ पर और चरण उनके हृदय में हैं, इससे नहीं दिखाई देते।"

क्या खूब! कमाल है। कैसी लाजवाब कल्पना है!

आगे चलकर, देखिए, गदाधर जी के काव्य रस की धारा कितनी मधुर है, वर्णन-शैली कितनी मनोहर है।

शृंगारचंद्रिका में मध्याधीरा नायिका का वर्णन करते हुए कैसा अच्छा चित्र खींचते हैं :—

तुम्ह ऐसे साधुन को लागै अपराध कैसे जदपि कपिल कहीं झूठी फुरी खलकैं। राति जितै जात तितै चोर से कहाये तुम आये इतै भोर ताते साह जाने भलकैं। भाल है न जावक गदाधर न नैन लाल, ओठ में अंजन, न पीक लागी पलकैं। दरपन से अमल निहारे कान्ह आनन में मेरी बेंदी मनिन के प्रतिबिंब झलकैं।

क्या ही कटाक्षपूर्ण व्यंग्य है, पर कैसी सरस और शीलभरी शब्दावली है!

गदाधर जी का "भ्रमरगीत" भी बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है। परंतु खेद है, इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया। इसमें किस श्रेणी की कविता है, इसका अनुमान सहृदय पाठक निम्नलिखित पद्यों से स्वयं कर सकते हैं—

बलि केशव शिशु नन्द-घरनि पै मचले माँगत माखन।
बेणी बसन मथनिया गहि गहि कहि तुनकत कल भाखन॥
आरि पसारि उलटि कर मींजत दृग खंजन पल पाखन।
कंज पाखुरी सरिस अँगुरियन धरो बतावत ताखन॥

हमहीं तनय तिहारे जननी चहत कौन हित राखन।
मैया तोहिं सौंह बाबा की भूख लगी दे चाखन॥
नतरु दहेंड़ी फोरि बहैहौं तैं तकिहै निज आँखन।
तेरे डरन द्वार भगि जैहौं राखि सखा जन साखन॥
बाल-बिनोद मोद लखि जसुदा पूजत मन अभिलाखन।
लखि सिहात शारदा गदाधर सुकृत सराहत लाखन॥

कृष्णजी की बाललीला का वर्णन कितनी मधुर और सरस भाषा में किया गया है! बाल-चापल्य की कैसी मोहनी प्रतिमूर्त्ति है। 'माखन' के लिये इस प्रकार मचलने का ढंग कैसा स्वाभाविक और सुन्दर है। प्राकृतिक प्रांजलता और कोमल-कांत पदावली पर ध्यान देने से कविता का महत्व प्रकट होता है।

'सुदामाचरित्र' में आपने सुदामा जी के भोजन आदि का सत्कार श्रीकृष्ण के द्वारा किस भाँति कराया है, इसकी झलक नीचे लिखे पदों से प्रकट होती है—

सिद्ध भई महराज रसोई विनय करी सतिभामै।
आदर सौं कर जोरि कृपानिधि आन्यो बेगि सुदामै॥
पद पखारि बैठारि पीठि ढिग बासि धरो जल झारो।
संधि सुगंधि सपेदि कचौरी परसी भरि पनवारो॥
बैंगन, साग, सँधान, सरौती, सेमि, सौंठि शुचि लोने।
खोआ, खाँड़, दही, मिसरी सब परसी भरि भरि दोने॥
पपची, पान, जलेबी, खुरमा, खाझा धरि द्विज आगे।
बूँदी, सेव, सिंघार, खजुरिया सकल कंद-रस पागे॥
आज्ञा दई भोग तब लायो घंटा शंख बजाई।
नेत्र मूँदि करि ध्यान ईश को बलि लक्ष्मीपति ध्याई॥
पंचकौर करि नीर अचै पुनि जेवन लगे बहोरी।
तृपित भये, अँचये कहि कुंभज दीन्ही श्याम गिलोरी॥
विप्र जिवाइ, जेंइ इक आसन बैठि गदाधर दोये।
रुक्मिणि चँवर डुलावत हरिसन हँसे विजय निज गोये॥

प्राचीन सभ्यता तथा भारतीय आतिथ्य का कैसा सुंदर दिग्दर्शन है !

भोजन की सामग्री तैयार करने का गदाधर जी को कदाचित् विशेष ज्ञान था। इस विषय पर 'भोजनमाला' नामक संस्कृत ग्रंथ ही आपने लिख डाला है। इस ग्रंथ में विविध भोज्य पदार्थों का वर्णन है। दही के बड़े का कैसा कवित्वमय वर्णन है, देखिए—

हिंग्वैला नवनीत तीक्ष्ण लवणास्त्वन्माख पिष्टोद्भवा।
स्नेहे निर्जल शोधते कटुतरे पक्वा सभा सारुणा॥
तक्रे रामठ जीरकैः कलुषते मग्नोस्थितः चन्द्रमन्।
दुग्धाब्धौ वटकास्तयेव भगवान् जाभुक्तवान् भूधरान्॥

गदाधरजी ने अनेक स्फुट रचनाएँ भी की हैं जो प्रायः उनके प्रान्त के लोगों को कंठाग्र याद मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक सवैया नीचे दिया जाता है—

वश ह्वै मुरली सुरलीन किधौं किधौं कूल कलिंदी के टोहन गो।
किधौं पीत पटा अरु या लकुटी किधौं मोर-पखा छबि जोहन गो।
किधौं लाल के माल के मध्य फँस्यो किधौं काम कमान सी भौंहन गो।
हम कासों गदाधर योग करैं मन तो मनमोहन गोहन गो॥

विरहाकुल ब्रजांगनाओं का ऊधो जी से कैसा युक्तिपूर्ण प्रस्ताव है! हम भी इसका अनुमोदन करेंगे। निःसंदेह जब मन ही पास नहीं, तब बेचारी गोपिकाएँ योगाभ्यास कैसे करें?

एक जगह पर गदाधर जी ने एक कवित्त में गोपिकाओं द्वारा ऊधो के प्रस्ताव को निरर्थक और अनावश्यक साबित कर दिया है।

पुहुप प्रबालन की गूदरी गले में मेलि
बेली श्याम सेली सबै अग पर काज के।
किंशुक धुनी के पास मौन ह्वै अकास आस
खड़े एक पाय के अपाय लोक लाज के।
सहैं सीत घाम नित चहैं न विभूति वित्त
जोजी हैं गदाधर जू गोरख समाज के।

भोगी गोप गोपिन को कौन कहै ऊधो
यहाँ योगी भए विटप वियोगी ब्रजराज के ।

जहाँ वृक्षावली तक ने कृष्ण के वियोग में इन सामानों से युक्त होकर योग धारण कर लिया, वहाँ कृष्ण की शैशव-सहचरी मानव देह-धारिणी प्रेम की साक्षात् मूर्ति गोपिकाओं को योग की शिक्षा देना व्यर्थ ही है।

गदाधर जी ने नीति विषयक भी कुछ कविता की है। इनका अतिथि सत्कार भी बहुत प्रशंसनीय था। एक बार अयोध्या के प्रख्यात विद्वान् पण्डित उमापति तिवारी हसनपूर के निकट होकर निकले। आप किसी प्रकार का बोया जोता अन्न नहीं खाते थे। गदाधर जी ख़बर पाते ही एक पात्र में पसाढ़ी के चावल उनकी सेवा में ले गए। चावलों पर एक पत्र रख लिया था, जिसमें निम्नलिखित सवैया लिखा था—

ना यह नन्द को गेह गदाधर दूध दही नित ही अनुरागे ।
ना दुरजोधन धाम जहाँ पकवान तजे बहु कन्द के पागे ।
आगन सों प्रिय पाहुन पाथ उपाय थक्यों न मिल्यो कछु माँगे ।
जो हतो दीन के दीनदयाल सो साग अलोन धर्यो प्रभु आगे ॥

विदुर का उक्त वाक्य कृष्ण के प्रति किस सुंदरता से कविता-बद्ध करके अपने अतिथि उमापति जी के सम्मुख गदाधर जी ने रक्खा, इसका अनुमान सहृदय पाठक स्वयं ही कर सकते हैं।

गदाधर जी प्रायः ईश्वर-विषयक काव्य करते थे। इनके शिष्यों में से सलेथू के विद्वद्वर कविवर जवाहिर जी मिश्र तथा सातनपुरवा के विख्यात सुकवि पंडित अयोध्यप्रसाद जी बाजपेयी थे। इन दोनों का हाल नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पिछले अंकों में निकल चुका है।

एक मात्र अपने ही पुरुषार्थ से कविवर गदाधर जी ने बहुत ग़रीबी की हालत से अपनी आर्थिक दशा सुधार ली थी; और पीछे से फिर कुछ द्रव्य और गल्ले का लेन देन भी करने लग गए थे। यह कृष्णोपासक वैष्णव थे। इनके केवल एक पुत्र था। उनका नाम

था शिवदत्त जी। शिवदत्त जी ने केवल साधारण पूजा-पाठ सीखा था। वे घर की महाजनी का कार बार करते थे।

इनके प्रपौत्र पं० शिवमंगल जी अभी हसनपूर में रहते हैं। इनके पास गदाधर जी के काव्य ग्रन्थ और सनदें अभी तक मौजूद हैं।

गदाधर जी लगभग ८० वर्ष की आयु व्यतीत कर अंत में डल-मऊ नामक स्थान में गंगा के किनारे परलोकवासी हुए। किम्वदन्ती है कि इन्होंने गंगा की धारा में खड़े होकर प्राण विसर्जित किए थे। अपने अंतिम समय में गंगा जी की स्तुति में इन्होंने निम्न लिखित कवित्त कहे थेः—

देनी अपवर्ग की निसेनी स्वर्ग हू की आनि
गंगा जू ! न तातें आन देव अनुरागऊँ।
तेरो बल पाय छाँड़े सकल उपाय जेते
दूरिकै गदाधर विराग जय जागऊँ।
कर्म काल त्रिगुन विनास की न आस मेरे
जानि पाप आपने अनेक एक माँगऊँ।
बसत तिहारे तीर, देखत तरंग भीर
पीवत अमल नीर हौं शरीर त्यागऊँ॥ १॥
करम कुअंक काटि रंक ते धनेश करै
पापिन की भेंट मेटै कालिन्दी के भैया तैं।
अरथ, धरम, काम, मोख-दूध देनहारी
बिबुध गदाधर को कामधेनु गैया तैं।
बिरची बिरंचि चक्रपानि चरनोदक तैं
भारी भवसागर के तारिबै को नैया तैं।
निज मैया मरे जाहि अंक तें बसावै ताहि
अंक लै बसावै सुर संग गंग मैया तैं॥ २॥

भूषण और मतिराम

(लेखक — पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित)

गत वर्ष जिस समय मैं फतहपुर जिले में भ्रमण कर रहा था, उस समय असनी निवासी पं० कन्हैयालाल भट्ट महापात्र के यहाँ जो कि महाकवि नरहरि महापात्र के वंशज हैं, "वृत्तकौमुदी" नामक एक ग्रंथ खोज में मिला था।

यह ग्रंथ महाकवि मतिराम का रचा हुआ है। इसका निर्माण काल सं० १७५८ वि० है, जैसा कि इस दोहे से विदित होता है—

संवत सत्रह से बरस, अट्ठावन शुभ साल।
कार्तिक शुक्ल त्रयोदसी, करि विचार तेहि काल।

यह वृत्तकौमुदी ग्रंथ राजवंशावतंस श्री स्वरूपसिंह देव के हितार्थ रचा गया है, जैसा कि ग्रंथ में वर्णन किया गया है—

वृत्तकौमुदी ग्रंथ की, सरसी सिंह स्वरूप।
रची सुकवि मतिराम सों, पढ़ौ सुनौ कवि रूप॥

कवि ने अपने वंशादि का परिचय भी निम्नलिखित पद्यों में दिया है—

तिरपाठी बनपुर बसै, वत्स गोत्र सुनि गेह।
विबुध चक्रमनि पुत्र तहँ, गिरधर गिरधर देह॥२१॥
भूमिदेव बलभद्र हुव, तिनहिं तनुज मुनि मान।
मंडित मंडित मंडली, मंडन मही महान॥२२॥
तिनके तनय उदारमति, विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज, सकल गुनन को धाम॥२३॥
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को, बरन्यो सुजस अपार॥२४॥

इससे प्रतीत होता है कि मतिराम कवि बनपुर निवासी वत्स गोत्रीय पं० चक्रमणि त्रिपाठी के पुत्र-रत्न पं० गिरिधर के प्रपौत्र,

पं० बलभद्र के पौत्र, पं० विश्वनाथ के पुत्र और पं० श्रुतिधर के भतीजे थे। महाकवि भूषण ने भी शिवराज भूषण (छंद २६–२८) में अपने वंशादि का परिचय इस प्रकार दिया है—

दुज कनौज कुल कश्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
बसत तिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर ॥२६॥
बीर बीरवर से जहाँ, उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ, विश्वेश्वर तद्रूप ॥२७॥
कुल सुलंक चित कूटपति, साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र ॥२८॥

इससे विदित होता है कि महाकवि भूषण त्रिविक्रमपुर निवासी कश्यप गोत्रीय पं० रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे।

हिंदी संसार के पठित समाज को यह भली भाँति विदित है कि चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ या जटाशंकर ये चारों सहोदर भाई माने जाते रहे हैं (शिवसिंह सरोज पृ० ४१३)। परन्तु उपर्युक्त दोनों कवियों (भूषण और मतिराम) ने अपने अपने विषय में जो कथन किया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे दोनों कदापि सहोदर भाई न थे। भूषण कश्यप गोत्रीय और मतिराम वत्स गोत्री थे। भूषण के पिता का नाम रत्नाकर था और मतिराम पं० विश्वनाथ के पुत्र थे। अतः जब दोनों के गोत्र और पिता भिन्न भिन्न थे, तब वे सहोदर भाई कैसे हो सकते हैं? वे तो एक वंश के भी नहीं थे। संभव है, भूषण और मतिराम मामा फूफी के संबंध से भाई कहलाते हों। उपर्युक्त कथनों से तो यही प्रतीत होता है कि दोनों कवि एक ग्राम के निवासी भी नहीं थे; क्योंकि भूषण कवि अपने को तिविक्रमपुर निवासी और मतिराम वनपुर वासी लिखते हैं। मिश्रबंधु महोदय ने नवरत्न में इनको तिकवाँपुर जिला कानपुर निवासी लिखा है, जो कि "त्रिविक्रमपुर" शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। और संभव है, मतिराम ने भी 'तिकवनपुर' का संक्षिप्त रूप "बनपुर" लिया हो, परंतु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मेरे विचार से "वनपुर" तिकवाँपुर से भिन्न अंतर्वेद का दूसरा ग्राम है। विनोद के पृ० ५६४ में इसका वर्णन किया गया है। इंद्र जी त्रिपाठी यहीं हुए जो सं० १७४२ में वर्तमान थे। जब यह निश्चित हो गया कि भूषण और मतिराम सहोदर भाई नहीं थे, तब कुछ सज्जनों ने यह शंका उत्पन्न कर दी कि इस वृत्तकौमुदी ग्रंथ के रचयिता मतिराम और भूषण के भाई मतिराम भिन्न भिन्न व्यक्ति थे।

इस शंका का समाधान हुए बिना उपर्युक्त सिद्धांत ही अपूर्ण रह जाता है। इस बात की जाँच करना भी उचित प्रतीत होता है। ललितललाम और रसराज के रचयिता मतिराम और वृत्तकौमुदी के रचयिता मतिराम दोनों का समय एक ही है *। ललितललाम सं० १७४५ वि० के पूर्व बनाया गया था; क्योंकि यह ग्रंथ बूँदी नरेश राव राजा भाऊसिंह † की प्रशंसा में बनाया था और उन्हीं को समर्पित किया गया था। राव राजा भाऊसिंह सं० १७१६ में गद्दी पर बैठे और सं० १७४५ में उनका देहांत हुआ। अतः इसी बीच में किसी समय ललितललाम ग्रंथ रचा गया था। रसराज सं० १७६७ वि० में रचा हुआ बतलाया जाता है ‡; और वृत्तकौमुदी का निर्माण काल सं० १७५८ वि० है जो कि ललितललाम के पीछे और रसराज के पूर्व रचा गया है।

इससे यह निश्चित है कि वृत्तकौमुदी का रचना काल मतिराम के कार्य-काल के अंतर्गत ही है।

ललितललाम और वृत्तकौमुदी की भाषा बिलकुल मिलती है। दोनों ग्रंथों में वीर रस के जो छंद हैं, वे एक ही सी ओजस्विनी भाषा में लिखे गए हैं और भूषण की कविता से बहुत मिलते हैं।

---

* कविता कौमुदी पृष्ठ २३१। मिश्रबंधु विनोद पृष्ठ ४११। हिंदी नवरत्न पृष्ठ २४८।

† मिश्रबंधु विनोद पृष्ठ ४८६। टाड राजस्थान, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ ८१८। हिंदी नवरत्न पृष्ठ ३०७।

‡ हिंदी नवरत्न पृष्ठ ३१७।

शृंगार रस की शैली तथा माधुर्य्य आदि गुण भी दोनों में एक से ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि दोनों ग्रंथ एक ही कवि के रचे हुए हैं।

दोनों के कुछ कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जिनसे भाषा, भाव और शैली की समानता का बहुत कुछ पता लग सकता है।

वृत्तकौमुदी के प्रथम प्रकरण से राजवंश वर्णन—

अति अथाह गुन सिंधु सूर काशी नरेश हुव।
आतपत्र धरि धीर धरनि मंडन प्रसिद्ध भुव॥
विक्रम जिमि पृथराज सबल पारथ पृथु पेक्खिय।
क्षात्र धर्म प्रतिपालि दान कृप कर्ण सुलेक्खिय॥
मधु साहि सुअन बुंदेल घर वीरसिंह औतार लिय।
जब जूथ प्रबल मंडिय जगत,
सुजपति विदिसि दिसि हद्द किय॥१॥

छत्रियपति छितिपाल उदित उद्दाम ओज अति।
प्रगट पुहुमि पुरहूत भयो विक्रम अपार गति॥
समर रुद्र भय भंजि वीर विजय व्रत लीन्हेंउ।
राज राज सम वित्त वितरि जस करणहिं दीन्हेंउ॥
हुव चक्र मान बुन्देल सोइ वीरसिंह पंचम सुअन।
बर खग्ग दसहु दिसि दधिय लिय,
सुगजिज दुसह दच्छिय दुवन॥२॥

वसु कीरति कमनीय करिय दिन दान अमित करि।
हद हिम्मत हिंदुवान पेंडि रक्खिय सुभुजन धरि॥
असि कसि खंड अराति अखिल सज्जन सुख संचिय।
देवराज सम साज मौज फौजनि वर रंचिय॥
बुन्देल वीर कुंजरपती चन्द्रभान महिपाल सुव।
धनि धीर धरनि मंडन प्रबल
सुमित्र साहि नरनाह हुव॥३॥

अति अमेट अरवीन करत, गरवीन गरद हठि।
जुटत जुद्ध लखि कुद्ध जात अँसुमान सत्रु नठि॥
दिय नृसिंह जय पातु जाहि संचित सु सिखिचय।
आँधु अवनि अवलंब भयउ सुभ कर्म धर्ममय॥
नृप मित्र साहि नंदन प्रबल गहिरवार गंभीर भुव।
कुलदीप वीर बुन्देल घर सु अब सरूप अवतार हुव॥४॥
गज्जित गैयर मत्त सुरथ सज्जित जिमि पारथ।
बज्जत दुंदुभि घोर भूत तज्जत पुरुषारथ॥
गब्बर गैयर हरत हारि नहिं रत्थ रस्सक्किय।
जब्बर वीर बुँदेल हाँक सुनि सरब रत्थक्किय॥
हुव सिंह सरूप सरोज जहँ तहँ दच्छिण उट्ठिय गरद।
हट्टिय अरि लुट्टिय नगर जुट्टिय चोर फुट्टिय मरद॥५॥

निज कुल भानु समान लखि नृपति सरूप सुजान।
बहु विधि जाको देखिये बढ़त दान दिन मान॥६॥

भिच्छुक आये भौन के, सबन लहे मन काम।
त्योंही नृप को सुजस सुनि आयो कवि मतिराम॥७॥

ताहि बचन मन मानिके, कीन्हो हुकुम सुजान।
ग्रन्थ संस्कृत रीति सों, भाषा करौं प्रमान॥८॥

छंदसार संग्रह रच्यो, सकल ग्रन्थ मति देखि।
बालक कविता सिद्धि कों, भाषा सरल विशेषि॥९॥

श्री महराजधिराज वीर विरसिंह देव हुव।
चन्द्र भान धरनीश धीर ताको प्रसिद्ध भुव॥
मित्र साहि तिनको सुपुत्र विख्यात जगत सब।
तासु पुत्र अवतंस अवनि पंचम सरूप अब॥
जगत जासु अवलंब लहि मतिराम सुकवि हितचित धरिय।
रचि छंदसार संग्रह सरस सु इमि वृंदक पद्धति करिय॥१०॥

९

ललितललाम से उद्धृत छंद—

तिमिर तुलित तुरकान प्रबल दिशि विदिश प्रगट्टत।
चलन पंथ पंथीन धरम श्रुति करमनि घट्टत॥
लखत न लोचन लोक अवनिपति मोह नींद रस।
धरनि वलय सब करत जानि कलि-काल आप बस॥
मतिराम तेज अति जगमगत भावसिंह भूपाल महँ।
दिनकर दिवान दिन दिन उदित करत सुदिन सब जगत कहँ॥७॥

एक धर्म्म गृह खम्भ जम्भ रिपु रूप अवनि पर।
एक बुद्धि गम्भीर धीर वीराधि वीरवर॥
एक ओज अवतार सकल सरनागत रच्छक।
एक आसु करवाल निखिल खल कुल कहँ तच्छक॥
मतिराम एक दातानि मनि जग जस अमल प्रगट्टियउ।
चहुवान वंश अवतंश इमि एक राव सुरजन भयउ॥६३॥

जेते पैंडदार दरबार सिरदार सब,
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भौ।
मतिराम कहै करवार के कसैया केते,
गाडर से मूड़े जग हाँसी को प्रसंग भौ॥
सुरजन सुत राज लाज रखवारो एक,
भोज ही ते साहि के हुकुम पगपङ्ग भौ।
मूँछनि सों राव मुख लाल रंग देखि मुख,
औरन को मूछनि बिना ही स्याम रंग भौ॥६७॥

परम प्रवीन धीर धरम धुरीन दीन,
बंधु सदा जाकी परमेसुर में मति है।
दुर्जन बिहाल करि जाचक निहाल करि,
जगत में कीरति जगाई जोति अति है॥

राव शत्रुसाल को सपूत पूत भावसिंह,
मतिराम कहै जाहि साहिबी फबति है।
ज्ञानपति दानपति हाड़ा हिन्दुवान पति,
दिल्लीपति दलपति बला बंधपति है ॥७४॥
शत्रुशाल सुत सत्य मैं भावसिंह भूपाल।
एक जगत मैं जगत है सब हिंदुन की ढाल ॥७५॥
वंश वारि निधि रतन औ रतन भोज को नन्द।
साहनि सौं रन रंग मैं जीत्यो बखत बिलन्द ॥७६॥

इन दोनों पद्यों से भली भाँति विदित होता है कि ये दोनों ग्रंथ मतिराम के रचे हुए हैं। वृत्तकौमुदी की रचना ललितललाम से पीछे की होने के कारण और भी ओजस्विनी प्रतीत होती है।

अब एक ऐतिहासिक प्रमाण भी दिया जाता है जिससे भली भाँति विदित हो जायगा कि ललितललाम, रसराज, छंदसार पिंगल और वृत्तकौमुदी के रचयिता महाकवि मतिराम एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं हैं।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ शिवसिंह सरोज (पृ० २५६) में एक छंद "छंदसार पिंगल" से उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

दाता एक जैसो शिवराज भयो जैसो
अब फतेसाहि सी नगर साहिबी समाज है।
जैसो चित्तौर धनी राजा नर-नाह भयो
जैसो ई कुमाऊँपति पूरो रज लाज है।
जैसे जयसिंह यशवंत महाराज भए
जिनको मही में अजो बधो बल लाज है।
मित्र साहि नंद सी बुँदेल कुल चन्द जग
ऐसो अब उदित स्वरूप महराज है॥

इस छंद में महाकवि मतिराम ने अपने तीन आश्रयदाता राजाओं कुमाऊँ-पति उद्योतसिंह, श्रीनगर (बुंदेलखंड) के राजा फतेह

साहि और श्री मित्र साहि बुँदेले के पुत्र राजवंशावतंस स्वरूपसिंह की समानता महाराज शिवाजी, महाराणा उदयपुर, जयपुर नरेश महाराज जयसिंह और जोधपुर नरेश महाराज जसवंतसिंह से की है।

इस छन्द से यह भली भाँति विदित होता है कि मतिराम ने इसे महाराज शिवाजी, जयसिंह और जसवंतसिंह तथा राणा प्रताप के मरने के अनंतर रचा है। बूँदी नरेश से ये कुछ असंतुष्ट से प्रतीत होते हैं; क्योंकि इस छंद में उनकी चर्चा नहीं की गई है। स्यात् राव राजा भाऊसिंह के मरने के कारण उनका वर्णन न किया हो; क्योंकि इस छंद में मतिराम ने अपने जीवित आश्रयदाताओं का ही वर्णन किया है; विशेष कर श्रीनगर (बुंदेलखंड) नरेश फतेह साहि और स्वरूपसिंह बुँदेले की ही विशेष प्रशंसा की है। संभव है, राव राजा भाऊसिंह के स्थानापन्न अनिरुद्धसिंह का बर्ताव उनके साथ अच्छा न रहा हो जिसके कुछ स्थानिक राजकीय कारण भी हो सकते हैं; और इसी लिये भाऊसिंह के मरने पर वे वहाँ से चले आए हों। बूँदी जाने पर राव राजा बुद्धसिंह का बर्ताव संतोषजनक न होने के कारण भूषण कुछ दिन ठहरकर ही चले आए थे। इसी छंद में श्रीनगर नरेश फतेह साहि और मित्र साहि बुँदेले के पुत्र स्वरूपसिंह की प्रशंसा वर्तमान काल में की गई है। इससे प्रतीत होता है कि छंदसार पिंगल बनाते समय इनका आवागमन फतह साहि और स्वरूपसिंह दोनों के यहाँ था। हिंदी नवरत्न में जो यह लिखा है कि छंदसार पिंगल शंभूनाथ सोलंकी के आश्रय में लिखा और उन्हीं के नाम समर्पित किया है, वह अशुद्ध प्रतीत होता है। और यह वृत्त कौमुदी (देखो उद्धृत छंद) ग्रंथ भी कुरीच (कौंच) और कौंडार के जागीरदार बुँदेला के पुत्र स्वरूपसिंह *को समर्पित किया है।

---

* बुंदेलखंड की उर्दू तवारीख, पृ० २।

मतिराम ने अपने वंश का परिचय कुछ विस्तार से दिया है। यहाँ तक कि अपने पितृव्य (चचा) पं० श्रुतिधर तक का उल्लेख किया है। फिर अपने सहोदर बंधु भूषण जैसे सुप्रसिद्ध कवि का जिक्र तक न करते, यह कभी संभव न था। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण और मतिराम सहोदर बंधु न थे। दोनों संबंधी या घनिष्ट मित्र अथवा गुरुभाई हों, तो हो सकता है; क्योंकि दोनों की कविता बहुत कुछ मिलती जुलती है, जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है।

इस प्रमाण से यह निश्चित हो जाता है कि ललितललाम, रसराज, छंदसार पिंगल तथा वृत्तकौमुदी के रचयिता महाकवि मतिराम ही हैं। अन्य कोई मतिराम वृत्तकौमुदी के रचयिता नहीं हो सकते।

जब यह प्रमाणित हो गया कि वृत्तकौमुदी के रचयिता प्रसिद्ध महाकवि मतिराम ही हैं, तो मतिराम और भूषण के अपने वंश-परिचय से यह अवश्य मानना पड़ेगा कि मतिराम और भूषण कदापि सहोदर बंधु न थे, बल्कि एक वंश के भी न थे।

भूषण और मतिराम दोनों की वीर रस की कविता प्रभावशालिनी और ओजस्वनी होती है। फिर भी यही प्रतीत होता है कि भूषण की कविता की छाप मतिराम की कविता पर पड़ी है। जिन्होंने शिवराज भूषण और ललितललाम दोनों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, वे यह बात अवश्य मानेंगे। कम से कम इस लेख में वृत्तकौमुदी से उद्धृत छंदों से तो इसी अनुमान की पुष्टि होती है।

जब यह निश्चित हो गया कि भूषण और मतिराम सहोदर बंधु नहीं थे, तब स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि फिर यह प्रवाद सर्व साधारण में कैसे फैला है। इसका अन्वेषण करने से यही प्रतीत होता है कि ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह सरोज की एक कथा से ही यह भ्रम फैला है। उसमें (पृष्ठ ४१२) चिन्तामणि कवि के वर्णन में लिखा है—"इनके पिता दुर्गा पाठ करने नित्य देवी जी के

स्थान पर आया करते थे। वे देवी जी बन की भुइयाँ कहलाती हैं। टिकमापुर से एक मील के अंतर पर हैं। एक दिन महारानी राजेश्वरी भगवती प्रसन्न ह्वै चारि मुँह दिखाय बोलीं, यही चारो तेरे पुत्र होंगे। निदान ऐसा ही हुआ कि (१) चिन्तामणि, (२) भूषण, (३) मतिराम और (४) जटाशंकर या नीलकंठ चार पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें केवल नीलकंठ महाराज तो एक सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुए; शेष तीनों भाई संस्कृत काव्य को पढ़ि ऐसे पंडित हुए कि उनका नाम प्रलय तक बाकी रहेगा।"

यह ग्रंथ १८८३ ई० (संवत् १९४७) में नवलकिशोर प्रेस में छपा है। इस ग्रंथ के बनाने में भी ठाकुर साहब को लगभग २० वर्ष से कम कदापि न लगे होंगे। इससे प्राचीन कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया जिसमें भूषण और मतिराम को भाई माना गया हो। इसी आख्यायिका के आधार पर सर्वत्र यह भ्रांति फैल गई कि भूषण और मतिराम भाई भाई हैं। बंगवासी प्रेस से प्रकाशित शिवा बावनी नामक पुस्तक की भूमिका में भी यही आख्यायिका कुछ परिवर्तन के साथ दी हुई है। समालोचक और देवनागर पत्रों में भी मिश्र बंधु महोदय ने भूषण को मतिराम का भाई लिखा है। फिर धर्माभ्युदय तथा सरस्वती आदि पत्रिकाओं में भी भूषण और मतिराम को भाई मानकर ही लेख लिखे गए। नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित "शिवराज भूषण" की भूमिका में भी भूषण और मतिराम को भाई ही लिखा गया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने इंडियन वर्नाक्युलर्स लिटरेचर में भी यही वर्णन किया है।

मिश्र बंधु महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ मिश्रबंधु विनोद (पृ० ५१३) और हिंदी नवरत्न (पृ० ३०७) में भी तथा पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी प्रथम भाग (पृ० २२१) में भी इसी प्रकार उल्लेख किया है।

अस्तु, अब तो किसी को भी यह संदेह न रह गया होगा कि भूषण और मतिराम भाई न थे।

इस विषय में मैंने स्वयं भी चिंतामणि, भूषण और मतिराम कृत बहुत से ग्रंथों को इसी विचार से देखा कि कहीं भूषण को मतिराम का भाई बतलाया गया हो, परंतु मेरी यह आशा सफल न हुई। तब श्रीयुत पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र को इस संबंध में पत्र लिखे। प्रथम महानुभाव ने तो पत्रोत्तर में केवल यही लिखा कि हमने किंवदंती के आधार पर लिखा है। द्वितीय महोदय ने उत्तर दिया कि यह विषय आश्चर्यजनक है। मैंने बहुत सी पुस्तकों को देखा, परंतु मुझे कहीं भूषण को मतिराम का भाई लिखा नहीं मिला। उन्होंने कुछ अन्य ग्रंथों को देखने की राय भी दी जो कि उनके पास नहीं थे और खोज में प्राप्त हो चुके थे; परंतु कई कारणों से मैं उनके देखने में असमर्थ रहा। खोज की रिपोर्टों में आज तक मिले हुए भूषण, मतिराम, चिंतामणि और नीलकंठ के किसी ग्रंथ के उद्धृत भाग में यह वर्णन नहीं मिला। अतः यही मानना पड़ता है कि शिवसिंह सरोज की आख्यायिका से ही यह भ्रांति सर्व साधारण में फैली है।

अब तक तो मुझे भूषण और मतिराम के भाई होने ही में संदेह था, परंतु अब नीलकंठ या जटाशंकर भी भूषण के भाई प्रतीत नहीं होते। "वीर केशरी शिवा जी" नामक ग्रंथ (पृ० ६६२) में पंडित नंद-कुमार देव शर्मा ने चिंतामणि, भूषण और मतिराम तीन ही भाइयों का जिक्र किया है। नीलकंठ को भाई नहीं माना। ज्ञात नहीं, उनका इस विषय में क्या आधार है; परंतु मुझे तो मिश्रबंधु विनोद के ही आधार पर भूषण के नीलकंठ के भाई होने में संदेह है। मिश्र बंधु विनोद (पृ० ४८५) में वर्णित है कि नीलकंठ ने संवत् १६९८ में अमरेश विलास नामक ग्रंथ रचा था। उनकी अवस्था उस समय २५–३० वर्ष से न्यून न होगी; इस कारण उनका जन्म संवत् १६७० वि० के लगभग पड़ता है। और विनोद में भूषण का जन्म संवत् १६९२ वि० माना है। जब भूषण के छोटे भाई नीलकंठ का जन्म सं० १६७० के लगभग है, तो भूषण का जन्म उससे भी पूर्व होना चाहिए था।

परंतु विनोद इसके २० वर्ष पीछे मानता है जो कि अशुद्ध है। भूषण के संवत् १७६७ वि० तक अवस्थित रहने का एक दृढ़ प्रमाण भी मिला है जो कि आगे दिया जायगा। अतः यह कभी सम्भव नहीं कि भूषण १३० वर्ष से भी अधिक काल तक जीवित रहे हों और वैसी ही ओजस्विनी भाषा में कविता करते रहे हों जैसी कि शिवराज भूषण की है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि नीलकंठ भूषण के भाई न थे।

इस प्रकार केवल चिंतामणि और भूषण ही किंवदंती के आधार पर भाई रह जाते हैं। इस किंवदंती में भी कहाँ तक सचाई है, यह अभी नहीं कहा जा सकता। आगे इस पर भी विचार किया जायगा।

इस लेख का मुख्य उद्देश तो यही था कि भूषण और मतिराम के भाई होने के संबंध में पड़ताल की जाय, परंतु भूषण तथा मतिराम के संबंध में कुछ और भी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। अतः उनको भी दूर करना उचित प्रतीत होता है।

मिश्रबंधु विनोद (पृ० ४६१) तथा हिंदी नवरत्न (पृ० ३१०) में छंद सार पिंगल महाराज शम्भुनाथ सोलंकी के नाम पर लिखा बतलाया गया है; परंतु शिवसिंह सरोज (पृ० २५६) में छंदसार पिंगल से एक छंद उद्धृत किया गया है जो कि इस लेख में उद्धृत हो चुका है। उसमें श्रीनगर (बुंदेलखंड) नरेश महाराज फ़तह साहि और मित्र साहि बुँदेले के पुत्र स्वरूपसिंह की बहुत प्रशंसा की गई है। अतः प्रतीत होता है कि इन्हीं दोनों के आश्रय में यह ग्रंथ रचा गया है, महाराज शम्भुनाथ सोलंकी के आश्रय में नहीं लिखा गया।

मिश्रबंधु विनोद (पृ० ५४६) में वृंद कवि को भूषण का वंशज माना है जो कि नितांत अशुद्ध है। उसमें वृंद के वंशादि का परिचय नहीं दिया गया है। परंतु यह निश्चित है कि वे जोधपुर राज्य के रहनेवाले सेवक जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और सं० १७४३ में वर्तमान थे *।

---

* देखो शारदा मासिक पत्रिका, अंक ४०, पृ० ४४४, आषाढ़ सं० १६८० में लेखक का लेख।

यदि ये प्रसिद्ध वृंद कवि से भिन्न कोई हों तो संभव है। यदि मिश्रबंधुओं ने इन्हीं को प्रसिद्ध कवि वृंद माना हो, जो कि वृंद-सतसई, श्रृंगार शिक्षा, भाव पंचाशिका आदि ग्रंथों के रचयिता थे, तो उनका कथन अशुद्ध है। विनोद और नवरत्न में भूषण का मृत्यु काल संवत् १७७२ माना गया है। भूषण ने एक कवित्त असोथर नरेश महाराज भगवंत राय खीची के परलोक गमन के पश्चात् उनकी प्रशंसा में लिखा था। वह कवित्त इस प्रकार है—

उठि गये आलम से हुजुक सिपाहिन कौ
उठि गये बँधैया सबै वीरता के बाने को।
भूषण भनत धर्म धरा ते उठि गये
उठि गये सिंगार सबै राजा राव राने को।
उठिगे सुकवि सुशील उठिगे यशीले डील
फैले मध्य देश में समूह तुरकाने को।
फूटे भाल भिक्षुक के जूके यशवंत राय
अरराय टूटे कुलखंभ हिंदुवाने को।।*

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवंतराय खीची के मारे जाने के पश्चात् उनकी प्रशंसा में भूषण ने यह छंद रचा है।

सदानंद कृत भगवंतराय रासा में उनका मृत्यु काल संवत् १७९७ वि० लिखा है†। ये सदानंद महाराज भगवंतराय के राजकवि थे और उनके मरने पर यह रासा रचा गया है जो कि अभी हाल में ही खोज में मिला है। डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर यू. पी. जिला फतेहपुर (पृ० १५७) में लिखा है कि नवाब सआदत खाँ द्वारा भगवंतराय खीची सन्

---

* यह छंद महाराज राजेंद्रबहादुरसिंह (मुन्ना साहब) भिनगा के पुस्तकालय में मिला था।

† खीची के अंतिम युद्ध की तिथि:—

संवत् सत्रह सतानबे कातिक मंगलवार।
सित नौमी संग्राम भो विदित सकल संसार॥

भगवंतरायरासा पृ० १।

१७४५ संवत् १८०२ में मारे गए थे। परंतु गजेटियर का समय अशुद्ध है और रासा का समय बिलकुल ठीक प्रतीत होता है; क्योंकि वह उसी समय का रचा हुआ है। अतः यह निश्चित है कि भूषण कवि संवत् १७६७ वि० तक अवश्य वर्तमान थे। अतः उनका मृत्यु-काल संवत् १७७२ मानना नितांत अशुद्ध है। उनका जन्म काल संवत् १६६२ अनुमान किया गया है। इस हिसाब से भूषण की अवस्था संवत् १७६७ तक कम से कम १०५ वर्ष की ठहरती है; और उस अवस्था में भी ऐसी प्रभावशालिनी कविता लिख सकना ठीक प्रतीत नहीं होता। अतः उनका जन्म काल संवत् १६६२ भी मानना अशुद्ध है। उनके जन्म काल के विषय में कोई ठीक ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता।

शिवसिंह सरोज (पृ० ४६७) में इनका जन्म काल संवत् १७३८ वि० माना है। सन् १९०३ की खोज की रिपोर्ट (पृ० ४३) में शिवराज भूषण का निर्माण-काल संवत् १७३० वि० दिया है। वह कविता भूषण के नाम से शिवराज भूषण के अंत में इस प्रकार दी है—

संवत् सत्रह सैंतीस सुचि वदि तेरस मान।
भूषर शिव भूषन कियो पढ़ौ सुनौ सग्यान ॥३१९॥

चित्र कवित्त—एक प्रभुता को धाम सजै तीन वेद काम रहे पंचानन षड़ानन राजी सर्बदा। साती वार आठौ जाम जाचिक निवाजे अवतार थिराजै क्रिपान ज्यों हरि गदा। शिवराज भूषण अटल रहै तौ लौं जौ लौं त्रिदस भुवन सब गंग औ नरमदा। साहि तनै साहसीक भौंसला सरजा वंस दासरथी जा रसता सरजा विसरदा ॥ ३२० ॥

उपर्युक्त कविता इतनी निकृष्ट श्रेणी की है कि जिसे साहित्य का कुछ भी ज्ञान है, वह तुरंत कह देगा कि यह कविता कदापि महाकवि भूषण की रची नहीं है। शिवराज भूषण के किसी छंद से उपर्युक्त छंद का मिलान करने पर स्पष्ट विदित हो जायगा कि यह

कविता किसी ने पीछे से मिला दी है। मेरा अनुमान है कि महाराज बनारस के किसी कवि की ही यह करतूत है।

बनारस राज्य के पुस्तकालय के अतिरिक्त अन्य जितनी प्रतियाँ शिवराज भूषण की प्राप्त हुई हैं, उनमें से किसी में भी उपर्युक्त छंद नहीं है और न छपी हुई प्रतियों में ही उक्त वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध है कि ये दोनों छंद प्रक्षिप्त हैं।

ज्योतिष की गणना के अनुसार आषाढ़ कृष्ण १३ को बुधवार पड़ता है। परंतु उक्त दोहे में रविवार मिलता है। अतः यह निर्माण काल नितांत अशुद्ध है। यह कल्पित निर्माण काल पीछे से किसी व्यक्ति ने रचकर मिला दिया है और उसका समय शिवाजी के देहांत के समय का रख दिया है।

मेरे विचार से शिवराज भूषण महाराज शाहू के समय में बना है जो शिवाजी के पौत्र थे।

उनके विषय की मिथ्या किंवदंतियाँ उनके जीवन को अंधकार में डाले हुए हैं जो कि ठीक ठीक निर्णय नहीं होने देतीं। एक ही बात भिन्न भिन्न रीति से कही जाती है। शिवराज भूषण की भूमिका (पृ० ८) में बंगवासी में छपी शिवाबावनी के आधार पर लिखा है कि चिंतामणि का जन्म संवत् १६५८ और भूषण का संवत् १६७१ प्रतीत होता है; परन्तु ये दोनों संवत् भी अशुद्ध ही प्रतीत होते हैं।

उसी भूमिका (पृ० १०) में यह भी कथन किया गया है कि शिवाजी दिल्ली गए थे और वहीं औरंगजेब ने उन्हें कैद कर लिया था। यथार्थ में शिवाजी दिल्ली नहीं आगरे में उपस्थित हुए थे और वहीं से मथुरा होकर चुपके निकल भागे थे।

आगे चलकर उसी भूमिका में लिखा है कि संवत् १६६७ में मतिराम अपने भाई भूषण को बूँदी ले गए थे। परन्तु मेरे विचार से मतिराम राव राजा भाऊसिंह के मरने पर ही १७४५ में वहाँ से चले आए थे। संवत् १७५८ में तो बुंदेलखंड में स्वरूपसिंह बुँदेले के यहाँ रहते थे। तभी वृत्त कौमुदी ग्रंथ रचा था। और इससे पूर्व स्वरूप-

सिंह तथा फतह शाह के आश्रित रहकर छंदसार पिंगल ग्रंथ रचा था। मतिराम का कोई छंद राव राजा अनिरुद्धसिंह और बुद्धसिंह की प्रशंसा में नहीं मिला। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण मतिराम के साथ बूँदी नहीं गए, बल्कि उन्होंने अपनी इच्छा से यात्रा की थी।

मिश्रबन्धु विनोद (पृष्ठ ४८२) में वर्णित है कि राजा शंभूनाथ सोलंकी सितारे के राजा थे जिनके आश्रित होकर मतिराम ने छंदसार पिंगल रचा। यह राजा हिंदी के बहुत से कवियों के आश्रयदाता तथा स्वयं भी कवि थे। इनकी भाषा से प्रतीत होता है कि ये हिंदी भाषी प्रांत के राजा थे। सितारा मरहठी प्रांत है; वहाँ हिंदी का इतना सम्मान होना कठिन है। मेरे विचार से यह सोलंकी राजा रीवाँ-राज के वंशजों या चित्रकूटाधिपतियों में होंगे। इन्हें सितारा के राजा बताना भ्रांतिमूलक है।

अब वृत्त कौमुदी में वर्णित बुंदेल वंश और इतिहास से भी मिलान कीजिए। इस ग्रन्थ में मधुकर साहि के पुत्र वीरसिंह देव से वंश वर्णन किया गया है। ये वही वीरसिंह देव हैं जिन्होंने जहाँगीर के कहने से अब्दुल फजल का वध किया था। इनका शरीरांत सं० १६७८ में हुआ था। इनके बारह पुत्र थे जिनमें ज्येष्ठ पुत्र पहाड़सिंह मुख्य गद्दी के अधिकारी हुए; और तीसरे पुत्र चंद्रभान थे जिनको कुरीच, कौंच और कौंडार जागीर में मिला था। इन्हीं चंद्रभान के पुत्र मित्र साहि बुँदेला मतिराम के आश्रयदाता स्वरूपसिंह के पिता थे जिनके नाम से कवि ने वृत्त कौमुदी ग्रन्थ रचा। यह ग्रंथ संवत् १७५८ वि० में रचा गया था। तब तक वीरसिंह देव को मरे ८० वर्ष हुए थे। इस बीच में तीसरी पीढ़ी का होना स्वाभाविक है; अतः इसमें कुछ भी संदेह नहीं रहता कि ग्रंथ में वर्णित वीरसिंह देव और चंद्रभान बुँदेला तथा इतिहासवाले ओड़छा नरेश वीरसिंह देव तथा चंद्रभान बुँदेला एक ही हैं।

बुँदेलखंड के हिंदी इतिहास में दिए हुए वंशवृक्ष से भी यही

निश्चित होता है कि मधुकर शाह के पुत्र वीरसिंह देव और उनके पुत्र चंद्रभान हुए। ग्रन्थ में भी उपर्युक्त तीनों महाशयों का वर्णन पाया जाता है।

इतिहास से यह निश्चित होता है कि स्वरूपसिंह भी कुरीच, कौंच और कौंडार में से किसी एक अथवा उसके किसी भाग पर अधिकृत होंगे और वहीं पर मतिराम भी उनके आश्रय में रहते थे।

अभी भूषण और मतिराम के विषय में बहुत सी भ्रांतियाँ फैली हैं जिनका दूर करना हिंदी-प्रेमियों का कर्त्तव्य है।

खोज में भी अभी वे सब पुस्तकें प्राप्त नहीं हुई हैं जो मिश्रबन्धु विनोद में वर्णित हैं। सन् १९०९-११ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट (पृ० ८८) में चिन्तामणि के एक पिंगल ग्रन्थ का वर्णन है। ग्रन्थ में संवत् आदि का कोई पता नहीं है। निरीक्षक महोदय ने उसमें ग्रन्थकार का जन्म सं० १६६६ वि० लिखा है। कविकुल कल्पतरु का रचनाकाल सं० १७०७ वि० दिया है (पृ० २८५)।

सन् १९०४ की रिपोर्ट (नं० ११८) में मतिराम सतसई का भी वर्णन है; परन्तु उसमें निर्माण काल नहीं है और न वंश परिचय है। निरीक्षक महोदय ने मतिराम के जन्म और मृत्यु के आनुमानिक संवत् दिए हैं।

खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों में मतिराम के तीन ग्रंथों का वर्णन है—रसराज, साहित्य सार और लक्षण शृङ्गार *। इन तीनों में से किसी में भी निर्माण काल अथवा कवि के वंश का परिचय आदि नहीं दिया है। इनका ललितललाम और रसराज तो छप भी चुका है; और छन्दसार पिंगल का उल्लेख शिवसिंह सरोज में किया गया है। और नीलकंठ ने अमरेश विलास सं० १६९८ वि० में रचा था †। चिन्तामणि त्रिपाठी कृत कविकुल कल्प-

* त्रैवार्षिक रिपोर्ट सन् १९०६–०८ पृष्ठ ७८; सन् १९०१ की रिपोर्ट पृष्ठ ५८; १९०३ की रिपोर्ट, पृष्ठ ४८ और १९०० की रिपोर्ट पृष्ठ ३८।

† सन् १९०१ की रिपोर्ट, पृष्ठ १।

तक भी छप चुका है * । उसमें भी निर्माण काल आदि का कोई वर्णन नहीं है। केवल सन् १६०२ की रिपोर्ट के परिशिष्ट में उसका निर्माण काल सन् १६५०–१७०७ ई० दिया है। चिन्तामणि कृत पिंगल में भी कोई सम्वत् नहीं दिया है † । मेरा तो अनुमान यह है कि चिन्तामणि भी भूषण के भाई नहीं थे; क्योंकि भूषण का जन्म सं० १७३८ वि० सिद्ध है जैसा कि शिवसिंह सरोज (पृ० ४६७) में भी दिया है। लेख से भी यही सिद्ध होता है। विनोद के अनुसार चिन्तामणि के जन्म तथा भूषण के ठीक जन्म काल में ७२ वर्ष का अन्तर पड़ता है जो कि सहोदर भाइयों में कभी संभव नहीं। अतः चिन्तामणि भी भूषण के भाई नहीं माने जा सकते।

खोज की रिपोर्टों के आधार पर चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ के रचित ग्रंथों में से शिवराज भूषण को छोड़कर किसी ग्रंथ से कवि के समय और वंशादि का परिचय नहीं मिलता। शिवराज भूषण (पृ० २६-२६) में कवि ने केवल पिता का नाम, वंश, निवास स्थान और आश्रयदाता का नाम दिया है। एक वृत्त कौमुदी ही ऐसा ग्रंथ है जिस में मतिराम का विस्तार के साथ वंश-परिचय, समय और आश्रयदाता का वर्णन है। अतः यह ग्रन्थ साहित्य का इतिहास जाननेवाले सज्जनों के लिये बहुत उपयोगी है। इससे बहुत सी उलझी हुई बातें सुलझने की संभावना है। यह खोज का कार्य कितना उपयोगी और आवश्यक है, यह इसी से प्रगट होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, पुस्तकें नष्ट होती जाती हैं। अशिक्षित लोग हलवाई, पसारी आदि के यहाँ रद्दी में पुस्तकें बेच देते हैं अथवा गंगा जी के हवाले कर देते हैं अथवा वे स्वयं सड़ गलकर नष्ट हो रही हैं। उनका जितना शीघ्र प्रबंध हो सके, किया जाना चाहिए। उपर्युक्त

* सन् १६०४ की रिपोर्ट का परिशिष्ट नं० ११६ और १६०३ की रिपोर्ट, नं० ११७।

† सन् १६०१ की रिपोर्ट, पृष्ठ २६ और १६०२ की रिपोर्ट, नं० ११६।

दृश्य कई स्थानों पर मैंने स्वयं देखे हैं और पुस्तकों को रक्षित रखने का प्रबंध किया है।

भूषण को महाराज शिवाजी के दरबार का राजकवि मानने से उनका कविता काल ८० वर्ष से भी अधिक ठहरता है; परन्तु इतने समय तक कविता करना असंभव ही प्रतीत होता है। महाराज शिवाजी का देहान्त सन् १६८० ई० सं० १७३७ वि० में हुआ था। यदि भूषण शिवाजी के साथ रहे हों तो उससे पूर्व चित्रकूटाधिपति रुद्रराय सोलंकी और रीवां नरेश अवधूतसिंह (सन् १७००-१७५५)* के यहाँ भी रह चुके थे।

उनकी भावज के नमक के लिये ताना देने की कहावत से भी यही प्रतीत होता है कि कम से कम २० वर्ष की अवस्था में उन्होंने पढ़ना प्रारंभ किया था। इन सब बातों पर विचार करके यही मानना पड़ता है कि उनकी अवस्था शिवाजी के देहान्त के समय ४०-५० वर्ष की अवश्य होगी और उनका भगवन्तराय खीची के मृत्यु काल के समय सं० १७९७ वि० तक जीवित रहना निश्चित सा है †। अतः उस समय उनकी अवस्था ११० वर्ष की होनी चाहिए। खीची की मृत्यु के समय उन्होंने जिस प्रकार की भावपूर्ण कविता रची है, उससे प्रतीत होता है कि उनकी रचना उस समय भी विकास पा रही थी। वृद्धावस्था के कारण इनमें कोई क्षीणता नहीं आई थी। परन्तु उस अवस्था में इतनी उच्च कोटि की कविता कर सकना कठिन है। मेरा तो विश्वास यह है कि महाकवि भूषण शिवाजी के दरबार में ही नहीं थे, वरन् वे उनके पौत्र साहू महाराज के दरबार में थे। और शिवाजी और भूषण के सम्मिलन की जो कथा प्रसिद्ध है, वह वास्तव में साहू और भूषण के विषय में घटित प्रतीत होती है। महाराज साहू के शिकार खेलने का वर्णन

---

* इम्पीरियल गजेटियर जिल्द २१, पृ० १८१।

† भगवन्तराय रासा हस्त-लिखित पृष्ठ १।

भी उसी घटना से संबद्ध प्रतीत होता है। भूषण ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवराजभूषण शिवाजी को नायक मानकर लिखा था। जब बना चुके होंगे, तब महाराज साहू की सेवा में उपस्थित हुए होंगे, जिसपर उनको बहुत सा धन और ग्रामादि मिले और वहाँ बहुत सम्मान हुआ। यह भी प्रतीत होता है कि उनका गमनागमन बहुत दिनों तक जारी था। उत्तरी भारत के बहुत से मनुष्य शिवाजी को डाकू और लुटेरा कहा करते थे। परंतु भूषण ने उनको बहुत से सद्गुणों से भूषित हद् धर्म-रक्षक और जातीय नेता माना है (जैसे कि वे यथार्थ में थे)। यही नहीं, उनको ईश्वर का अवतार तक बतलाया है। इसी कारण भूषण को महाराष्ट्रों की ओर से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ था।

जब वे साहू महाराज के पास से लौटे तो महाराज छत्रसाल के यहाँ गए थे। उन्होंने देखा कि भूषण को धन तो बहुत मिल चुका है; मैं उससे अधिक दे भी क्या सकता हूँ; तब उन्होंने उनकी पालकी में कंधा लगा दिया था जिसको देखकर भूषण पालकी से कूद पड़े और उनको रोककर उसी समय कई कवित्त उनकी प्रशंसा में रचे जिनमें से एक का पद यह भी था—"साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को"। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण साहू के ही दरबार में थे, महाराज शिवाजी के दरबार में नहीं थे।

उपर्युक्त पद से यह भी प्रतीत होता है कि भूषण के हृदय में साहू के प्रति अत्यधिक सम्मान था। शिवाजी के जीवनकाल में भूषण जैसे राष्ट्रीय कवि का उनको ईश्वर मानना उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

जिस समय महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण' नामक ग्रंथ बनाने का विचार किया था, उस समय केवल आदर्श-चरित महाराज शिवाजी को देखकर ही उक्त ग्रंथ रचा था, जैसा कि उन्होंने स्वयं उसी में वर्णन किया है—

शिवा चरित लखि यों भयो कवि भूषण के चित्त।
भाँति भाँति भूषणनि सों भूषित करों कवित्त ॥ २९ ॥

वर्तमान साहित्यिक इतिहास का इस लेख से पूर्ण विरोध और खंडन होता है। इसी से उक्त बातों के प्रकट करने का मुझे स्वयं ही साहस नहीं हो रहा था; क्योंकि बड़े बड़े विद्वानों की राय को काटना धृष्टता है। परंतु अपनी राय और विचारों को सब पर प्रकट करने तथा ऐतिहासिक तथ्य को न छिपाने के उद्देश से ही मैं ऐसा करने को बाध्य हुआ हूँ। आशा है, इतिहास-प्रेमी साहित्यसेवी विद्वान् शांतिपूर्वक इस विषय पर विचार करेंगे और उनका जो निर्णय होगा, वह मुझे भी सहर्ष मान्य होगा।

इस लेख में जिन विषयों पर विचार हुआ है, उन सब की सामग्री मुझे खोज और उसकी रिपोर्टों में मिली है।

(२२) श्यैनिक शास्त्र

(लेखक—पं० शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर)

श्रीमान् महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसादजी शास्त्री ने संस्कृत के कई एक महत्वपूर्ण ग्रंथों का अन्वेषण तथा संपादन कर सरस्वती के सेवकों को जो असीम लाभ पहुँचाया है, वह लोक-विदित है। उन्होंने श्येन (बाज़) पक्षी के विषय में लिखे हुए संस्कृत के एक ग्रन्थ का, जिसका नाम "श्यैनिक शास्त्र" है, संपादन किया है, जो बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा सन् १९१०ई० में कलकत्ते में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत में इस समय यह ग्रन्थ मृगया के संबंध में अब तक एक ही प्राप्त हुआ है। इस विषय के और भी ग्रंथ अवश्य रहे होंगे, परंतु अब वे उपलब्ध नहीं हैं। आज हम नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पाठकों की सेवा में इस असामान्य ग्रंथ का सारांश सादर समर्पित करने की चेष्टा करते हैं।

ग्रन्थकार का परिचय

श्यैनिक शास्त्र के प्रथम परिच्छेद के अंत में "इति श्रीकूर्माचलाधिपतिरुद्रदेवविरचिते श्यैनिके शास्त्रे कर्म्मानुपवर्णनः प्रथमः परिच्छेदः।" लिखा हुआ है। शेष परिच्छेदों के अंत में केवल "श्रीरुद्रदेव विरचिते..."ही लिखा हुआ है। अतः इस ग्रंथ से इसके रचयिता के विषय में विद्या-संबंधी बातों को छोड़कर जो कुछ ज्ञात हो सकता है, वह इतना ही है, कि उसका नाम रुद्रदेव था और वह कूर्म्माचल का (जिसे आजकल कुमाऊँ कहते हैं) राजा था।

वालटन साहब के अलमोड़े के गज़टियर से ज्ञात होता है। कि रुद्रचंद्र (रुद्रदेव) अलमोड़े के राजा बालो कल्याणचंद का पुत्र था। श्यैनिक शास्त्र की जो तीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनमें से एक प्रति में रचयिता का नाम चंद्रदेव तथा रुद्रचंद्रदेव लिखा

हुआ है। वास्तव में "रुद्रदेव", "चंद्रदेव" तथा "रुद्र चंद्रदेव" एक ही व्यक्ति-विशेष के नाम हैं; क्योंकि राजा के नाम के अन्त में "देव" सामान्यतया लगा दिया करते हैं। "चंद्र" शब्द वंश-वाचक है और "रुद्र" मूल नाम है।

रुद्रचंद्र का जन्म ईस्वी सन् १५५६ ई० में हुआ था और जब उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी, तभी अपने पिता के सन् १५६५ में देवलोकवासी हो जाने के कारण, उसपर राज्य का सारा भार आ पड़ा था। सिंहासनासीन होकर प्रारंभ में उसने जो कई काम किए, उनमें से एक उसका बालेश्वर के महादेव की पूजा का पुनरपि प्रारंभ कराना है। यह एक बहुत प्राचीन देवालय है और उसके पूर्वज उदयनचंद्र ने सन् १४२० में इसकी मरम्मत कराई थी और एक गुजराती ब्राह्मण को बुलवाकर प्रतिष्ठा कराई थी। इधर रुद्रदेव को गद्दी पर बैठे बहुत दिन नहीं हुए थे कि उधर उस समय हुसैनखाँ टकरिया ने तराई और भाबर पर अपना सिक्का जमाया। वह १५६८ ई० में लखनऊ का हाकिम (Governor) था, परंतु वहाँ से निकाल दिया गया था। उसने एक धार्मिक युद्ध करने की घोषणा की; परंतु उसका आंतरिक विचार यही था कि मुझको कुमाऊँ के राजाओं का कोष, जो बहुत बड़ा प्रसिद्ध था, मिल जाय। उसने पहाड़ों के नीचे नीचे के कुछ ग्रामों पर आक्रमण किया; परंतु वर्षा अधिक हो जाने से उसके साथियों ने उसका साथ नहीं दिया और उसे विवश लौटना पड़ा। हुसैनखाँ ने फिर १५७५ में आक्रमण प्रारंभ किया; परंतु उसे सफलता प्राप्त न हुई। रुद्रचंद्र ने हुसैनखाँ के मरते ही मुसलमान हाकिमों को तराई से भगा दिया। इस दुर्घटना के कारण अकबर बादशाह ने देहली से फौजें भेजीं जिनकी सहायता से कटीहार के नव्वाब ने रुद्रचंद्र पर भीषण आक्रमण किया। रुद्रचंद्र बहुत वीरता के साथ लड़ा और उसने मुसलमानों का बल छिन्न भिन्न कर दिया। रुद्रचंद्र की वीरता से अकबर बहुत प्रसन्न हुआ, या यों कहिए कि अकबर ने अपने बल के पराजित हो जाने की अपकीर्ति को शत्रु की वीरता की

प्रशंसा करके मार्जित किया और उसे लाहौर आने का निमंत्रण भेजा। रुद्रचंद्र ने उसे स्वीकार किया। जब वह लाहौर में अकबर से मिला, उस समय अकबर की सेना नागौर पर घेरा डाले हुए पड़ी थी, परंतु उसको विजय करने में असमर्थ थी। इस अवस्था में अकबर ने रुद्रदेव से सहायता की याचना की और उस वीर ने उसको हताश नहीं किया। पहाड़ी लोगों ने शीघ्र ही अकबर के पक्ष में विजय प्राप्त की और इसके प्रत्युपकार में अकबर ने वह भूमि, जो चौरासी माल या नौलक्ष्य कहलाती है, रुद्रदेव को भेंट की। यह भूमि चौरासी कोस लम्बी थी और नौ लाख रुपए की आय देती थी, इसलिये चौरासी माल तथा नौलक्ष्य नामों से प्रसिद्ध थी। रुद्रचंद्र ने सुप्रसिद्ध बीरबल को अपना पुरोहित बनाया; और जब तक चंद्रवंश का वहाँ राज्य रहा, तब तक बीरबल के वंशज बराबर अपनी पुरोहिताई की भेंट लेने वहाँ जाते थे। रुद्रचंद्र पहला राजा था, जिसने भाबर और तराई अपने अधिकार में कर उन्हें अच्छी तरह बसाया। ग्यारहवीं शताब्दी में यह भूमि घनघोर जंगल से ढकी हुई थी और कहीं कहीं ही बोने लायक टुकड़े थे। झोपड़ियाँ बड़ी ही दुर्दशा में थीं और वहाँ पर कुछ ऐसे क़िले बने हुए थे, जो विपत्ति के समय में रक्षा का काम दे सकते थे। रुद्रचंद्र ने वहाँ नगर बसा दिए और खेती बारी तथा शासन का अच्छा प्रबंध कर दिया।

रुद्रदेव के पिता कल्याणचंद्र ने अलमोड़े को अपनी राजधानी बनाया। यह नगर खगमारा पहाड़ पर बसाया गया था। इस पर्वत का वर्णन स्कन्द पुराण के मानसखंड में मिलता है (कौशिकीशाल्मली-मध्ये पुण्यः काषाय पर्वतः)। कौशिकी और शाल्मली नदियों के नाम अब कोसी और सुअल हो गए हैं और ये दोनों नदियाँ अल-मोड़े के पहाड़ की परिक्रमा किए हुए हैं। इस पर्वत पर अलम अधिक उत्पन्न होता है, इसी लिये इसका नाम कुछ हेर फेर खाकर "अलमोड़ा" बना है। कल्याणचंद्र की गंगोली और काली नदी के बीच की भूमि पर अधिकार प्राप्त करने की उत्कट इच्छा थी। उसने

अपनी स्त्री के द्वारा, उसके भाई से जो डोती का राजा था, सीर का परगना दहेज में दे देने को कहलवाया; परंतु इस विषय में यथेष्ट सिद्धि प्राप्त न हो सकी। कल्याणचंद्र के देवलोकवासी होने पर उसकी रानी इसी कारण सती नहीं हुई और वह यह आशा बाँधे रही कि कब मेरा पुत्र रुद्रचंद्र सीरगढ़ को विजय करे। रुद्रचंद्र ने सीरगढ़ पर आक्रमण किया, परंतु बुरी तरह से पराजित हुआ। उसने परखू (परखु) नाम के एक धनाढ्य तथा प्रभावशाली ब्राह्मण को भेद लेने के लिये भेजा कि शत्रु के पास कितनी सेना है और उसने सीरगढ़ को किस प्रकार सुरक्षित कर रक्खा है। रुद्रचंद्र ने सीरगढ़ पर तीन बार आक्रमण किया, परंतु तीनों बार उसके वार निष्फल गए। बेचारे परखू को भी भागकर एक वृक्ष के नीचे शरण लेनी पड़ी। समय पाकर उसके साथियों ने दूध में चावल डाल कर खीर बनाई जो केले के पत्ते में परोसी गई। परखू उसे अच्छी तरह नहीं खा सका और वह बहुत कुछ बिखर गई। एक बुढ़िया ने, जो वहाँ बैठी हुई थी, खीर का बिखरना देखकर यह न जानते हुए कि इसको खानेवाला परखू है, कहा "तू परखू जैसा मूर्ख है। वह सीर नहीं ले सकता और तू खीर नहीं खा सकता। किनारे से प्रारंभ कर और बीच तक लेकर खा। फिर देखें, कैसे चावल बिखरते हैं। परखू ने भी यदि बाहर से अपना काम प्रारंभ किया होता और जौहर की रसद बंद कर देता, तो दुर्ग की सेना उसके वशीभूत हो जाती।" परखू ने तुरंत इस आकाशवाणी के समान अयाचित उपदेश के अनुसार काम किया और परिणाम यह हुआ कि हरिमल्ल दुर्ग छोड़कर डोती को भाग गया। तबसे सीर कुमाऊँ के अधीन हुआ। रुद्रदेव ने कई ग्राम उपहार में देकर परखू के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, जिसका सन् १५८१ का एक पट्टा अभी तक विद्यमान है। तदनंतर रुद्रचंद्र ने अस्कोट, दरम और जौहर विजय किए।

रुद्रचंद्र ने सन् १५८१ में एक पूर्व प्रतिज्ञानुसार परखू से पिंडारघाटी में बधानगढ़ी पर, जो गढ़वाल के राजा के राज्य में थी, आक्रमण करने

को कहा। वहाँ का मार्ग सोमेश्वर और कत्यूरघाटी में होकर था, जो उस समय प्राचीन कत्यूरवंशी राजा सुखपाल के अधीन थे। गढ़वाल के राजा दुलाराम शाह ने सुखपाल को सहायता देना स्वीकार किया और अपनी सेना भेज दी, जिसके कारण परखू की दाल न गल सकी और उसको युद्ध में अपनी जान खोनी पड़ी। रुद्रचंद्र इस दुर्घटना से बहुत कुपित हुआ और उसने गढ़वाल पर आक्रमण करने से पहले सुखपाल को सीधा करने का विचार किया। उसने उसपर भीषण आक्रमण किया और उसे सकुटुंब क़ैद कर लिया। उस अवसर पर रातु नामक एक ग्रामाधीश ने रुद्रचंद्र के कोप को जैसे तैसे शान्त किया। वह स्वयं भविष्यत् में सुखपाल के अनुकूल आचरणों का प्रतिभू बना और उसे छः महीने पीछे उपस्थित कर देने का वचन दिया। रुद्रचंद्र ने रातु की प्रार्थना स्वीकृत की, परंतु समय बीतने पर उसने सुखपाल को उपस्थित करने से इन्कार किया। इस कपट व्यवहार से रुद्रदेव बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने तुरंत आक्रमण कर रातु और सुखपाल दोनों को यमराज के यहाँ भेज दिया। सन् १५८७ में रुद्रचंद्र का भी देहांत हो गया और गढ़वाल पर आक्रमण करने का विचार उसके मन में ही रह गया।

रुद्रचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र का नाम शक्तिगोसेन था। वह एक प्रवीण तथा कार्यकुशल शासक था। उसने ज़मीन के लगान संबंधी कार्य्यों के व्यवस्थित करने में अपने पिता को बहुत सहायता दी थी। यों योग्य होने पर भी प्रज्ञाचक्षु होने के कारण वह राजा नहीं बन सका। अतः उसका भाई लक्ष्मीचंद्र सिंहासनासीन हुआ। यहाँ तक रुद्रचंद्र की जीवनी की मुख्य मुख्य घटनाओं का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा गया है। अब रुद्रचंद्र की विद्या संबंधी बातों का कुछ वर्णन करते हैं। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसादजी शास्त्री ने श्यैनिक शास्त्र की भूमिका में लिखा है कि रुद्रदेव ने एक स्मार्त ग्रंथ की भी रचना की थी जिसका नाम "त्रैवर्णिक धर्मनिर्णय" है। उसमें उसने कुल्लूक भट्ट का, जो पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था, हवाला

दिया है। यह ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया, अतः हम उसके विषय में कुछ अधिक नहीं लिख सकते; पर जिस सुंदर शैली और सुव्यवस्था से इस नरेन्द्र कवि ने श्यैनिक शास्त्र की रचना की है, वही उसके महान् पांडित्य को स्थापित करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में उसने यजुर्वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, विष्णु पुराण मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत्, भगवद्गीता, मनुस्मृति, गुणाढ्य (बृहत्कथा), याज्ञवल्क्य, भरत (नाट्यशास्त्र), कामशास्त्र आदि के प्रमाण दिए हैं। उसने प्रकरणों का यथाक्रम उपक्रम किया है और वर्णन को नितांत व्यवहारात्मक रक्खा है। उसने उन बातों के प्रयोगों का, जो व्यसन के नाम से बदनाम हैं, कैसा अच्छा निरूपण किया है, यह पाठकों को आगे चलकर भली भाँति विदित हो जायगा। उसने श्येनों के संबंध में सब कुछ लिखा है, परंतु उनके शकुनों के विषय में उसने एक अक्षर भी नहीं लिखा। यह न लिखना उसकी भूल नहीं है। यह बात नहीं कि वह ऐसे श्लोकों को, जैसे कि हम नीचे लिखते हैं, नहीं जानता था। हम यह अनुमान करते हैं कि वह उत्साह-संपन्न, वीरोचित विहार-वत्सल, सुविज्ञ नरेन्द्र कवि ऐसी बातों को मिथ्या समझता हो, इसी लिये उसने इन्हें अपने ग्रंथ में सन्निविष्ट नहीं किया—

प्रदक्षिणी कृत्य नरं व्रजन्तो यात्रासु वामेन गताः प्रवेशे।
श्येनाः प्रशस्ताः प्रकृतस्वरास्ते शान्ताः प्रदीप्ता विततस्वरास्ते ॥
श्येनो नृणां दक्षिणवामपृष्ठभागेषु भाग्यैः क्षितिमादधाति।
तिष्ठन् पुरस्तान्मृतये करोति युद्धे जयं छत्ररथध्वजस्थः ॥

इति वसंतराजः।

प्राचीन काल में आर्य्य जाति शस्त्रभृत् एवं वीरोचित विहार-वत्सल थी, इसलिये संस्कृत भाषा के ग्रंथों में मृगया की कथाएँ बहुशः मिलती हैं। स्त्रियों का भी शस्त्रधारण करना उस समय असामान्य बात नहीं थी। दुर्गा, कैकेयी आदि की कथाएँ इस विषय में प्रमाण हैं। प्रति दिन जब राजा शयन से उठता था, तब सबसे पहले

धनुर्धारिणी स्त्रियां उसका सत्कार किया करती थीं। एक प्रकार से वे उसकी शरीर-संरक्षिणी हुआ करती थीं। (देखो कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १,२० १८,—शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत) प्राचीन काल में मृगया की कला उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी, यहाँ तक कि मनुष्य शिकार को बिना देखे हुए शब्द मात्र के सुनने से या छाया मात्र के देखने से मार दिया करते थे। यह उनके शराभ्यास, आयुधधात्सक्य एवं युयुत्सुकता का परिणाम था।

सुप्रसिद्ध कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में "पुरुषव्यसनवर्ग" शीर्षक एक प्रकरण दिया है। उसमें मृगया, द्यूत, स्त्री और पान को कामज बताकर इस बात की पर्यालोचना की है कि इनमें कौन अधिक बलवान् है। इस विषय में पहले उसने अपने से प्राचीन "पिशुन" आचार्य की निम्नलिखित व्यवस्था उद्धृत की है—

"तस्य मृगयाद्यूतयोः मृगया गरीयसी" इति पिशुनः। "स्तेनामित्रव्यालदावप्रस्खलन भयदिङ्मोहाः क्षुत्पिपासे च प्राणाबाधस्तस्याम्। द्यूते तु जितमेवाक्षविदुषा यथा जयत्सेन दुर्योधनाभ्याम्" इति।

आशय—पिशुन का कथन है कि मृगया और द्यूत में मृगया अधिक बुरा व्यसन है; क्योंकि उसमें डाकुओं और शत्रुओं के हाथों में पड़ जाने का, हाथियों से मारे जाने का, जंगल की आग में गिर जाने का, चूक जाने का, त्रास का, दिशाओं का ज्ञान न रहने का, क्षुधा, पिपासा तथा प्राणबाधा तक का भय है; और द्यूत में तो जयत्सेन और दुर्योधन की तरह चतुर पुरुष जीत सकता है।

तदनन्तर कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है—"नेति कौटिल्यः। तयोरप्यन्यतर पराजयोऽस्तीति नलयुधिष्ठिराभ्यां व्याख्यातम्। तदेव विजितद्रव्यमामिषं वैरानुबन्धश्च। सतोऽर्थस्य विप्रतिपत्तिरसतश्चार्जनमप्रतिभुक्तनाशो मूत्रपुरीषधारणबुभुक्षादिभिश्च व्याधिलाभ इति द्यूत दोषः। मृगयायां तु व्यायामः श्लेष्मपित्तमेदस्स्वेदनाशश्चले स्थिरे च काये लक्ष्ये परिचयः। कोपस्थाने हितेषु च मृगाणां चित्तज्ञानमनित्ययानं चेति।"

आशय—देखो, द्यूत में दो में से एक की अवश्य हार होती है। इसमें नल और युधिष्ठिर के उदाहरण विद्यमान हैं। वही धन, जो मांस के टुकड़े के समान जीता जाता है, वैर उत्पन्न करता है। उपार्जित किए हुए धन की बेपरवाही, असत् अर्थ का उपार्जन, बिना भोगे हुए धन का नाश, मलमूत्र की हाजत को रोके रहना, समय पर भोजन न करने से बीमारी होना, ये द्यूत के दोष हैं। परंतु मृगया में तो व्यायाम होता है, कफ, पित्त, मेद (चर्बी) और स्वेद (पसीने) का नाश होता है, चल और अचल लक्ष्य में अचूक निशाना लगाना आता है, मृगों के कुपित हो जाने पर उनकी प्रकृति की पहचान होती है और उसके बहाने समय समय पर सवारी भी हो जाती है।

इन्हीं विचारों को कविकुलगुरु कालिदास ने शकुन्तला के निम्नलिखित श्लोक में सन्निविष्ट किया है—

> मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः
> सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
> उत्कर्षस्स च धन्विनां यदिषवस्सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
> मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥
>
> अङ्क २, श्लोक ५।

रुद्रचंद्र ने इन्हीं विचारों को अश्वीना मृगया के प्रसंग में तृतीय परिच्छेद में अधिक विशद करके निम्नलिखित श्लोकों में इनका वर्णन किया है—

> तस्याः सुसेवनान्मेदश्छेदो वपुषि लाघवम्।
> बलाशोपचयो दार्ढ्यमन्तराग्नेश्च पाटवम्॥ १६॥
> क्षुत्तृट्शीतातपालस्य जागरादेः सहिष्णुता।
> चललक्ष्यादिनैपुण्यमुत्साहपरिवर्द्धनम्॥ २०॥
> स्वसत्वोन्नाघनं ज्ञानं सत्वानां चित्तचेष्टिते।
> इत्यादिकगुणोत्कर्षो जायते चात्मसम्पदे॥ २१॥

श्यैनिक शास्त्र

प्रथम परिच्छेद—श्लोक ३०

त्रैलोक्यश्रेयसे विष्णोर्यन्मित्रं साम्परायिकम् ।
सापत्नमिन्द्रस्य च तद् वन्दे गारुत्मतं महः ॥

आशय—त्रिलोकी के कल्याण के लिये युद्ध में जो विष्णु भगवान् के मित्र हैं और इन्द्र के प्रतिस्पर्धी हैं, ऐसे श्रीगरुड़ जी महाराज की शक्ति को नमस्कार है।

यों तो जो कामशास्त्र नहीं जानते, क्या उन्हें काम गोचर नहीं है ? तो भी मुनियों ने उसके यथार्थ तत्व को प्रकाशित करने के लिये शास्त्र निर्माण किया। इसी प्रकार यद्यपि मृगया का रस मूर्ख पुरुषों तक को भले प्रकार विदित है, तथापि वह श्यैनिक शास्त्र के जाननेवाले के हृदय में विशेष प्रमोद उत्पन्न करता है। इसलिये उस सद्रस की निष्पत्ति के लिये श्यैनिक शास्त्र सप्रयोजन है; अतः उसका संक्षेप तथा विशद रीति से विवेचन किया जाता है।

मनुष्यों के पूर्व-जन्मसिद्ध भोगों की प्राप्ति के लिये तथा मन के प्रमोद के लिये विधाता ने जो नाना विनोद सिरजे हैं, उन सब को कौन गिन सकता है ? उनमें से जो अट्ठारह गिनाए जाते हैं, उन्हें लोग "व्यसन" कहा करते हैं। परंतु सच पूछो तो वेही रसभूमियाँ हैं और उनके बिना इंद्रियाँ भी निष्फल ही हैं। उन्हें यदि काल और नियम के अनुसार सेवन किया जाय, तो यों तो प्राणिमात्र के लिये, परंतु राजा लोगों को विशेष रूप से सुख देनेवाले हैं। अब रही यह बात कि ये तो "व्यसन" हैं, शास्त्रकारों ने इनकी निरंतर निंदा की है, यहीं तक नहीं, इनमें जो अनुरक्त हुए, उनका अधःपतन हुआ, ऐसा इतिहास से सिद्ध है। इस विषय में यह सोचना चाहिए कि मान लो कि स्त्री का सर्वथा सेवन न करें, तो बताओ "पुत्" नाम के नरक से उद्धार करनेवाले पुत्र का जन्म क्योंकर होगा ? और शिकार को यदि निषिद्ध बताते हो तो मांस, मृगचर्म, शृंग आदि

जो यज्ञ आदि कर्मों के विधि-विहित साधन हैं, उन्हें कैसे प्राप्त करोगे ? इसी प्रकार "दिवास्वप्न" (दिन में सोना) से, जिसकी व्यसनों में गणना की जाती है, इस शरीर की, जो इस लोक में धर्म, अर्थ और काम का एक मात्र साधन कहा जाता है, अजीर्ण आदि रोगों से रक्षा होती है।

निश्चय यही है कि इनकी आसक्ति त्याज्य है। भागवत का भी यही कहना है कि आसक्ति से बन्धन होता है। अब रही कर्म मात्र के परित्याग की बात, सो वह तो केवल मोक्ष के लिये है। जो जाति-कर्माचरण बतलाया गया है, वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को सिद्ध करता है। हाँ जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह त्याग अवश्य मन, वचन और कर्म से करना ही चाहिए। रही संन्यास की बात, सो यदि सुकृतपुंज से मोक्ष के लिये कर्मों के संग के त्यागने की उत्कट इच्छा हो जाय, तो संन्यास ग्रहण कर ले। एक और बात है, और वह यह कि शास्त्रों ने भोग को भी कर्मों के क्षय का हेतु कहा है और इस विषय में ज्ञानी "सौभरि" का, जिसने बंधन से मुक्ति के लिये विषयों का सेवन किया था, उदाहरण विद्यमान है। और "रुचि" के प्रति, जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया था, पितरों से उसके कल्याण के लिये कही हुई निम्न लिखित मनोहर पंक्तियाँ सुनी जाती हैं—

पूर्व्वकर्म्मकृतं भोगैः क्षीयतेऽहर्निशं तथा।
सुखदुःखैः स्वकैर्वत्स पुण्यापुण्यात्मकं नृणाम् ॥
क्षीणाधिकारो धर्म्मज्ञस्ततः शममवाप्स्यसि।

आशय—हे वत्स ! मनुष्यों के पूर्वजन्म कृत कर्म पुण्यात्मक हों चाहे अपुण्यात्मक, रात दिन सुख-दुःखों के भोग के द्वारा वे क्षीण हो जाते हैं। अतः हे धर्मज्ञ ! जब तुम्हारे कर्म निःशेष हो जायँगे, तब तुमको स्वतः मुक्ति मिल जायगी।

अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे ही वाक्य हैं—

कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वं कर्म्मज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्म्मणः॥

आशय—हे अर्जुन! तुम कर्म करो, कर्म अकर्म से बढ़कर है। यदि कर्म नहीं करोगे तो यह शरीर-यात्रा भी नहीं सिद्ध हो सकेगी।

दूसरे शास्त्रों में भी तत्ववादियों के अनेक ऐसे वाक्य सुने जाते हैं, जिनमें उन्होंने गृहस्थाश्रम के पालन करनेवालों को कर्म करते रहने के लिये ही प्रेरणा की है।

न्यायागतधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

आशय—जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करता है, तत्व-ज्ञान में निष्ठ है, अतिथियों से प्रसन्न होता है, श्राद्ध करनेवाला है, सत्य-वादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

इन और अन्य वेद-वचनों से कर्मों से प्राप्त हुए भोगफलों का आस्वादन करना हेय सिद्ध नहीं होता। हाँ भोग इस प्रकार अवश्य होना चाहिए कि मनुष्य उसके बंधन में न पड़ जाय। देखिए, राजा जनक, जो प्रजा के पालन में तत्पर थे, भोगों को भोगते हुए मुक्ति के पात्र बने। यह अनासक्ति ही से हुआ था। दूसरे यह भी तो मोक्ष के लिये परम सुन्दर मार्ग है कि अपनी जाति के लिये, जो विहित आचार बताए हैं, उन्हें मनुष्य करता जाय तो मनुष्यों को स्वर्ग सुलभ हो जाता है। अतएव स्वर्ग, यश और आयुष्य के देनेवाले कर्म करने में मनुष्य तत्पर रहे। "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि" इत्यादि वेद का भी तो निश्चय है।

सुकृतों से जो सम्पत् प्राप्त होती है, वह भोग के लिये वांछित है, और वह भोग किसी न किसी तरह अठारह प्रकार के व्यसनों से संश्लिष्ट है। छोटी छोटी बातें ले लो; जैसे—अच्छा भोजन, चंदन, माला आदि। इन्हें भी तो व्यसनों में समन्वित किया जाता है। इसी तरह वसंत ऋतु, वर्षा ऋतु, चंदनादि सुगंधियों का सेवन, चंद्रोदय

आदि, जो कान्ता सहित हैं उनके लिये रम्य हैं; किंतु वियोगियों के लिये व्यथा स्वरूप हैं।

धर्मद्रुमस्य फलमर्थमुदीरयन्ति
शास्त्रेषु निश्चितधियो हि यथागमेन।
तं दानभोगविषये सुजनो नियुङ्क्ते
सम्यक् तयोः परिणतिः सुषमामुपैति ॥

आशय—जो शास्त्र-पारंगत हैं, वे वेदानुसार यह कहते हैं कि धर्मद्रुम का फल अर्थ है। सुजन उस अर्थ को दान और भोग में नियुक्त करता है और उन दोनों का सम्यक् संवर्धन सुखस्वरूप है।

यहाँ "कर्म्मानुषञ्जन" नाम का प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है।

द्वितीय परिच्छेद—श्लोक ३३

वाक्पारुष्य आदि जो १८ व्यसन कहलाते हैं, अब उनके पृथक् पृथक् नाम तथा उनकी हेयता और उपादेयता का वर्णन करते हैं—

वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये ईर्ष्यासूया च साहसम्।
अर्थदूषणपैशुन्ये क्रोधजे क्रोध एव च ॥
स्त्रियोऽक्षा मदिरागीतनृत्यवाद्यवृथाटनम्।
परोक्षनिंदाहःस्वप्नो मृगया चेति कामजाः ॥

आशय—१ वाक्पारुष्य, २ दण्डपारुष्य, ३ ईर्ष्या, ४ असूया, ५ साहस, ६ अर्थ-दूषण, ७ पैशुन्य, ८ क्रोध, ९ स्त्री, १० अक्ष, ११ मदिरा, १२ गीत, १३ नृत्य, १४ वाद्य, १५ वृथा अटन, १६ परोक्ष निंदा, १७ अहः स्वप्न और १८ मृगया ये "काम" से उत्पन्न हुए व्यसन हैं।

१—अश्लील और कठोर वचन का कहना "वाक्-पारुष्य" कहलाता है। माना कि वह बुरा है, परंतु दण्ड देने और विवाद (व्यवहार) निर्णय में बुरा नहीं।

२—जिसको दण्ड न देना चाहिए, उसको दण्ड देना और जितना दण्ड देना चाहिए, उससे अधिक देना "दण्ड-पारुष्य" कह-

लाता है। ऐसा करना बुरा है; परन्तु संकट में (प्रतापजननार्थ) गौरव जमाने के लिये ऐसा किया जाना बुरा नहीं कहा जाता।

३—दूसरे की ऋद्धि को न सह सकना "ईर्ष्या" कहलाता है। उसका "सपत्न" अर्थात् एक ही अर्थ में साथ साथ यत्न करनेवाले एवं शत्रुओं के प्रति होना अच्छा है; क्योंकि उससे उत्तेजित होकर मनुष्य उनका नाश करने का यत्न करेगा।

४—गुण में दोष का आरोपण करना "असूया" कहलाता है, परन्तु आख्यायिकाओं और रंगभूमि में विदूषक आदि का ऐसा करना बुरा नहीं कहा जाता।

५—जिसके करने में प्राणों के बचने का भी संदेह हो, वह कार्य "साहस" कहलाता है। साधारण अवसरों पर ऐसा करना अपनी हँसी कराना है। परंतु विपत्ति में ऐसा करना प्रशंसनीय होता है।

६—उपहार के लेने अथवा देने में गुण दोष का न देखना, यथाधर्म प्राप्त हुए धन का अंगीकार न करना, कुपात्र को धन देना, विघातक दान देना अथवा दान देकर वापस लेना "अर्थ-दूषण" कहलाता है। ये बातें चतुर दूत द्वारा शत्रु के राज्य में करवाई जानी चाहिएँ।

७—दूसरे के दोषों का उघाड़ना "पैशुन्य" कहलाता है। परंतु दूत के मुख से दूसरे के दोष जानने चाहिएँ और निर्णय करके उनका प्रतिकार करना चाहिए।

८—दण्ड आदि देने में क्रूरता करना "क्रोध" कहलाता है। वह औरों में नहीं, परंतु निरंतर अपकार करनेवालों से करे।

९—स्त्री के विषय में कहा है—

> सुलक्षणा कलाभिज्ञा दक्षा सौभाग्यसंयुता।
> वयोविनयसंपन्ना सा स्त्री स्त्रोत्युच्यते बुधैः॥

आशय—विद्वान् लोग सुलक्षण, कलाविद्, दक्ष, सौभाग्य-शील और यौवन-विनय-संपन्न स्त्री को "स्त्री" कहते हैं। वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) और गृहस्थाश्रम के कर्मों की प

मात्र साधन, संतान तथा घर-बार की संरक्षक और मन को प्रमुदित करनेवाली होती है। प्राचीन काल में एक अवसर पर इस विषय में जब अगस्तजी ने प्रश्न किया था, तब कुमार ने यही उत्तर दिया—"यत्रानुकूल्यं दंपत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्द्धते" अर्थात् जहाँ पति और पत्नी में अनुकूलता हो, वहाँ धर्म, अर्थ और काम बढ़ते हैं। यों भी देखो तो धर्म से अर्थ और अर्थ से काम की सिद्धि होती है। परंतु बिना अच्छी स्त्रियों के किसी प्रकार से काम की सार्थकता नहीं हो सकती। अतएव सती स्त्रियाँ धर्म्म-रूपी वृक्ष के अनुपम फल हैं, और इस कारण पुरुष को चाहिए कि स्वच्छन्दाचरण को छोड़कर सर्व भाव से उसका अनुरंजन करे। अनन्य मनवाले पति-पत्नियों का जो पारस्परिक काम (प्रेम) है, वह ऐसा है, कि उसे उनकी आत्मा ही जानती है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः काम आत्मिक स्पर्श है। गुणाढ्य, व्यास, वाल्मीकि के सूक्ति-मुक्तार्णवों में संभोग और विप्रलंभ स्वरूप से इस (काम) का विस्तारपूर्वक प्रपंच दिखाया गया है।

१०—सजीव अथवा निर्जीव वस्तु पर प्रतिज्ञापूर्वक क्रीड़ा करना अर्थात् बाज़ी लगाना अक्ष (जूआ) कहलाता है। यदि वह सुप्रयुक्त हो तो अर्थ और काम की वृद्धि करनेवाला होता है।

११—जिसके पीने से, उन्मत्तता उत्पन्न हो, वह वस्तु मदिरा कहलाती है। जानकार लोग कई एक असाध्य रोगों में उसके प्रयोग की प्रशंसा करते हैं।

१२—जो कुछ कलकंठ से ताल स्वर से युक्त लास्य के उपयोगी गाया जाता है, वह गीत कहलाता है। उसके उत्कृष्ट गुण को गीतज्ञ ही जान सकते हैं। यदि उसका समयानुकूल व्यवहार हो तो वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है। गान से अर्थ और काम की सिद्धि होती है, यह तो सबको प्रत्यक्ष ही है, और इससे धर्म और अपवर्ग की भी सिद्धि होती है, यह भरत, याज्ञवल्क्य, नारद आदि मुनियों ने बताया है। यदि गीतज्ञ गीत से परम पद का-

चित् न प्राप्त करे, तो इतना तो अवश्य ही है, कि यह मरकर शंकर का किंकर होकर शंकर के साथ ही आनंद प्राप्त करता है।

१३—नृत्य दो प्रकार का होता है-एक तो उद्धत, जिसे "तांडव" कहते हैं, और दूसरा "लास्य" जो अभिनयात्मक है। वह चारी और लय से युक्त होता है।

१४—वाद्य चार प्रकार का बताया जाता है। तत् आदि उसके भेद हैं। नृत्य और वाद्य का प्रयोजन गीत के प्रयोजन (अर्थात् चतुर्वर्ग साधन) के समान ही है।

१५—कार्य के बिना जो उद्यान और नगर में घूमना है, वह "वृथाटन" कहलाता है। वह भी शरीर के आलस्य की शांति के लिये उपयोगी है।

१६—परोक्षनिंदा का अर्थ तो स्पष्ट ही है। उसकी भी कभी प्रतारणा करने में आवश्यकता होती ही है।

१७—सब ऋतुओं में दिन में सोना दिवा-स्वप्न कहलाता है। यह बालकों, अतिसारवाले रोगियों अथवा अन्य किसी क्षीण करनेवाली व्याधि से पीड़ितों और अजीर्ण से ग्रस्तों के लिये अच्छा है।

१८—ये १७ व्यसन तो गिना चुके। अब अठारहवाँ "मृगया" है। इनके हेय और उपादेय होने के संबंध में भीष्म पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर से निम्न लिखित पंक्तियाँ कही थीं—

"व्यसनानि च सर्व्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण।
न चैव न प्रयुञ्जीत संगन्तु परिवर्जयेत्॥"

आशय—हे महादानी! तुम सब व्यसनों का त्याग करो, परंतु इससे यह मत समझो कि उन्हें सर्वथा प्रयोग में ही न लाओ। उनका संग अर्थात् उनमें आसक्त हो जाना हेय है।

इत्थमत्र परिचिंत्य लाघवं
गौरवञ्च गुणयोगतः पृथक्।
संगमात्रमपहाय योजयेद्
रञ्जनाय जगतो यथायथम्॥

आशय—इसलिये इनके गौरव और लघुता का विचार करके प्रत्येक का उसके गुणबलानुसार संसार के अनुरंजन के लिये संग मात्र (आसक्ति) को त्यागकर प्रयोग करना चाहिए।

यहाँ "व्यसनहेयाहेयतानिरूपण" नाम का दूसरा परिच्छेद समाप्त होता है।

तृतीय परिच्छेद—श्लोक ७६

अब मृगया का संक्षिप्त और विशद रूप से वर्णन करते हैं। यद्यपि यह है तो एक ही व्यवसाय, परंतु इसके अनेक विभाग हैं। हम उनमें से आठ का निरूपण करेंगे। यों तो किसी तरह मांस आदि अर्थ-सिद्धि के लिये अथवा अपना मन बहलाने के लिये जो किसी जीवधारी को मारता है, वह मारना "मृगया" कहलाता है। जहाँ प्राणधारियों की हिंसा होती है, वहाँ नाना दोष उत्पन्न होते हैं। यज्ञीय पशु १४ प्रकार के हैं। उनमें से कुछ ग्राम्य हैं और कुछ जंगली। इनकी यदि बिना प्रोक्षण किए हुए हिंसा की जाय तो दोष गिना जायगा। इस जीव-हिंसा के प्रसंग पर पाण्डु-किंदम संवाद में महर्षि द्वैपायन (व्यास) ने निम्न लिखित श्लोक कहा है—

"शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग ! न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥"

आशय—शत्रुओं के वध के लिये जो विधान बताए हैं, वे ही मृगों के वध के लिये भी हैं। हे मृग ! तू अज्ञान से व्यर्थ मेरी निंदा मत कर।

मृगों (जीवों) का वध निष्कपट अथवा कपट द्वारा किया जा सकता है। सत्र में विराजमान महर्षि अगस्त्य ने महावन में जंगली पशुओं पर जल प्रोक्षण कर देवताओं के समर्पण कर मृगया की थी। अगस्त्य ने प्रोक्षण कर दिया था, अतएव उस मृगया में हिंसा नहीं गिनी गई। यागादि में यथाविधि ग्राम्य पशुओं का जल प्रोक्षण कर चढ़ाया जाना अनिंद्य माना ही जाता है। अगस्त्य जी के उपर्युक्त

प्रांतण से जंगली पशुओं का वध भी अनिंद्य है; और अनेक राजाओं ने मृगया का सेवन किया, इस बात के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

यदि यह कहें कि मृगया में तो व्यायाम और उपघात से बहुत थकावट और श्रम होता है, सुख का नाम तो व्यर्थ ही ले रक्खा है, तो इसका यह उत्तर है—

यथा प्रसह्य मानिन्याश्चुम्बनालिंगनादिकम् ।
आयाससाध्यमप्यन्तर्न नाम मुदमश्नुते ॥
प्रहारो नखदंताद्यैर्यथैव स्मरसङ्गरे ।
उपघातस्तथैवात्र रसावेशान् न वा रुजे ॥

आशय—जैसे रति विलास भी श्रम-साध्य है, परंतु रोचक है, वैसे ही मृगया को भी समझना चाहिए।

इसलिये मृगया की जो परिभाषा पहले कर आए हैं, वह सिद्ध है। अब जो मृगया के आठ भेद हैं, उनका विवेचन करते हैं। जैसे एक ही कामिनी हर-मूर्ति के समान अवस्था भेद से आठों प्रकार का रस उत्पन्न करनेवाली होती है, वैसे ही यह मृगया भी है।

आश्वीनान्या सजालान्या काल्यान्या यावशी परा।
सापेक्षान्या पदप्रेक्षा तथा श्वगणिका परा॥
श्येनपाताष्टमी चैताः क्रमेण परिकीर्तिताः ॥

आशय—मृगया के आठ भेद ये हैं— १—घोड़े पर चढ़कर, २—जाल डालकर; ३—धोखा देकर; ४—घास के हिलने से संकेत समझकर; ५—ओट में बैठकर; ६—खोज ढूँढकर; ७—कुत्तोंद्वारा; और ८—श्येन (बाज) द्वारा करना।

अब इनके लक्षण और व्यवहारों का वर्णन करते हैं। घोड़ों की सहायता से बाण आदि से दौड़ते हुए जानवरों को मारना "आ-श्वीना" मृगया कहलाता है। वह रस का खज़ाना है। उसके लिये वृक्षों, कीचड़, कंकड़, पत्थर और गड्ढों से रहित भूमि होनी चाहिए। इसके लिये आधे शिशिर से आधे जेठ तक का समय अच्छा है। इसके सेवन से मेद (चर्बी) कम होती है, शरीर में लघुता आती

है, बल और आशा (उत्साह) की वृद्धि होती है, दृढ़ता आती है, जठराग्नि बढ़ती है; क्षुधा, तृषा, शीत, आतप, थकावट, जागरण आदि की सहिष्णुता उत्पन्न होती है, चलायमान लक्ष्य के बेधने में निपुणता आती है, उत्साह की वृद्धि होती है, अपनी शक्ति (सत्व) का उद्भावन होता है, जीवों के चित्त और चेष्टाओं का ज्ञान उत्पन्न होता है और ऐसे ही अनेक उत्कृष्ट हितकारी गुणों की प्राप्ति होती है।

वृक (भेड़िया), व्याघ्र आदि (हिंसक पशुओं) के मारने से, हरिण आदि को मारकर शस्य (खेती बारी) आदि की रक्षा करने से, जंगलों के निरीक्षण से,जो नाना भाँति से लाभप्रद हैं, चोर डाकुओं को डराने से और जंगली जातियों का अनुरञ्जन करने से धर्मोपार्जन भी होता है। मस्त हाथियों और गैंड़ों के पकड़ने से, सींग, खाल, कस्तूरी, मणि, पंख आदि के उपार्जन से अर्थोपार्जन भी होता है। वराह (जंगली सूअर), लावक (तीतर जैसे पक्षी) आदि के उत्तम मांस के सेवन से मनुष्य ऊर्जितबल होता है और उसे कामोत्कर्ष भी होता है। काम का सर्वस्व रस, अभिमान और अहङ्कार हैं; अतः आखेट से थके हुए पुरुष को चंदनादि का अनुलेपन, गात्र-संवाहन (शर्बत आदि का) पान, पंचसार (घी, दूध, दही, शहद, और शक्कर), ताड़ के पंखे की हवा आदि, पथ्य हैं। आत्मिक अभिमान से जो संबंध उत्पन्न होता है, वह और तरह से नहीं होता; अतः मृगया काम की मुख्य अपवाहक है। रस की उत्कर्षता के संबंध में भी विचारें तो मृगया और स्त्री-भोग में कुछ भी भेद नहीं है। अपितु शास्त्रकारों ने एक सूक्ष्म विशेषता यह बतलाई है कि बार बार की स्त्री-संभोग, संभोग की प्रीति को न्यून करता है; परंतु मृगया का सेवन ऐसा नहीं करता। विभाव और अनुभाव जो संयोग और वियोग से उत्पन्न होते हैं, दोनों (स्त्री-संभोग और मृगया) में एक से प्रतीत होते हैं। स्त्री संबंधी विभावों और अनुभावों तथा संयोग और वियोग का सविस्तर वर्णन पहले ही नाट्य, अलंकार और काम-शास्त्रों में किया हुआ है, अतः उनका यहाँ वर्णन करना अनावश्यक

है। हाँ, मृगया के संबंध में परिज्ञान के लिये संक्षेप में कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

श्येनों द्वारा दूर ही से पक्षियों का पकड़ा जाना तथा धनुर्धारियों से चल अथवा निश्चल लक्ष्य का बलपूर्वक अचूक बींधा जाना ऐसा प्रेम उत्पन्न करता है कि आँखों में आँसू आ जाते हैं, शरीर पर रोमांच हो जाता है और कंठ गद्गद् हो जाता है। यदि लक्ष्य के वेधने में विफलता हो जाय, तो वियोग भी दुस्सह होता है। अनेक प्रकार के वितर्कों का स्मरण होता है, मनुष्य की आकृति बदल जाती है, यहाँ तक कि विलाप आदि होने लगता है। अतः ये दशाएँ मृगया और मनोरमाओं के संबंध में समान हैं। यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि मृगया भी त्रिवर्ग के साधन के लिये प्रशस्त है।

खुले हुए स्थान में, जहाँ अनुयायी लोग वायु की गति की ओर खड़े हुए हों और एकतान हों, तो शिकार आसानी से हो जाता है। गैंडे के शिकार में पाँच छः सवार काफी हैं; परंतु घोड़े वश में रहनेवाले एवं चाल में सधे हुए होने चाहिएँ, और सवार को गैंडे की पीठ पर झट झट प्रहार करने चाहिएँ। यदि गैंडा उलटा मुड़े तो सवार को अपने घोड़े की निपुणता के भरोसे तुरंत उसके सामने आना चाहिए और दूसरे साथियों को उसे पीछे से बींधना चाहिए; अथवा श्रेष्ठ धनुर्धारी साथियों को उसकी बगल में बाण मारने चाहिएँ। वेगवान् घोड़ों से धनुर्धारी इस मृगेन्द्र को भी, चाहे वह सामने हो अथवा आड़ में, बिल्ली के समान मार लेते हैं।

"सजाला" शिकार वह कहलाता है जिसमें कपट (कूट वृत्ति) से मृगों को मारते हैं अथवा मछली, शंख, उद्र (जलमार्जार) और शुक्तियों को बंधन में डालते हैं। इसके अनन्त साधन हैं। इस शैली का शिकार प्रायः निषाद, नीच लोग और ऐसे वैसे ही किया करते हैं; परंतु यह हाथी आदि के पकड़ने में बड़े सुभीते का एवं अति लाभदायक होने से राजाओं को भी उसका प्रयोग करना चाहिए। इसमें कपट प्रबंध करना निन्दनीय नहीं है, क्योंकि बालि के बध के

प्रसंग में इस विषय में वाल्मीकि मुनि ने निम्नलिखित क्रियाँ लिखी हैं—

"वागुराभिश्च कूटैश्च पाशैश्च विविधैर्नराः।
प्रतिच्छन्ना अदृश्याश्च गृह्णंति बहवोऽद्भुतम्।
विध्यन्त्यभिमुखांश्चापि मृगयाधर्म्मे कोविदाः॥"

आशय—मनुष्य जानवरों को अनेक प्रकार के जालों से, कूटों (कपट अथवा मृगों के बाँधने की कलाओं) से, फंदों से अथवा गुप्त स्थान में छिपकर बंधन में लाते हैं। मृगया धर्म्म में जो निपुण हैं, वे सामने आते हुए पशुओं को तीरों से वेधते हैं।

सिखलाए जाने से जो एक मृग दूसरे मृग को पकड़ता है अथवा एक पक्षी दूसरे पक्षी को पकड़ता है, वह भी "सजाला" शिकार के अंतर्गत ही है।

"काल्या" नाम का शिकार वह है जो कई मनुष्य मिलकर एवं उनमें से कुछ पीछे और कुछ आगे खड़े होकर, यों पृथक् पृथक् होते हुए भी एक ही उद्देश्य में तल्लीन होकर करते हैं। काल्या के चार भेद हैं। पहला भेद "बहुकर्णिका" है। इसमें हवा के सामने दो तीन मनुष्य खड़े होकर खूब शोर मचाते हैं और "त्रिकर्णि" त्रिशूल जैसे शस्त्र चलाकर मृगों को मारते हैं। दूसरा भेद "मूललग्निका" है। इसमें बहुत से मनुष्य वृक्षों की ओट में छिप जाते हैं और चुपके से पीछे से निकलकर इकट्ठे हो धोखे से मृगों को मारते हैं। तीसरा भेद "महाकाल्या" है। इसमें बहुत दूर से बहुत से मनुष्य एकत्र होकर आक्रमण करते हैं और वे क्रम से समीप आकर सब प्रकार के मृगों को रोककर सब को तलवारों से अथवा किसी और प्रकार के शस्त्रों से मारते हैं। इसे राजा अथवा राजा जैसे बड़े आदमी ही कर सकते हैं। चौथा भेद "गजकाल्या" है इसमें घोड़े के सवार ग्रीष्म ऋतु में अल्प जलवाले स्थान में हाथियों को घेरकर पकड़ते हैं। जो शिकारी उपर्युक्त चार प्रकार का शिकार करें, उन्हें तीर चलाने तथा छल करने में सुनिपुण होना चाहिए।

अन्यथा उनका श्रम करना व्यर्थ है और अपने साथियों को निरर्थक संकट में डालना ही है।

"यावशी" नाम का शिकार वह है, जिसमें खेती, घास आदि के हिलने का, जो जानवरों के वहाँ छिपने से होता है, संकेत पाकर किया जाता है। इसे दो तीन सवार, जो अच्छे तीरंदाज हों, करते हैं। यदि घास के हिलने को सावधानी से देखा जाय और पशुओं की गति शीघ्रता से न हो, तो इसमें सफलता हो जाती है। यह आनन्द-दायक है और अधिक श्रमकारी नहीं है।

"सापेक्षा" नाम का शिकार वह है जिसमें एक अथवा एक से अधिक धन्वी मृगादि की प्रतीक्षा में छिपे हुए रहते हैं और विषयुक्त बाणों से उन्हें बींधते हैं। यह जहाँ खेतों में बिभीतक (बहेड़ा) आदि के वृक्ष हों वहाँ अथवा, जल पीने के स्थानों में किया जाता है। गौ के शव (लाश) आदि को पटक देने से सिंह आदि का शिकार आसानी से हो जाता है।

"पदप्रेक्षा" नाम का शिकार वह है जिसमें पद-चिह्न का अनुसरण करके मृगों (जानवरों) को मारते हैं। इसके दो भेद हैं। पहला भेद "श्वपद प्रेक्षिका" कहलाता है। इसमें कुत्ते चारों ओर शिकार को ढूँढते हैं; फिर वह मारा जाता है। दूसरा भेद "पूर्वशङ्किता" है। इसमें धन्वी प्रयत्नपूर्वक कुशलता से स्वयं शिकार को ढूँढता है और फिर सोते हुए को अथवा सोकर उठे हुए को मारता है। ये दोनों प्रकार के शिकार रेतीले जंगल में अथवा (सानूप) जलप्राय देश में वर्षा ऋतु में सहज ही में सिद्ध हो जाते हैं; परंतु अन्य ऋतुओं में ये अति श्रम से सिद्ध होते हैं।

"श्वगणिका" नाम का शिकार वह है जिसमें कुत्ते लक्ष्य किए हुए शशक (खरगोश) आदि को पकड़ते हैं। इसमें सिद्धि या असिद्धि शशकों के उछलने तथा उनके कुत्तों के मुख में आने पर निर्भर है। हाँ, उनका गिरना और उछलना हँसी के मारे मनुष्य का पेट फुला देता है। शशक अतीव आक्रन्दन करते हैं और श्वान उनका पीछा करते हैं।

परिणाम यह होता है कि थोड़ी ही देर में घोर घमासान मच जाता है और प्रचंड चंडी चेतती है। ऐसा भी होता है कि खुले स्थान से रस्सी खोलने में चतुर पुरुष अपने कुत्तों को शिकार को लक्ष्य कर दो तीन बार करके छोड़ देते हैं और यों सिद्धि हो जाती है। ऐसे अवसर पर सहसा बाण मार देना इतना अच्छा है, जितना वह अन्य अवसरों पर नहीं है क्योंकि बाण शिकार को मार देता है और शिक्षित कुत्ते की, जो लड़ रहा है, रक्षा हो जाती है। ऐसे अवसर पर खरगोशों पर डंडे भी युक्तिपूर्वक फेंकने चाहिएँ। शिकार की यह शैली बहुत प्रमोदास्पद है। इसका एक और भेद है जिसे "रज्वामोक" कहते हैं। उसका प्रयोग कृष्णसार और रुरु मृगों पर युक्तिपूर्वक रस्सी फेंककर करते हैं और वह शिकार भी बड़ा रसीला होता है।

"श्येनपात" एक अति रसीली मृगया है जिसमें दो प्रकार से श्येनों को पक्षियों पर फेंकते हैं। क्या श्येनपात मृगया है? उसमें पक्षी की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतिपादन होता है या किसी अन्य पुरुष की इच्छा का? यदि यह कहें कि जंगली पक्षियों की प्रवृत्ति का प्रतिपादन होता है, तो उसे "मृगया" कहना निरर्थक है। यदि यह कहें कि शशाद (एक प्रकार का श्येन) मृगों को पकड़ते हैं, इसलिये "मृगया" सार्थक है, तो सिंह आदि जब अपने लिये पशु पकड़ें तो उसे भी "मृगया" क्यों नहीं कहते? इसका समाधान यह है कि एक नहीं अनेक अर्थों के लिये बारंबार जीव का जो अन्वेषण करना है, वह मृगया कहलाता है। वह "तिर्य्यक्" या छोटे प्राणियों में नहीं पाया जाता। वे मारते हैं तो केवल अपने उदरपूरणार्थ मांस के लिये। इसके अतिरिक्त उनका और कोई उद्देश नहीं होता। मृगया का उद्देश्य मांस उपार्जन करना ही नहीं है। उससे मोती, मृगचर्म, कस्तूरी आदि की भी प्राप्ति होती है। यही नहीं, किंतु उसमें हाथियों को भी पकड़ते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवों का नाना अर्थ-सिद्धि के लिये अन्वेषण किया जाता है, अतः इसे मृगया कहते हैं। इसलिये श्येनों को कैसे फेंकना चाहिए,

इसका वर्णन आगे करेंगे और इसी लिये आठवीं मृगया "श्येनपात" बतलाई है।

एतस्या विशदतया किलाष्टभेदा
निर्दिष्टाः पुनरपरे ह्यवांतरा ये।
ते सर्वे रसजननाय नैकरूपाः
कल्प्यंते विहितविधानसंप्रयोगात्।

आशय—मृगया के स्पष्ट रूप से आठ भेद हैं; परंतु अवांतर भेद अनेक हैं। वे सब एक ही प्रकार का रस नहीं उत्पन्न करते, किंतु विविध विधान उनसे भिन्न भिन्न रस उत्पन्न होते हैं।

यहाँ पर "मृगयाविवेचन" नाम का तृतीय सर्ग समाप्त होता है।

चतुर्थ परिच्छेद—श्लोक ६२।

इस प्रकार का शिकार कई भाँति किया जाता है। उदाहरणार्थ श्येनों में विश्वास उत्पन्न करके, उनके लक्षणों को जानकर और उनके फेंकने के नियमों का परिज्ञान करके। मोक (फेंकना) दो प्रकार का होता है—एक "हस्तमोक" कहलाता है और दूसरा "मुष्टिमोक"। हस्तमोक वह है जिसमें मनुष्य श्येन के पाश (डोरी) को अपनी उँगलियों में ग्रहण किए रहता है और श्येन को मार्गित जंतु पर झपटने को फेंकता है। "कुही" श्येनों के संबंध में तो यही एक मात्र विधि है और यह "वास" श्येनों के संबंध में भी बहुत अच्छी है। "मुष्टिमोक" वह कहलाता है जिसमें श्येन को हथेली पर रखकर कपड़े से उसके परों की इस तरह रक्षा कर उसे फेंकते हैं कि उसके उड़ने में बाधा न पड़े। ये दोनों प्रकार के मोक मार्गित जंतु की दूरी के अनुसार करने चाहिएँ, और वे असक्त (निर्दोष), लघु, (फुरती से किए हुए) तथा सोल्लास (उत्साहयुक्त) होने चाहिएँ, जिससे श्येन का पक्षी पर आघात अतर्कित हो।

अब श्येनों में विश्वास कैसे उत्पन्न करना चाहिए, इस विषय

का वर्णन करते हैं। प्रारंभ में चतुर पुरुष को चाहिए कि (सीवनेन विमुद्रयेन्नेत्रे) सूई से सीकर उसके नेत्रों को बंद कर दे जिससे वह पाँच दिन तक उसका मुख न देख सके और न उसे इन दिनों में अपनी बोली सुनावे। तदनंतर प्रत्येक रात्री को दीपक आदि के मंद प्रकाश में उसके नेत्रों को खोले और निर्मल शीतल जल से धोवे। उसे शनैः शनैः परिचय करावे और अपनी बोली पहचानवावे। यों क्रम से हस्तादि स्पर्शों से, वाक्यों के उपलालन से, नियमित काल में जल और मांस प्रदान करने से, सांत्वना देने से, छाया (ठंड) और आतप (गर्मी) से उसकी रक्षा करने से और क्रम क्रम से उसकी आँखें खोलने से उसको पालतू करे। उनके पालतू हो जाने या न हो जाने का ज्ञान उन्हीं की चेष्टाओं से करना चाहिए। जब वे निमीलित नयन एक पाँव से खड़े हों, चोंच से अपने परों को खुजलावें, अपने परों को विस्तृत करें और शिक्षक के मुख को सौम्य दृष्टि से देखें, तो समझना चाहिए कि वे (रक्त) पालतू हो गए। यदि ऐसा न करें तो उन्हें (विरक्त) जंगली ही समझना चाहिए। जब यह जान लें कि ये पालतू हो गए तो रज्जु से बँधे हुए ही उन्हें मांस आदि का प्रलोभन कर पास बुलावे। दूरी को क्रम क्रम से बढ़ाते जायँ और उनको दो या तीन बार बुलावे। जब बुलाने पर वह विलंब न करे, न तिरछी चाल चले, न मांस ले तब रस्सी हटाकर बिना रस्सी के ही उसे बुलाना चाहिए। तदनंतर उसे वृक्ष पर फेंके और फिर वहाँ से अपने पास बुलावे। फिर उसके पूर्व संस्कार का स्मरण कराने के लिये उसे कलविंक (चटक, एक चिड़िया) और कपोत आदि पक्षियों की शिकार करने दे। जो श्येन इस भाँति पालतू न हो सके हों, उन्हें क्रम क्रम से बहुत निगरानी से, (अत्यंत कर संयोगैः) बारबार थपकी लगाकर और खींच खींचकर अपने वश में करे।

श्येनों की जातियों के अनुसार उनके रंजन करने की भिन्न भिन्न क्रियाएँ हैं; अतः उनकी विविध जातियों का वर्णन करते हैं। इनकी

दो नितांत भिन्न जातियाँ हैं; एक "कृष्णाक्ष" काले नेत्रवाली और दूसरी "पाटलाक्ष" लाल नेत्रवाली। इन दोनों जातियों के अवांतर भेद बहुत से हैं, परंतु उनमें से जो मुख्य हैं, वे नीचे दिए जाते हैं—

(१) कुही, (२) शशाद, (३) चरक, (४) बहरी; (५) लगर, (६) पक्ष कलिका और (७) तुरुमुती। ये सात कृष्णाक्ष जाति के भेद हैं। यह जाति बहुत निगरानी से पालतू की जाती है। यह मांस खाती है और जल पीती है। यदि इस जाति का श्येन शिक्षक के हाथ को काटने लगे, तो उसके मुख में कंकर ठूंसने चाहिएँ। इनका बनावटी विश्वास अथवा विश्वासाभास तो झट ही उत्पन्न हो जाता है, परंतु आभ्यांतर विश्वास बड़ी कठिनता से उत्पन्न होता है; अतः इनको युक्ति से वश में करना चाहिए। इन्हें जब बुलावे तब इनके पक्ष को बँधा रक्खे या कपड़े की थैली में रक्खे। जब वे आवें, तब उन्हें कुछ आहार देना चाहिए जिसमें उनकी आशा बँधी रहे। दुष्ट पक्षियों को दुष्ट पुरुषों के समान ललकारकर, पीटकर और पुचकारकर अपने वश में करे। अति पुष्ट होने पर ये उपद्रवी हो, जाते हैं और अति पीड़ित होने पर ये अशक्त हो जाते हैं। वस्तुतः जैसे नीच पुरुष होते हैं, वैसे ही ये पक्षी भी हैं। इनकी प्रत्याशा बढ़ाने से और इनके कर्म के अनुसार इन्हें दान (भोजन) देने से ये सेवकों के समान सुसेवक बन जाते हैं। इस जाति के पक्षी दूर से ही संबोधन जानने, दूर के शिकार पर आक्रमण करने और बड़े बड़े मार्गित जंतु पकड़ने में प्रवीण होते हैं।

अब दूसरी जाति के पक्षियों का वर्णन करते हैं—"पत्र" "बाज" और "लूर" ये तीनों पर्य्यायवाची नाम हैं। सामान्य नाम "बाज" है। जैसे अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म, पार्थ और रुक्मी ये पाँचो ही बाएँ हाथ से धनुष चलानेवाले थे, परंतु विशेषता के कारण पार्थ (अर्जुन ही "सव्यसाची" कहलाए, वैसे ही "बाज" नाम उपर्युक्त तीनों का है, तो भी श्येन पक्षी को बाज (वाजः वेगः पक्षो वा अस्ति अस्य) कहते हैं। वाज, वास, बेसर, सिचान, जूर, चेट, धूति, डुमा, एवं

इनकेनर ये "पाटलाव" जाति के भेद हैं। इन दोनों जातियों में मादीन बल, बनावट, साहस, मूल्य और उड़ने की सफाई में विशेष प्रशंसनीय है। प्रधानता से बाजादि को पुल्लिङ्ग में ही कहा है। बाज पाँच प्रकार के हैं। उनके पृथक् लक्षण वर्णन करते हैं। पहला "बलाक" है। वह आकृति में दुबला होता है, उसकी छाती और जंघा के समीप के पर काले और सफेद होते हैं। वह सुखसाध्य गिना गया है। दूसरा "चक्रांग" कहलाता है। उसकी आकृति चक्रवाक के समान होती है। तीसरा "कालक" कहलाता है। वह कंकाभ (जलमुरगाबी) के समान आकृति में लंबा और काला होता है। वह बहुत दिनों में पालतू होता है और पालतू होकर भी दगा दे जाता है। चौथा "हंस बाज" कहलाता है। उसका सारा शरीर हिम के समान श्वेत होता है। वह जहाँ सत्कार से रक्खा जाता है वहाँ कल्याण होता है। उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए और उसे साधारण तौर पर आखेट में नहीं लगाना चाहिए। उसके स्पर्श मात्र से ही चौथिया आदि ज्वर नष्ट हो जाते हैं। पांचवाँ "महारावण" कहलाता है। उसकी पूँछ और परों पर बड़ के पत्तों के से निशान होते हैं। यह बाजों का राजा कहलाता है। वह कौतुकास्पद पक्षी बड़े पुण्य-प्रताप से प्राप्त होता है। वह पक्षियों के झुंडों को रुला डालता है। इसलिये वह "महारावण" कहलाता है। बास चार प्रकार के हैं; १—औरङ्गन, २—धावन, ३—प्रतिष्ठान और ४—शिकार। औरङ्गनों के भी बहुत भेद हैं और उनके विक्रम, साहस और वर्ण भिन्न भिन्न हैं। धावन काया में सूक्ष्म तथा सुकुमार होते हुए भी बहुत अधिक वेगवाले होते हैं। प्रतिष्ठानों के पक्ष बहुत होते हैं और वे साहस और वेग में मन्द होते हैं। उन्हें रोग नहीं होता और उनका शरीर सुदृढ होता है। वे उस देश में उत्पन्न होते हैं जहाँ पर बाज अधिकता से पाए जाते हैं। वे कुछ सफेद से, कुछ लाल से और कुछ काले से होते हैं। शिकार सुशील वेगवाले, हिंसक और बड़े साहसी होते हैं। उनकी बनावट

ऐसी सुडौल होती है कि उनको देखते ही अमृत बरसने लगता है। अति सुकृतों से शिक्षा और संस्कारशालीन शिकार पक्षी प्राप्त होते हैं। उन्हें अधिक चेतावनियों और परिश्रमों से क्लेशित नहीं करना चाहिए, किंतु बारबार प्यार करके रखना चाहिए। अपना मन बहलाने के लिये जब ये पुष्ट हों तभी इन्हें मृगया में नियोजित करना चाहिए। बेसर तीन प्रकार के हैं—

पहला माणिक जो मोटा होता है और अधम है। दूसरा चूलिकाङ्क, जो न मोटा होता है और न पतला। तीसरा प्रकार जो सब से अच्छा है, उसके पक्ष अधिक होते हैं और वह साहस में वासा के समान होता है। सिचान, बनावट और स्वभाव में अनेक प्रकार के हैं। वे भिन्न भिन्न देशों में होते हैं; अतः उनकी चेष्टाएँ भी देशानुसार भिन्न भिन्न हैं। इनमें नर विशेष लक्षणों से पहचाने जाते हैं; परंतु ग्रन्थ के विस्तार भय से उन लक्षणों का वर्णन नहीं करते। उन पक्षियों में जिसका शिर सर्प के फण के समान हो, गरदन उन्नत हो, पंख विस्तृत हों और छाती चौडी हो वह सब से अच्छा गिना जाता है। इन के सामान्य अच्छे लक्षण निम्न लिखित हैं—

नलिका छोटी, गोल, मोटी और सुदृढ; उँगलियाँ लम्बी, जोड़ सुश्लिष्ट और नख तेज़ होने चाहिएँ। उनका बैठना स्वस्तिक चिह्न के समान होना चाहिये। "वास" यदि मधुरवाक् हो तो प्रशस्त है, परंतु "वाजी" मूक अच्छा। कुक्षी, कंठ और कर्णों का अंत भाग चाँदी का सा हो तो अच्छा है। श्येनों का यदि सत्कार-पूर्वक रक्खा जाय और उन्हें लालन कर अनुरंजित किया जाय तो वांछित अर्थ की प्राप्ति के लिये वे सुसचिवों के समान साधक होते हैं। जैसे राज्य-तन्त्र विधान को जाननेवाला सचिव ही अपने राजा की असामान्य बुद्धि के कौशल के वैभव को जानता है, वैसे ही श्येन पक्षी अपने शिक्षक के बुद्धि-वैभव को जान लेता है।

यत्र लब्धोपशमनमलब्धार्थोपचिन्तनम्।
दुष्टानां कर्षणं युक्त्या विनीतानाञ्च पोषणम्॥ ५७॥

उत्साहवर्धनं कामपूरणैः कृतकर्म्मणाम् ।
रञ्जनं रक्षणं शश्वत् रक्तारक्तपरीक्षणम् ॥ ५८ ॥
विश्वासनमविश्वासो नेत्रचेष्टानिरूपणम् ।
साध्यसाधनयोर्ज्ञानं शक्याशक्यविवेचनम् ॥ ५६ ॥
ज्ञात्वा नियोजनं योग्ये तथा योग्यान्निवर्त्तनम् ।
इत्याद्युह्या गुणा ये च राजधर्म्मे प्रदर्शिताः ॥ ६० ॥
तत्र ते श्यैनिके शास्त्रे विचार्यन्ते मनीषिभिः ।
यथावकाशं हि रसा नाट्यादौ ये विनिर्मिताः ॥ ६१ ॥

आशय—जो गुण राजधर्म्म में प्रशंसित हैं, वे सब के सब श्येन के संबंध में भी आवश्यक हैं। अर्थात् नए प्राप्त हुए (राज्य) का उपशमन करना, जो नहीं प्राप्त है, उसकी चिन्ता करना, युक्ति से दुष्टों को वश में करना, जो विनीत हैं उनका पोषण करना, जिन्होंने काम किया है उनकी इच्छाएँ पूर्ण करके उनका उत्साह बढ़ाना, निरन्तर (प्रजा का) रंजन तथा रक्षण करना, रक्त और विरक्त की परीक्षा करना, विश्वास उत्पन्न करना, विश्वास न करना, नेत्र और चेष्टाओं का निरूपण कर मन का भेद लेना, साध्य साधन का ज्ञान संपादन करना, शक्य और अशक्य का विवेचन करना, योग्य में नियोजन करना तथा अयोग्य को हटाना।

इतना ही नहीं किंतु वे रस जो नाट्य आदि में प्रवर्द्धित किए हैं, यथावकाश श्येन के शिकार में भी पाए जाते हैं।

इत्याद्यनेकरसभावनया गभीर-
मापामरादि सुखसेव्यतया सुबोधम् ।
संक्षिप्तयुक्तिरचितं परिशीलयन्तु
ते श्यैनिकन्तु मृगयाऽभिमता हि येषाम् ॥

आशय—नाना रस भावनाओं से गंभीर, पामर तक को सुख से सेवनीय होने से सुबोध, संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्वक जो यह श्यैनिक शास्त्र रचा है, इसका वे पुरुष, जिन्हें मृगया अभिमत हो, परिशीलन करें।

यहाँ पर "श्येनविवेचन" नाम का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त होता है।

पंचम परिच्छेद— श्लोक ७६

अब श्येनों की आहार–मात्रा का परिमाण, उनकी कालचर्या, रोग-परीक्षा तथा चिकित्सा का वर्णन करेंगे। कुही, चरक, बाज और बहरी के लिये २५ टंक (१ टंक=४ माशा) अच्छा मांस पर्याप्त है। शशादों को कम नहीं देना चाहिये। वे लंघन करने में असमर्थ होते हैं। यह मात्रा जाति मात्र से निर्देश की है, न कि उनकी कार्यक्षमता का विचार करके। नर को मादा से पाँच टंक न्यून मांस देना चाहिए, पक्षकलिका को और भी पाँच टंक न्यून देना चाहिए और वासा को इससे भी दो टंक न्यून। शुद्ध वेसर और चूलक्को को वासा के आहार से भी दो टंक न्यून देना चाहिए। सिचानों के आहार की मात्रा उनकी शक्ति के अनुसार निरूपण करनी चाहिए। तुरुमुती की मात्रा नौ टंक है। चेट, टोन और धूति जाति के श्येनों की मात्रा तुरुमुती से क्रमशः एक, दो और तीन टंक न्यून होनी चाहिए, परंतु इस मात्रा को उन्हें दोबार में खिलाना चाहिए। जैसे अवैतनिक आहार मात्र लेकर सेवा करनेवाले सेवक को यथायोग्य और समय पर आहार देना चाहिए, अन्यथा उसके साहस का क्षय होगा। उसी प्रकार इन श्येनों के आहार-काल में देर नहीं करनी चाहिए और न मात्रा में न्यूनता करनी चाहिए; अन्यथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। ये मात्रा उन श्येनों की है जो आखेट में नियुक्त किए जाते हों; परंतु जब वे ज्येष्ठ के प्रारंभ में अपने पक्षों को त्यागें, तब उनकी आहार मात्रा भिन्न होनी चाहिए। ग्रीष्म काल में जब दिशाएँ प्रचंड मार्तण्ड के ताप से सन्तप्त हो जाती हैं, शीर्णपर्ण हुए वृक्ष शरण नहीं दे सकते, चारों ओर आँधियाँ चलती हैं, नदियों का जल उबला हुआ सा बहता है, प्रतप्त रेणु के कारण भूमि दुस्पर्श हो जाती है, जानवर उत्साहहीन, ज्वर से पीड़ित के समान, छटपट

निर्वैर दिखाई देते हैं, पक्षी सकरुण तार स्वर से आक्रन्दन करने लगते हैं, तब वह दावाग्नि के समान ग्रीष्म, इन पक्षियों को, जो हिमालय की उन तलहटियों से परिचय रखते हैं, जहाँ बहते हुए जल से धुली हुई निर्मल चट्टानें हैं और सुगंधित समीर बहती है, दुस्सह होती है। उस समय इनके ताप को उपशमन करनेवाले उपचारों का प्रयोग करना चाहिए।

श्येनों को ऐसे प्रासाद के शिखर पर, जो अंदर से सुधा के समान धवल हो, यंत्रों द्वारा जल छिड़के जाने से शीतल हो, जहाँ कुछ दूर उपस्थित हुए मनुष्य पंखों से हवा कर रहे हों, अव्याकुल स्थान में रखना चाहिए; और वहाँ ऐसे जाल लगा देने चाहिएँ जिनमें होकर मक्खियाँ प्रवेश न कर सकें। अथवा उन्हें उद्यान में एक वेदी बनाकर, जहाँ अच्छे रक्षक नियुक्त किए हुए हों और जो कुल्य अर्थात् बनावटी चश्मे के जल से ठंडी की हुई हो, जहाँ पास पास खड़े हुए वृक्षों की अच्छी छाया हो, सूर्य्य की चंड किरणों का संचार न हो सकता हो, रखना चाहिए। अथवा उन्हें ऐसे रम्य भूगृह अर्थात् तहखाने में रखना चाहिए, जहाँ मच्छर न हों, जल छिड़कने से खस की सुगंध महकती हो और चारों ओर यवांकुर सुशोभित हो रहे हों। यह स्थान नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करानेवाला, नासिका को सुगंधि से तृप्त करनेवाला, हवादार और अच्छा लंबा चौड़ा होना चाहिए। बहुतों को एक ही जगह नहीं रखना चाहिए, किंतु दो दो तीन तीन पृथक् पृथक् रखने चाहिएँ। वहाँ उनके सामने ठंडा जल कई बार रखना चाहिए, कलविङ्क आदि पक्षियों का ताजा मांस और हलका तथा रुचिकर आहार, जो पच सके, देना चाहिए। उनको पुष्ट बनाने के लिये आहार की मात्रा शनैः शनैः बढ़ानी चाहिए। उनके स्नान के लिये जल से भरी हुई कूँडियाँ उनके सामने रखनी चाहिए। यदि वे खाए हुए मांस का वमन करने लगें तो उसकी औषधि भैंस के घृत में पिसी हुई मेथी है। यदि वे खाए हुए को न पचा सकें तो उन्हें कर्पूर के रस और मद्य से

भिगोया हुआ बहुत ताजा मांस देना चाहिए। अथवा अजीर्ण के उपशमन के लिये चित्रक का चूर्ण देना चाहिए; अथवा उसे भाँग के रस में मिलाकर देना चाहिए और ऊपर से गरम जल पिलाना चाहिए। ये बातें ऐसी युक्ति से करनी चाहिएँ कि जिससे उनमें उद्विग्नता न उत्पन्न हो। (युक्ति सर्वत्र साधिका) युक्ति सब कुछ सिद्ध करनेवाली होती है। यदि वे कृश होने लगें तो उनको बकरी के दूध या गाय के घी में मिलाकर मांस देना चाहिए या उनकी जठराग्नि बढ़ाने के लिये उन्हें लौंग या मनुष्य के मूत्र में भिगोया हुआ मांस देना चाहिए। इस प्रकार उनकी भूख और आहार की मात्रा बढ़ाकर निरंतर सुशीतल उपचारों से उन्हें पुष्ट करना चाहिए।

तदनंतर जब मेघ गरजने लगें, व्योम विद्युत् रूपी दीपक से प्रदीप्त होने लगे, मालती की महक सब मनुष्यों को प्रमुदित करने लगे, दादुर-ध्वनि चहुँ ओर सुनाई देने लगे, मयूर नृत्य करने लगें, कदम्ब के आमोद से सुगंधित हुई समीर सर्वत्र बहने लगे, नदियों का नीर गदला होने लगे, झिल्ली, (झींगुर नाम का एक प्रकार का कीड़ा) की झनकार उठने लगे, ऐसी वर्षा ऋतु में उनका ऐसा उपचार करें जिससे जैसे साँप अपनी केंचुली त्यागा करते हैं, वैसे वे पुष्ट रहते हुए अपने पुराने पंखों को त्यागकर नए पंख धारण करें। यदि पंखों के गिराने में देर करें तो कुछ का मत है कि उन्हें छिपकली (शरट) का मांस देना चाहिए। म्लेच्छ जाति के लोग गाय और भैंस के मांस में एक काली सी चीज देते हैं, परंतु वह दूषित होने से तथा परिणाम में पक्षियों को मंद करनेवाली होने से अच्छी नहीं। यदि कीड़े उनके परों को खाने लगे तो समान भाग में विडंग, चित्रक और कस्तूरी देनी चाहिए; अथवा स्थूल पक्षियों को मांस के साथ तीन दिन तक दो रत्ती सैंधव (सेंधा नमक) और कृश पक्षियों को केवल आधी रत्ती सैंधव देना चाहिए।

जो श्यैनिक-ज्ञान में निपुण हैं, उन्हें तो ये पक्षी बहुत आनन्द-दायक होते हैं; परंतु मनुष्यों के सुख का विघात करने के लिये दुर्भाग्य से इनमें भी रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं, अतः अब हम रोगों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं और उनकी चिकित्सा भी बतलाते हैं। इनको श्वास संबंधी चार प्रकार की व्याधियाँ होती हैं, जिनका एक ही नाम "शाखा" रख छोड़ा है। इनमें से पहली फुप्फुस पर अभिघात के कारण होती है, दूसरी कफ से, तीसरी पित्त से और चौथी दौर्बल्यजन्या अर्थात् सुखानेवाली बीमारी है। इस अंतिम व्याधि को शोषिता कहते हैं और यह दुःसाध्य मानी गई है। शाखा रोग से ग्रस्त श्येनों को अंधकारवाले अति निर्जन स्थान में रखना चाहिए और थोड़ा थोड़ा मांस और जल देना चाहिए। यदि चोट लग गई हो तो मांस के साथ बोल (Gum-myrrh) (बोलयुक्त मांसं) मिलाकर देना चाहिए। गात्र में व्यथा हो तो भी यही देना चाहिए। शरीर पर युक्तिपूर्वक हरिद्रा का लेप कर उस पर बासी जल छिड़कना चाहिए। कफ के विकार में पहले पिसी हुई मिर्चें सुँघनी की तरह सुँघानी चाहिएँ। तदनंतर मांस के साथ पिसी हुई सैंजने की छाल (शिग्रुत्वकं चूर्ण-युंग्मासं) देनी चाहिए और गरम जल पिलाना चाहिए। इस उपद्रव की शांति के लिये कस्तूरी भी देनी चाहिए। पित्त के विकार में कपूर, लौंग, खसखस और चंदन की बनाई हुई गुटिका आहार के पूर्व देनी चाहिए। तदनंतर थोड़ा बटेर का मांस खिलाना और पानी पिलाना चाहिए। चौथा विकार जो क्षीणता का है, वह अति दुःसाध्य है, तथापि उसकी चिकित्सा का विधान कहते हैं; क्योंकि यदि आयु शेष हो तो सुयोजित क्रिया फलवती होती है। इसमें मनुष्य का रुधिर मिलाकर चटक का मांस देना चाहिए, या गौरैये (पूजना) (Hensparrow) का बिलकुल ताजा मांस देना चाहिए, या सूअर का मांस थोड़ा थोड़ा यथा सामर्थ्य देना चाहिए, या गाय का घृत मिलाकर पक्षियों का मांस देना चाहिए। तदनंतर इच्छानुकूल

गरम पानी पिलाना चाहिए और समय समय पर कपूर मिलाया हुआ जल भी देना चाहिए। शाखा व्याधि के सब भेदों की एक औषधि "मियार्थी" है। उसे बड़े पक्षियों को जो श्याम नेत्र के हों, तीन रत्ती देना चाहिए और छोटों को डेढ़ रत्ती; और जो श्वेत नेत्र-वाले बड़े पक्षी हों, उन्हें दो रत्ती तथा छोटों को एक रत्ती। आहार के लिये बकरी का दूध और भाँग का रस मिलाकर मांस देना चाहिए। दाँतों से चबाए हुए जीरे से उनकी आँखें प्रतिदिन धोनी चाहिएँ। इलाज तीन सप्ताह तक बराबर जारी रखना चाहिए। इक्कीस दिन तक रोगी श्येनों को मागधी (पीपल), रजनी (हलदी) बोल, मियार्थी, स्वर्जा, पाटला का चूर्ण कपड़छान कर बकरी के दूध में घोलकर मांस के साथ देना चाहिए। पहले सात दिन रोगियों को सैंजने की जड़ की छाल का चूर्ण आक के दूध (अर्क क्षीर) में मिलाकर मांस के साथ देना चाहिए। यदि ताप, धूम अथवा घात से नेत्रों में फूला पड़ जाय तो चाङ्गेरी की जड़ को बारीक पीसकर इन की आँखों में भर देना चाहिए। इससे अट्ठारह दिन में यह व्याधि दूर हो जाती है। अथवा हल्दी, नीम के पत्ते, मिरच, अभया (हड़) पीपल, मोथा और विडंग को समान भाग में लेकर बकरी के मूत्र में गोलियाँ बनावे और उन्हें छाया में सुखावे। लाल आँखवाले श्येनों में इन गोलियों का प्रयोग शहद और बकरी के दूध के साथ करना चाहिए। यह वटिका, व्याधि को ऐसे दूर करती है कि मानों वे रुद्र की बनाई हुई हों। पान, भोजन अथवा पित्त के विकार से नेत्रों पर अथवा मुख पर सूजन आ जाया करती है। यदि वह पकने लगे तो दुःसाध्य हो जाती है। कफ की वृद्धि से भी वह व्याधि उत्पन्न हो जाया करती है। इस अवस्था में भी यह दुःसाध्य है। यदि व्याधि की उत्पत्ति पित्त के विकार से हो, तो मूलर की छाल का चूर्ण बनाकर तिलों के तेल में मिलाकर मांस सहित खिलाना चाहिए और इसका लेप भी करना चाहिए। यदि व्याधि की उत्पत्ति कफ से हो तो तप्त लोहे की शलाका को दो शिरा

(Muscles) अर्थात् मांस-पेशियों में चुभोना चाहिए। मुख-पाक में मनुष्य के मूत्र में मिलाया हुआ मांस खिलाना बहुत अच्छा है। उसके मुख को भी मनुष्य के मूत्र से धोना चाहिए।

तंग बाँध देने से, भय से अथवा बारंबार उड़ने से पैरों पर जो घाव सहित सूजन हो जाती है, उसे "गर्दभी" व्याधि कहते हैं। यदि कुछ दिनों तक उसकी चिकित्सा न की जाय, तो वही "चांदी" हो जाती है। इसमें पीपल और गूलर का मद मिलाकर पैरों पर बराबर सात दिन तक लगाना चाहिए; अथवा विट् (काला नमक?) का लेप करना चाहिए। पहले जोंकें लगावे, फिर हल्दी और सेंधा नमक मक्खन में मिलाकर पट्टी बाँध देने से "चांदी" तक आराम हो जाती है। एक पट्टी तीन दिन तक रखनी चाहिए, फिर दूसरी नई बनाकर लगावे। यों १२ दिन तक लेप जारी रखना चाहिए।

यदि आघात से श्येन का चेहरा फीका पड़ने लगे और वह दुर्बल होने लगे, तो उसे सावधानी के साथ निम्न लिखित औषध देना चाहिए। दोनों तरह की हलदी, तुत्थक (नीला थोथा) भार्गी, मदन तथा आक का दूध समान भाग में मिलाकर मांस के साथ तीन सप्ताह तक देना चाहिए। मात्रा स्थिति के अनुकूल रखनी चाहिए। बासी, सड़ा हुआ और भारी मांस खाने से श्येनों के उदर में अनेक प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाया करते हैं। उनके नाश के लिये दो भाग विड़ंग और एक भाग कस्तूरी मिलाकर युक्तिपूर्वक पिलाना चाहिए। यदि श्येन भय से स्नान न करे और उसके शरीर में लीख और जूँ पड़ गई हों, तो उनके नाश करने के लिये मागधी का चूर्ण बनाकर उस पर बिखेरना चाहिए या बील की जड़ की छाल पीसकर गोमूत्र के साथ लेप करना चाहिए। इससे निःसन्देह लीखें और जूएँ नष्ट हो जाती हैं।

इत्यगदैरुदितैरुपचारैः
संविहितैः सुहितैश्च यथावत्।

रोगविमुक्ततया परिपुष्टान्
वीक्ष्य ततो विनयेन्मृगयायै ॥

आशय—पूर्वोक्त औषधों और उपचारों से, जो बड़े हितकर और लाभदायक हैं, श्येन पुष्ट हो जाते हैं। फिर उनको मृगया संबंधी शिक्षा देनी चाहिए।

यहाँ पर "चिकित्साधिकार" नाम का पंचम परिच्छेद समाप्त होता है।

छठा परिच्छेद—श्लोक ६२

जब ये पूर्वोक्त पुष्टिकारक औषधों के सेवन से हृष्ट पुष्ट, नवीन पक्षों से सुशोभित, नीलेंद्र मणि के समान पक्षों के मूल भागों से विराजित, छाती पर मोतियों की लड़ियों के समान पक्ष-पंक्तियों से अभिरंजित, केंचुली त्यागे हुए सर्प के समान रेशमी डोरी को धारण किए हुए, गले में रत्न धारण किए हुए, पाँवों में घुँघरू के शब्द करते हुए दर्शनीय हों तथा पूर्वोक्त विधि से पालतू हो चुके हों, तब किसी अच्छे दिन उनको बुलावे। उनके पूर्व संस्कार का बोध कराने के लिये विशारद शिक्षक उन्हें रज्जु से नियंत्रित पक्षियों पर शिकार करना सिखावे। जो श्येन घोंसलों में से ही पकड़े हों, उन्हें पहले बाँधकर रखते हुए पालतू करना चाहिए। चूँकि वे शिकार में अनभ्यस्त होते हैं, अतः उन्हें विविध प्रकार से शिक्षा देकर उनकी पटुता और गति बढ़ानी चाहिए। श्येन अच्छे शिष्यों के समान शीघ्र ही शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं। अच्छी तरह सुशिक्षित किए हुए श्येन सब कुछ कर सकते हैं और उनके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं है।

श्येन-शिक्षा में निपुण पुरुष को चाहिए कि सुन्दर कुंडल धारण कर अच्छे वस्त्र पहन, अपने हाथों पर श्येनों को रखकर प्रतिदिन इधर उधर ले जाय। जब यह निश्चय हो जाय कि ये सब तरह से सुशिक्षित हो गए, तब शिकार के लिये निश्चित किए हुए किसी अच्छे दिन इनका विनोद देखने के लिये स्वयं राजा को

आना चाहिए। रात्रि के पहले पहर से ही शरत्कालीन बादलों से सूर्य्य के आच्छादित होने के पूर्व ही बहुत से सिपाहियों से चारों ओर दूर दूर तक लोगों का आना जाना रोक देना चाहिए और राजा को अपने साथ थोड़े से प्रसिद्ध वीर और योग्य पुरुषों को लेकर अच्छे घोड़े पर सवार होकर श्येन-वाहों को साथ में लिए समयानुसार सावधानी से पहाड़ों के किसी छाया दार स्थान के लिये रवाना होना चाहिए। या जब दिन के अस्त होने में एक प्रहर शेष रहे तब रवाना होना चाहिए। परन्तु उसे (अपनी राजधानी से) बहुत दूर नहीं जाना चाहिए। यदि पर्वत के निकट ही भूमि में आखेट करना हो तो पैदल सवारों को चारों ओर गुफाओं और नालों की ओर भेज देना चाहिए। वहाँ चुपके चुपके खड़े हुए उन्हें यह देखना चाहिए कि पक्षी उड़कर कहाँ बैठते हैं। सम भूमि में सवारों से, विषम में पैदलों से और पहाड़ियों की चोटियों पर कुत्तों से शिकार का पता लगाना चाहिए। मंडली के मध्य में मुख्य श्येनधर होना चाहिए और उसको दोनों ओर एक एक सैनिक। इक्कीस सवारों का एक मंडल बनाना चाहिए। मंडल में सब पुरुषों को अपना ध्यान नेता की ओर लगाए हुए दो बराबर भागों में विभक्त होकर उसके दोनों ओर रहना चाहिए; एक दूसरे में चार चार हाथ का फासला होना चाहिए। श्यैनिक को चाहिए कि वह श्येन को पूर्व से उत्तर-पूर्व दिशा में फेंके जिसमें मार्गित जंतु को देखने में उसे कोई बाधा न हो। जिसके पास श्येन बहुत हों और घुड़सवार भी बहुत हों, उसे पृथक् पृथक् कई मंडल बनाने चाहिएँ। राजा के मंडल के मध्य में जो पुरुष स्थित हो, उसे बिना राजा की आज्ञा के बाज को नहीं फेंकना चाहिए, चाहे पक्षी समीप ही क्यों न हो। इसे अनतिक्रमणीय मर्यादा समझना चाहिए। प्रत्येक मंडल में एक बहरी, एक कुही, तीन बाज और पाँच या छः वास होने चाहिएँ। उन्हें कैसे फेंकना चाहिए, यह पहले बता चुके हैं। एक मंडल से दूसरे मंडल में आधे कोस का फासला होना चाहिए, जिससे कुही और वासों के मिश्रण

का भय न हो। जंगली खरगोश आदि को डराने के लिये भाले और म्यान से निकाली हुई तलवारें धारण करनी चाहिएँ। मुख्य श्यैनिक के चारों ओर अवसरभिज्ञ विनीत सेवकों को बहुत से पक्षी काबू में किए हुए रखने चाहिएँ। पक्षियों को ढूँढ़ते समय सवार मंडल को मंद चाल चलनी चाहिए और पक्षी के निपात होने पर चाल को और भी अधिक मंद कर देना अच्छा है। घुड़सवारों के आगे जो पुरुष हाथ में बेंत लिए चलें, उन्हें बटेर आदि पक्षियों में "मुष्टि मोक्ष" से धूतिक और टोन श्येनों को फेंकना चाहिए। शीघ्रता के कारण उनकी गति अलक्ष्य होती है। जब वे जंतुओं पर (जिनका पता उनके पकड़े जाने के समय चीचीं कुची शब्दों से लगता है) तिरछे गिरते हैं, तब बड़ा ही आनंद आता है। यदि इस रस में चूर हुआ राजा इनसे अकेला ही क्रीड़ा करना चाहे तो उसे बेंतवाले प्रवीण पुरुषों को एकत्र करना चाहिए। इन लोगों को चारों ओर बेंत फटकारते हुए लावा आदि मंद गतिवाले जानवरों को उड़ाना चाहिए और उन्हें श्येनों के मार्ग का विषय बनाना चाहिए। जहाँ एक बार गिरकर पक्षी फिर न उठे, वहाँ उसे डोरी से बँधे हुए कुत्ते से ढुँढवाना चाहिए और फिर दूर कर देना चाहिए, अर्थात् दुबारा नहीं उड़ाना चाहिए। जब वह उठे तो "सावधानी से देखिये महाराज! वह उठ रहा है" इत्यादि मधुर आलापों से उसे राजा को बताना चाहिए।

अब यह दिखाते हैं कि मृगया से आठों रसों की प्राप्ति किस प्रकार होती है।

कुही का सारस और क्रौंच पर फेंका जाना "रौद्र" रस उत्पन्न करता है। उस समय उनका उड़ना ऐसा प्रतीत होता है कि मानों पंखवाले पर्वत उड़ रहे हैं। जब वे भूमि पर गिरते हैं; तब परस्पर नखों से आक्रमण करते हैं और भीषण चीत्कार करते हैं, फिर लौटकर अपनी चोंचों से प्रहार करते हुए रुद्र संग्राम मचाते हैं। जब बहुत दूर गए हुए कंक (लगलग) या वाल्यूह (जलकाक) या

पपीहे पर बहरी को फेंकते हैं, तब "अद्भुत" रस उत्पन्न होता है। जहाँ आकाश से सहसा संवेग संचार से भयभीत बने हुए छिन्नपक्ष पर्वत के सदृश पक्षी गिरे, वहाँ इससे अधिक और अद्भुत रस क्या होगा? जब चरख किसी हरिण के बच्चे को पकड़ लेता है और उसकी आँतों और अंगों को खाता है, तो अनिवार्य्य "बीभत्स" रस प्रकट करता है। टोनाड्रिकों के पक्ष के वेग से निरुद्यम हुए, कुंजों में छिपे हुए केचुक आदि पक्षी "भयानक" रस का दर्शन कराते हैं। श्येन से आक्रमण किए जाने पर बेचारा भरद्वाज पक्षी कभी ऊँचे और कभी नीचे स्वर से प्रलाप करता हुआ और अपने आपको बड़ी सावधानी से छिपाता हुआ बड़ा ही "हास्य" रस उत्पन्न करता है। ये पक्षी भयभीत होकर बहुत सावधानी से अपने आपको छिपाते हैं, परन्तु अपनी बोली से पहचान लिए जाते हैं। उनके शिकार के कौतुकार्थी को उनपर गुलेल फेंकनी चाहिए। दूर से ही अपने लक्ष्य पर गिरता हुआ और ठीक स्थान पर पकड़ता हुआ मारने में चतुर बाज "वीर" रस का दृश्य उत्पन्न करता है। आक्रमण तीन प्रकार का होता है—एक ऊपर से, दूसरा नीचे से और तीसरा बराबर से। जब बाज वजों को पकड़ते हैं, तब ये तीनों प्रकार के आक्रमण बहुत रसप्रद होते हैं। जब पक्षी ऊपर उड़ रहा हो, तब छाया के समान उसके नीचे छिपकर, फिर तीर के समान ऊपर जाने से श्येन का जो आक्रमण होता है, वह "ऊर्ध्वक्रांती" कहलाता है। जब श्येन सम क्षेत्र में मार्गित जंतु का, चाहे वह स्पष्ट रूप से दिखलाई देता हो चाहे न दिखलाई देता हो, पीछा करता है और उस पर दंड के समानं गिरता है, तब उस आक्रमण को "समाक्रांती" कहते हैं। जब भय से पक्षी नीचे उड़ रहा हो, तब वज्र के समान उसपर सहसा गिरना "नीचक्रांती" कहलाता है। यह बहुत दुष्कर है।

यों लक्ष्य अनुसरण करने से, अनेक प्रकार से आक्रमण करने से तथा अति विश्वस्त होने से पक्षियों में बाज श्रेष्ठ गिने गए

हैं। उछल उछलकर पकड़ते हुए और पटकते हुए ये मल्लों के समान मनुष्यों के मन को प्रचुर प्रमोद देते हैं। जब दो साथ उड़नेवाले पक्षियों में से एक पकड़ लिया जाता है, तब दूसरे का जो आर्द्र क्रंदन होता है, वह "करुणा" रस का उदाहरण है। अब शृंगार रस रह गया। वह भी नायक में असंकीर्ण रूप से उदाहृत है। देखिए, जब लक्ष्य की प्राप्ति हो गई, तो वह भोग रूप होता है। यदि प्राप्ति न हुई तो वह विरह ही है। इतना ही नहीं, रोमांच, हर्ष, अश्रु, स्तम्भ, गद्गदस्वर, चिंता, प्रलाप तथा वैवर्ण्य भावों का आविर्भाव भी जो स्वत्र शृंगार के लक्षण हैं, यथावकाश इसमें प्रदर्शित हो जाते हैं। सच तो यह है कि मृगया में स्त्री-संभोग से भी अधिक रस है, तभी तो वह भीरू मृगनयनी के पति को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यदि यह सच नहीं है तो बताओ, क्यों कंठलग्ना प्रिया को त्यागकर सनसनाती हुई रात में लोग मृगया के लिये घर से बाहर चल पड़ते हैं?

बास आदि श्येनों का जो पक्षियों पर फेंका जाना है, वह भी कभी आकर्षण और कभी अपकर्षण करते हुए साक्षात् आलिङ्गनयुक्त शृङ्गार रस को उदाहृत करता है। जब पकड़े जाने पर पक्षियों के पर आकाश से गिरते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों इन्द्र ने प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा की हो। वे शिकरे, जो शिकार के बहुत दूर होने पर भी फेंके जाते हैं और उसे पकड़कर ही छोड़ते हैं, धन्यवाद के योग्य हैं। शिकरों (श्येनों) की शीघ्रता और प्रतिसन्धान का, जब कि वे दो दो तीन तीन तीतर आदि पक्षियों को एक दम पकड़ते हैं, कौन वर्णन कर सकता है? तालाबों और झीलों में मुर्गाबियों (जालपाद) पर भी कुही आदि श्येनों को जिस भाँति पहले बता आए हैं, फेंकना चाहिए। जिनको पहले से अभ्यास हो, वे ही कुही आदि को फेंकें। जिन श्येन पक्षियों का पारस्परिक प्रेम हो, उन्हें साथ साथ फेंकना चाहिए। इससे ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है कि उसके वर्णन में कवि भी विमूढ़ हो जाते हैं। पक्षियों को जब

से बाहर निकालने के लिये दुन्दुभी बजानी चाहिए। जिससे वन स्वस्थ और अस्खलित पक्षियों को श्येन आसानी से पकड़ ले।

ये नाट्यबन्धकुशलैर्विततप्रपञ्चैः
सन्दर्शिताः किल रसाः समयं विभज्य।
एकत्र ते समकमेव रसा अनूना
दृश्यन्त एव कृतिभिर्मृगया विहारे॥

आशय—जिन रसों को चतुर रूपक रचयिताओं ने भिन्न भिन्न समय में विस्तृत प्रपंच करके प्रदर्शित किया है, वे सबके सब एक ही स्थल और एक ही समय में मृगया के विहार में अनुभूत किए जा सकते हैं।

यहाँ पर "श्येनपातेति कर्तव्यता" नाम का छठा परिच्छेद समाप्त होता है।

सप्तम परिच्छेद—श्लोक २६

इस प्रकार सब ओर विहार करके थके हुए राजा को छायावाले स्थान में कमल की सुगंधि से अति स्निग्ध समीर में पंखा किए जाते हुए विश्राम करना चाहिए। वहाँ पर सब लोगों को और जिन्होंने मंडल बनाया था, उनको एकत्र होना चाहिए। उनमें से प्रधान पुरुषों को चाहिए कि जो जन्तु नायक ने आखेट में उपार्जन किये हों, उन्हें उसके सामने रक्खे और अपने स्वामी के विनोद के लिये श्येन आदि की चेष्टा (विक्रम, चरित्र आदि) का पूरा वर्णन करें। स्वामी को भी चाहिए कि उन शिकारियों का उत्साह बढ़ाने के लिये उनका उचित सत्कारादि करे। राजा श्येनों और घोड़ों को यथेच्छ खिला पिलाकर छाया में बँधवाकर आप एकांत स्थान में मालिश (गात्रसंवाहन) करावे, और विहार करते हुए हंसों के मधुर मनोहर स्वर सुनता जाय। तदनन्तर कुछ समय हृदयहारी तन्त्री गीतादि के सुनने में व्यतीत कर, स्नान कर अंगराग लगा, उज्ज्वल वस्त्र पहन, पुष्पों की माला धारण कर आह्निक

कर्म (देवार्चन) करे। फिर हंस के समान श्वेत चीनी का शर्बत पीकर विश्रांत हो भूख लगने पर प्रसन्नचित्त हो वैद्यों से अनुमोदित भोजन, जिसमें चावल और मांस हो, करना चाहिए। उस समय उस पर परों का पंखा होता रहे और जड़ी बूटियों से विष की बाधा मिटानेवाले पुरुष उसके पास रहें। राजा अपने साथियों सहित भोजन करे। तदनन्तर पान खाकर छाया ढलने पर उसे अपने निवास स्थान को जाना चाहिए और मार्ग में शिकार संबंधी भिन्न भिन्न बातें जैसे कि कुही ने क्रौंच पर कैसे आक्रमण किया, अतिगर्वित लावा ने धूती का कैसे विरोध किया, वह एक पत्ते के समान कैसे पटका गया और बाज से मारा गया, शिकरे ने तीतर को कैसे पकड़ा, अमुक श्यैनिक का शौक कैसा उल्लास और स्फूर्तियुक्त था, अमुक मूर्ख ने पक्षी को कैसी बुरी तरह फेंका कि वह उड़ ही नहीं सका, अमुक का श्येन मार्गित जंतु पर आक्रमण न कर सका, आदि की चर्चा करनी चाहिए।

यहाँ तक इस परिच्छेद के १४ श्लोकों का सार है। इसके आगे २२ वें श्लोक तक हस्तलिखित प्रतियाँ खंडित हैं।

नाभाग *, अम्बरीष †, महात्मा राम, ऐल ‡, पृथु ×, वीरसेन +,

---

* नाभाग श्रुत का पुत्र तथा भगीरथ का पौत्र था।

भागीरथसुतो राजा श्रुत इत्यभिविश्रुतः।
नाभागस्तु श्रुतस्यासीत् पुत्रः परमधार्मिकः॥
अम्बरीषस्तु नाभागिः सिन्धुद्वीप पिताऽभवत्।

हरिवंश, १५ वाँ अध्याय।

† अम्बरीष नाभाग का पुत्र था।

‡ ऐल इला (इल, इड्,) का पुत्र था। वह चंद्रवंश में "पुरूरवा" नाम से विख्यात है।

× पृथु त्रेतायुग में सूर्यवंश का पाँचवाँ वंशधर था। उसने प्रजा का अतिशय रंजन किया और संसार में सब से प्रथम "राजा" की उपाधि पाई।

+ वीरसेन नल राजा का पिता था।

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः॥

महाभारत ७। ५२। ५४

हर्य्यश्व*, भरत और कई राजेन्द्र शरद् ऋतु के कृष्ण पक्ष में मांस नहीं खाते थे, जिससे वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। वे कल्प पर्य्यन्त ब्रह्मलोक में अप्सराओं से सेवित विराजते रहेंगे। मृगया शरद् ऋतु में भी शुक्ल पक्ष में निषिद्ध नहीं है। अन्य ऋतुओं में उसका कोई निषेध नहीं है। मृग तमोगुण की सृष्टि हैं, अर्थात् वे तमोगुण से उत्पन्न हैं; अतः महात्मा अगस्त्य ने प्रजा के हित की कामना ही से जंगली जानवरों को प्रोक्षण कर देवताओं के लिये उपकल्पित किया था।

युक्त्या शरदि सेवेत यथाच्छन्दं हिमागमे।
वसन्ते तु प्रकर्षेण बलरोग्यमभीप्सुभिः॥

आशय—बल और आरोग्य की इच्छावाले पुरुष को मृगया का शरद ऋतु में युक्ति से, हेमंत में यथेच्छा और वसन्त में खूब सेवन करना चाहिए।

धनुर्वेदाभ्यासः समविधिरनूनश्च लघुता
गतेर्गात्रोत्साहस्तुरगविहृतौ चातिपटुता।
तथा नीतेर्योगे रसपरिचयश्चाप्यनुपमो
मृगव्यायां क्षात्रो गुणसमुदयोऽभ्यस्यत इव॥

आशय—वास्तव में मृगया में क्षत्रिय के गुणों के समुदाय अर्थात्—धनुर्वेदाभ्यास, समानों के साथ का बर्ताव, गति की लघुता, शरीर का उत्साह, घोड़ों के चलाने में अति पटुता, नीति के योग (सिद्धि) में अनुपम रस के परिचय का अभ्यास सा हो जाता है।

यहाँ "मृगयानन्तरेति कर्त्तव्यता" नाम का सप्तम एवं अन्तिम परिच्छेद समाप्त होता है।

परिशिष्ट

सौभरि

सौभरि नाम के एक महर्षि जल में तपस्या करते थे। उन्होंने संमद नामक एक बहुत कुटुम्बवाले मीनाधिपति को देखा। उसके चारों ओर उसके पुत्र, पौत्र तथा दौहित्रों को खेलते हुए देखकर ज्ञानी सौभरि अपनी समाधि को त्याग कहने लगे कि धन्य है जो अपनी संतानों से रमण करता हुआ हमारे चित्त को आकर्षित करता है। क्या अच्छा हो कि हम भी पुत्रादिकों के साथ ललित सुख भोगें। इस प्रकार संतान उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए वे मांधाता महाराज के पास गए और उनसे कहा—

निवेष्टुकामोऽस्मि नरेंद्र कन्यां

प्रयच्छ मे मा प्रणयं विभांक्षीः।

ह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः

ककुत्स्थवंशे विमुखाः प्रयांतिः॥

विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २, श्लोक ७७

आशय—हे राजन्! मैं विवाह करने की इच्छा करता हूँ, अतः आप मुझे अपनी एक कन्या दीजिए और मेरा प्रेम भंग मत कीजिए। देखिए, ककुत्स्थ वंश में कार्यवश प्राप्त हुए अर्थी विमुख होकर कभी नहीं जाते।

मांधाता के, शतविंदु की पुत्री विंदुमती से, ३ पुत्र और ५० कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। उसने कहा कि हमारे कुल में यह रीति है कि जिस कुलीन वर को कन्या अपने आप वर ले, उसीके साथ उसका विवाह हो जाता है। तदनन्तर ऋषि अतीव कमनीय रूप धारण कर कन्याओं के अन्तःपुर में गए और उनको देखते ही प्रत्येक कन्या सानुराग उनको वरने लगी। राजा ने उन सब का ऋषि से

विवाह कर दिया। ऋषि ने अपने आश्रम में जाकर एक बहुत अच्छा महल बनवाया और वहाँ वे सब आनन्दपूर्वक रहने लगे। कालान्तर में उनके ५० पुत्र उत्पन्न हुए। परंतु फिर संयम सीमा का उल्लंघन होनेसे उनकी अतिशय ममता हो गई और वे पौत्रादिकों की अभिलाषा करने लगे। फिर उनको अपने आसक्त हो जाने का ध्यान आया और वे कहने लगे—

निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां
संगादशेषाः प्रभवंति दोषाः।
आरूढ़योगो विनिपात्यतेध-
स्संगेन योगी किमुताल्पबुद्धिः॥

आशय—निस्संगता यतियों का मुक्तिपद है, संग से सब दोष उत्पन्न होते हैं, योगारूढ़ पुरुष भी जब संग से नीचे गिराया जा सकता है, तब अल्प बुद्धि का तो कहना ही क्या। तदनन्तर उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम का सेवन किया।

पांडु-किंदिम संवाद

किंदिम नाम के एक ऋषि थे। वे स्वयं मृग का रूप धारण कर मृगरूप धारिणी स्त्री के साथ संगम कर रहे थे। उस समय महाराज पाण्डु भी उस जंगल में मृगया के लिये गए थे और उन्होंने मैथुनधर्मस्थ मृगयुग्म को देखा और बाण मारे। तदनंतर परस्पर जो वार्तालाप हुआ, उसमें किंदिम ने कहा—

नाहं घ्नंतं मृगान् राजन्! विगर्हे चात्मकारणात्।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्य नृशंस्यतः॥
सर्व्वभूतहिते काले सर्व्वभूतेप्सिते तथा।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरंतं मैथुनं वने॥

आशय—मैं अपनी इस दुर्घटना से आपके शिकार करने की निंदा कदापि नहीं करता, परंतु यह देखते हुए भी कि मैं मैथुन कर रहा था, आपने मुझे मार दिया। सब प्राणियों के हित के काल में और

जिसे सब चाहते हों, कौन विद्वान् मैथुन करते हुए मृग को मारेगा? तदनंतर उसने राजा को शाप दिया कि तुम जब काम विवश हो अपनी प्रिया से भोग करोगे, तब मृत्यु को प्राप्त होगे।

यह कथा महाभारत के आदि पर्व के १२३ वें अध्याय में लिखी हुई है।

रुचि की कथा

रुचि नाम के ऋषि को विरक्त एवं विमुक्तसङ्ग देखकर पितर बोले—

> वत्स कस्मात् त्वया पुण्यो न कृतो दारसंग्रहः।
> स्वर्गापवर्गहेतुत्वाद्बन्धस्तेनानिशं विना॥
> गृही समस्त देवानां पितृणाञ्च तथार्हणाम्।
> ऋषीणामतिथीनाञ्च कुर्वन् लोकानुपाश्नुते॥
> स्वाहोच्चारणतो देवान् स्वधोच्चारणतः पितॄन्।
> विभजत्यन्नदानेन भूताद्यानतिथीनपि॥
> स त्वं दैवादृणाद्बन्धं बन्धमस्मदृणादपि।
> आवाप्नोषि मनुष्यर्षि भूतेभ्यश्च दिने दिने॥
> अनुत्पाद्य सुतान् देवानसन्तर्प्य पितॄंस्तथा।
> भूतांश्च कथं मौढ्यात् सुगतिं गन्तुमिच्छसि॥
>
> मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ८२

आशय—हे प्यारे! तुमने विवाह क्यों नहीं किया? वह स्वर्ग, पुण्य और मोक्ष का साधन है। बिना उसके बन्धन है। गृहस्थ सब देवों का, पितरों का, ऋषि अतिथि आदि का सत्कार करता हुआ स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। वह यज्ञ-द्वारा देवताओं को, श्राद्धतर्पण-द्वारा पितरों को, अन्नदान से भूतादि तथा अतिथियों को तृप्त करता है। अतः तुम न देव ऋण से, न पितृऋण से न भूत ऋण से मुक्त हुए हो। फिर इन ऋणों से उऋण होने का साधन, जो सन्तानोत्पत्ति है, उसे किए बिना तुम्हें कैसे सुगति मिलेगी।

रुचि ने कहा कि विवाह से तो बहुत दुःख होता है, पाप होता है और अधोगति होती है; इसलिये मैंने वह नहीं किया। और मैं आत्मसंयम कर रहा हूँ; आत्मा को सद्वासना के जल से धोना ही चाहिए।

इस पर पितरों ने गार्हस्थ्यधर्म का महत्त्व विशद रूप से समझाया और उससे भी स्वर्गप्राप्ति का होना बतलाया। परन्तु यह सब सुनकर भी रुचि ने कहा कि मेरी आयु इस समय अधिक हो गई है, मुझे कन्या कौन देगा? इस आग्रह से पितर अप्रसन्न हुए और यह कहते हुए कि तू हमारा कहना नहीं मानता, अंतर्धान हो गए। इस घटना से रुचि बहुत उद्विग्न हुए और विवाह के लिये कन्या न मिल सकने से ब्रह्मा का आराधन किया। ब्रह्मा ने भी कहा कि तुम पितरों का पूजन करो, वे संतुष्ट होकर तुम्हारी इच्छा की पूर्ति करेंगे। तदनंतर रुचि ने पितरों की विस्तृत स्तुति की और उनकी कृपा से उनका प्रम्लोचा नाम की अप्सरा की कन्या मालिनी से, जो वरुण के पुत्र पुष्कर से उत्पन्न हुई थी, विवाह हुआ और उससे रौच्य नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोध संबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ४—संवत् १९८०

संपादक—

राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

Printed by G. K. Gurjar at Sri Lakshmi Narayan Press,
Benares City.

लेख-सूची

पृष्ठांक

१—सोमेश्वर देव और कीर्ति-कौमुदी–[ले० पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] १–४३

२—अर्वाचीन अपढ़ धर्म्म-प्रचारक–[ले० राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, अमरावती] ४५–५७

३—श्रीमती मैनाबाई–[ले० मुंशी देवीप्रसाद जी, जोधपुर] ५६–७३

४—मंत्री मंडन और उसके ग्रंथ–[ले० पंडित शोभालाल शास्त्री, उदयपुर] ७५–१०४

५—पाणिनी के समय में एक धार्मिक संप्रदाय [ले० पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी] ... १०५–१०८

६—शिंग भूपाल का समय–[ले० पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी] १०६–११२

७—मदमाष्टक–[ले० पंडित भगीरथप्रसाद दीक्षित, काशी]... ... ... ११३–११६

८—महाकवि भास और उसका नाटक-चक्र (अपूर्ण) [ले० पंडित शिवदत्त शर्म्मा अजमेर] ... १२१–१६१

६—श्रीमती अहिल्याबाई–[ले० मुंशी देवीप्रसाद जी, जोधपुर] १६३–२१३

१०—जगडू चरित–[ले० पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर] २१५–२२७

११—उर्दू का प्रथम कवि–[ले० बाबू व्रजरत्नदास, काशी] २२६–२४०

१२—महाकवि भास और उसका नाटक-चक्र–[ले० पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर] २४१–२७७

पृष्ठांक

१३—गो० तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार [ले० रायकृष्ण जी, काशी] २७९–३२६
१४—रामावत संप्रदाय–[ले० बाबू श्यामसुंदर दास बी० ए०, काशी] ३२७–३४२
१५—प्रभास पाटन के यादव भीम के सं० १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा–[ले० पंडित रामकर्ण, जोधपुर] ३४३–३६०
१६—संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान [लेखक—श्रीयुत् धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, इलाहाबाद] ३६१–३७७
१७—हिन्दी की पूर्ववर्त्ती आर्य्य भाषाएँ [लेखक—श्रीयुत् धीरेन्द्र वर्मा एम० ए० इलाहाबाद] ३७८–३९०
१८—प्रभास पाटन के यादव भीम के १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा [नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ४, अंक ३, पृ० ३६० से आगे] ३९१–४०२
१९—हिन्दी श्रीहर्ष–[लेखक—बा० जगन्मोहन वर्मा] ४०३–४१२
२०—कविवर श्रीगदाधर जी [लेखक—पंडित रामनारायण मिश्र बी० एस-सी०] ४१३–४२०
२१—भूषण और मतिराम [लेखक—पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित] ४२१–४४१
२२—श्यैनिक शास्त्र [लेखक–पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर] ४४२–४८८

कार्य-विवरण

साधारण अधिवेशन

शनिवार १ मार्गशीर्ष १९८० (१७ नवम्बर १९२३)

समय—सन्ध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका।

शनिवार २९ मार्गशीर्ष १९८० (१५ दिसम्बर १९२३)

समय—सन्ध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका।

शनिवार २७ माघ १९८० (९ फरवरी १९२४)

समय—सन्ध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका।

शनिवार ११ फाल्गुन १९८० (२३ फरवरी १९२४)

समय—सन्ध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) गत अधिवेशन (१० कार्तिक १९८०) का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) प्रबन्ध समिति के २७ आश्विन, १० कार्तिक और १२ कार्तिक १९८० के कार्य-विवरण सूचनार्थ पढ़े गए।

(३) सभासद होने के लिये निम्न लिखित सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किए गए;—

(१) पंडित हीरामणि शर्म्मा, अहलमद, सेटलमेंट आफ़िस, टेहरी, गढ़वाल ३)

(२) बाबू कालिकाप्रसाद, सेक्रेटरी, गयाप्रसाद ट्रस्ट कमेटी, कानपुर ३)

(३) श्रीयुत ए० पी० शर्म्मा, डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स, बीकानेर ३)

(४) बाबू राजराजेश्वरप्रसाद सिंह, नवा कोठी, मुँगेर ५)

(५) पंडित शिवदुलारे मिश्र वकील, रायबरेली ३)

(६) पंडित बाबूराम बित्थरिया, सिरसागंज, मैनपुरी ३)

(७) बाबू शिवप्रसाद गुप्त, भैरव बावली, काशी ३)

(८) बाबू रघुनाथप्रसाद, बेनीलाल का कटरा, काशी ३)

(९) बाबू मोहनसिंह मेहता, उदयपुर ३)

(१०) पंडित बुद्धिसागर पाठक, वकील, बहराइच ३)

(११) पंडित ब्रजविलास शर्म्मा, सिगहा, पो० मिर्जापुर, शाहजहाँपुर ३)

(१२) बाबू प्रभुदयाल वर्म्मा मैढ़, मंत्री आर्य समाज तोशाम. हिसार ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जायँ।

(४) ब्यावर के बाबू तोतालाल जी का २८ जनवरी का पोस्ट कार्ड उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने इस सभा के स्थायी सभासद राय साहब कुँवर रामस्वरूप जी के देहान्त की सूचना दी थी।

सभा ने इस पर शोक प्रकट किया।

(५) निम्न लिखित पुस्तकें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हुईं:—

संयुक्त प्रदेश की गवर्न्मेन्ट

District Census Statistics of the United Provinces of Agra and Oudh 1921 for Pratpagarh,

" " Bijnore,

" " Fyzabad,

" " Gorakhpore.
" " Sultanpur.
" " Barabanki.
" " Basti.
" " Gonda.

वाटसन म्यूज़ियम आफ एन्टिक्विटीज़, राजकोट सन् १९२१—२३ की रिपोर्ट

बाबू शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, नगवा, काशी।

रोशनाई बनाने की पुस्तक, साबुन बनाने की पुस्तक, तेल की पुस्तक, रंग की पुस्तक, सरल रसायन, वार्निश और पेन्ट, हिन्दी केमिस्ट्री, आरोग्य विद्या, तन्तुकला, तैरने की कला, हिन्दू धर्म्म की बाल पोथी।

पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित, काशी—गाज़ीमियाँ।

बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग—विनयपत्रिका।

पंडित केदारनाथ पाठक, राजा दरवाज़ा, काशी—श्यामा स्वप्न।

बाबू सम्मनलाल बी० ए०, एल एल बी०, वकील हाईकोर्ट, फैजाबाद—मानस पीयूष।

पंडित सूर्य्यदत्त शर्म्मा, पचराँव, पो० चुनार, मिर्ज़ापुर—स्त्री शिक्षादर्श, संध्याग्निहोत्र विधि।

पंडित शिवकुमार शास्त्री, जगन्नाथपुर, गोरखपुर-अमर होने का उपाय।

पंडित मुनिमोहन देव बन्द्योपाध्याय एम० ए०, सी० टी०, एल एल बी०, हेड मास्टर, विद्या मन्दिर हाई स्कूल प्रयाग-सत्य प्रतिष्ठा।

पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, हेड मास्टर, हिन्दू स्कूल, काशी-बालोपदेश।

सेठ द्वारकाप्रसाद जालौन-घर कट सूम।

ठाकुर शम्भूदयाल मिश्र बी० एस सी, एम बी०, बी० एस०, प्रयाग-जीवन विज्ञान।

बाबू रामनारायण सिंह जायसवाल, वीरपुर गाजीपुर—बाह्य वस्तु मीमांसा, भाग १-२, तरुण तापसी उपन्यास, ध्रुव तपस्या नाटक।

बाबू गोपालस्वरूप भार्गव एम एस० सी०, कटरा, इलाहाबाद—मनोरंजक रसायन।

बाबू हृदयरंजन घोष एम० डी०, होमियोपैथिक कालेज, मुरादपुर—सरल होमियोपैथिक चिकित्सा।

बाबू बाँकेबिहारी लाल, निदाल महाल रोड, अहियागंज, लखनऊ—प्रेमरस वाटिका, बांके पिया की नम्र प्रार्थना, भगवत सेवा विधि, श्री राधारमण विहार माला।

श्रीयुत विद्याभूषण, "विभु" कला कार्यालय, प्रयाग—पद्य पयोनिधि, सुहराब और रुस्तम।

बाबू महेशप्रसाद बी० ए०, असिस्टेंट मास्टर, छपरा जिला स्कूल—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भारत भाग्योदय, शोक संगीत, भारतेश्वर का सन्देश।

बाबू नन्दलाल खन्ना, ब्रह्मनाल, काशी—स्त्री चिकित्सा, श्री जानकीजन्म-विलास।

पंडित रघुनन्दनप्रसाद शुक्ल, बुला नाला, काशी—स्वतंत्रता पर वीर बलिदान।

आर्य साहित्य मंडल, अजमेर—खतरे का घंटा।

श्री जैन श्वेताम्बर आनन्दवर्धक मंडल, उज्जैन—धर्मगीतांजलि।

बाबू रणबहादुर सिंह, गंगाधर प्रेस, रायबरेली—रामायण किष्किन्धा काण्ड।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी बी० ए०, ब्रह्मनाल, काशी—ब्रज माधुरी सार

बाबू मोहनलाल खन्ना, नीलकंठ, काशी—सिद्धान्त शिरोमणि गोलाध्याय, विक्रमोर्वशीय नाटकम्; वसन्ततिलकम्, संसार दर्पण, पुलिस वृत्तान्त माला, समयादर्श रामायण, शिव प्रादुर्भावोत्सव,

सरोजनी नाटक, चन्द्रमुखी प्रथम भाग, देवीसिंह तीसरा भाग, हनुमान नाटक, गीतार्णव, सुनहला विष।

श्रीयुत बाबूनन्दन सिंह, मौजा हाटे, परगना पचोतर, जि० गाजीपुर—सुन्दरी सुपन्थ।

बाबू छेदीलाल जायसवाल, विन्ध्याचल—सवैया प्रभाती।

गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी, अहमदाबाद—महिला मित्र पुस्तक २ (गुजराती), गुजराती साहित्य नां मार्गसूचक स्तंभो (गुजराती), नरसी महेता नू आख्यान (गुजराती), गृह जीवन नी सुंदरता (गुजराती)

बाबू शारदाप्रसाद गुप्त, अहरौरा, मिर्जापुर—

टाइम्स आफ इण्डिया की सन् १९२३ की फाइल।

संचालक, गंगा-पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ—बहुता फूल, पत्रांजलि, भारत की विदुषी नारियाँ, सम्राट् चन्द्रगुप्त, द्विजेन्द्रलाल राय, उद्यान, नन्दन निकुंज, इंगलैन्ड का इतिहास, देवी द्रौपदी।

एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल, कलकत्ता—Journal and Proceedings of the Society, New Series, Vol XVIII Nos. 7 to 10.

स्मिथसोनियन इन्स्टिट्यूट, वाशिंगटन, अमेरिका—Bureau of American Ethnology Bulletin 40, Part 2 (Handbook of American Indian Languages), Annual Report of the Smithsonian Institution for 1921; Smithsonian Miscellaneous Collections, Volume 76, Nos 2–6. Bureau of American Ethnology Bulletin 79 (Blood Revenge, War and Victory Feasts among the Jibaro Indians of Eastern Equador.

Indian Antiquary for November 1923, December 1923, Jaunary 1924 and February 1924.

भारत की गवर्मेन्ट—The Fauna of British India

खरीदी गई—सती चित्रावली, भारतीय सम्पत्ति शास्त्र, वीर केसरी शिवा जी, प्रेम पचीसी, रागिणी, भारतीय विद्रोह, छाया, विवाह विज्ञान, गुप्त चिट्ठी, स्त्री की चिट्ठी, परीक्षा गुरु, कर्म फल, विषाक्त प्रेम, वन्दे मातरम्, सुहासिनी, धूप छाँह, तीन फूल, नूरजहाँ केथोराइन, तुलसीदास नाटक, कृषक दुर्दशा नाटक, छद्मयोगिनी, आकृति निदान, देश की बात, गान्धी गौरव, शर्मिष्ठा, पद्यप्रदीप, कवि कीर्तन, कर्म योग, भोज प्रबन्ध, व्यावहारिक पत्र बोध, अमृत में विष, मधुर मिलन, नरेन्द्र मोहिनी, सिपाही विद्रोह, पत्र सम्पादन कला, मधुप, हमारे शरीर की रचना भाग १-२, कविता कौमुदी भाग १-२, मरहठों का उत्कर्ष, रावण राज्य, रामकृष्ण की गल्पें, रेशमी रूमाल, सम्राट् चन्द्रगुप्त, संसार संकट, सरला, सत्य नारायण, सुप्रभात, टालस्टाय की कहानियाँ, टालिस्टाय के सिद्धान्त, देवयानी, प्रेत अर्पण, फ्रांस की राज्यक्रान्ति का इतिहास, भारत भक्त एण्डूज, भारत साम्राज्य, भारतीय वीरता, मन की मौज, महिला महत्व, सुयेन चांग, साहित्य विहार, पद्य संग्रह, अनोखी लीला, अभागा, अहंकार, महाभारतीय सुनीति कथा, महात्मा अरविन्द घोष, व्यापार प्रवेशिका, घर और बाहर, वीर वैरागी, पाइअ सद्द महार्णव प्रथम खंड, राम चन्द्रिका, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, साहित्य सिद्धान्त, कृष्ण लीला, सुनहरी खंजर।

(६) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबन्ध समिति

शनिवार १० कार्तिक १९८० (२७ अक्टूबर १९२३)

समय संध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) बाबू श्यामसुन्दर दास के प्रस्ताव पर बा० बटुकप्रसाद खत्री सभापति चुने गए।

(२) गत अधिवेशन (१७ भाद्रपद १९८०) का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(३) राय बहादुर बाबू हीरालाल का २८ जुलाई १९२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने संयुक्त प्रदेश के लिये हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज का निरीक्षक होना स्वीकार किया था।

निश्चय हुआ कि इसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाय।

(४) मिश्रबन्धु कार्यालय, जबलपुर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने प्रार्थना की थी कि सभा बुद्धचरित के दो चित्रों की दो दो हजार प्रतियाँ छपवाकर उन्हें उचित मूल्य पर देने की कृपा करे।

निश्चय हुआ कि सभा की पुस्तकों में प्रकाशित चित्रों और उनके ब्लाकों के बनवाने में जो कुछ व्यय हुआ हो, उसका दशांश तथा चित्रों की छपाई और कागज का पूरा व्यय देने पर मंत्री ऐसे चित्रों को छपवा दे सकते हैं। परंतु ब्लाक प्रबंध समिति की विशेष अनुमति के बिना किसी को मँगनी न दिए जायँ।

(५) ज्ञानमंडल कार्यालय का २६-५-८० का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें प्रार्थना थी कि उस संस्था के सम्बन्ध में सभा ने अभी तक जाकड़ पुस्तकें देने की जो रिआयत कर रक्खी थी, उसे वह कृपाकर कायम रक्खे।

निश्चय हुआ कि जब सभा की पुस्तकें सब जगह नगद मूल्य पर जाती हैं, तब केवल किसी एक संस्था से उसके विपरीत व्यवहार रखना समिति उचित नहीं समझती।

(६) मारवाड़ी अग्रवाल कार्यालय, कलकत्ता का २-९-२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के चित्र का छोटा ब्लाक मँगनी माँगा था।

निश्चय हुआ कि इस सम्बन्ध में आज के निश्चय नं० ४ के अनुसार कार्य किया जाय।

(७) संयुक्त प्रदेश के डाइरेक्टर का ८ सितम्बर का पत्र नं० ८४ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने गवर्नमेंन्ट की कुछ पुस्तकों के छापने के सम्बन्ध में टेंडर माँगे थे।

निश्चय हुआ कि सभा इन पुस्तकों में से किसी के छापने का ठेका नहीं ले सकती।

(८) हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने नए नियमों के अनुसार सभा से वार्षिक शुल्क का २) रु० माँगा था।

विशेष विचार के अनंतर निश्चय हुआ कि सम्मेलन से जो इस सभा का संबंध है, वह तोड़ दिया जाय और यह सभा सम्मेलन की सम्बद्ध सभाओं में न गिनी जाय।

(९) ज्ञानमंडल, काशी का ११-९-८० का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें यह लिखा था कि अशोक की धर्मलिपियों के २३ चित्रों को ज्ञानमंडल इस शर्त पर लेना चाहता है कि उन चित्रों के जो ब्लाक बनेंगे, वे सभा को एक बार छापने के लिये मँगनी दिए जायँगे। दूसरी बार उनकी आवश्यकता होने पर मंडल ग्राहक दर से व्यय लेकर उन चित्रों को छाप देगा।

निश्चय हुआ कि यह शर्त स्वीकार की जाय और उनको लिखा जाय कि इन चित्रों से बने हुए ब्लाकों को जब कभी वे छापें तो प्रत्येक चित्र पर यह भी अवश्य छापें कि वे काशी नागरीप्रचारिणी सभा की कृपा से प्राप्त हैं।

(१०) बनारस म्युनिसिपल बोर्ड का ९१ अक्तूबर का पत्र नं० ३९२९ उपस्थित किया गया, जिसमें लिखा था कि म्युनिसिपल बोर्ड ने सभा के हाथ उसके भवन के पीछे की जमीन ४०००) रु० पर बेचना स्वीकार किया है और इसके लिये कमिश्नर की अनुमति माँगी गई है।

निश्चय हुआ कि यह धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जाय और मंत्री को अधिकार दिया जाता है कि जिस समय इस जमीन का

बैनामा लिखवाकर रुपया देने की आवश्यकता हो, उस समय यदि सभा में रुपया तैयार न हो तो चार हजार रुपए तक उधार लेकर इस कार्य को सम्पन्न करें।

(११) मंत्री के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि सभा के पुस्तकालय के लिये छः नई आलमारियाँ बनवा ली जायँ।

(१२) नागरीप्रचारिणी सभा बहराइच का २७–६–२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें प्रार्थना थी कि उस सभा का संबंध इस सभा से स्थापित किया जाय।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(१३) राय बहादुर बाबू हीरालाल सम्पादित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की सन् १९१७—१९ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार की जाय और गवर्न्मेंट के पास भेज दी जाय। राय बहादुर बाबू हीरालाल को यह कार्य सम्पन्न कर देने के लिये विशेष धन्यवाद दिया जाय।

(१४) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का २६–१०–२३ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मैं अपनी पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ, सरस्वती के १७ वर्षों के लेखों की हस्त-लिखित प्रतियाँ तथा अपने कुछ पत्र-व्यवहार के साथ अपनी पुस्तकों का वह संग्रह जो जूही में है, सभा को देना चाहता हूँ। यदि सभा चाहे तो किसी को भेजकर पुस्तकें आदि मँगा ले।

निश्चय हुआ कि यह दान धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जाय तथा यह समस्त संग्रह अलग अलमारियों में रक्खा जाय जिन पर यह लिखा रहे—"पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का संग्रह"। यह भी निश्चय हुआ कि मंत्री इस संग्रह के शीघ्र मँगवाने का प्रबन्ध करें और उसे सभा के उक्त निश्चय के अनुसार रक्षापूर्वक पुस्तकालय में रक्खें।

(१५) लाला संतराम का ५ अक्तूबर का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने अपने किए इत्सिंग के अनुवाद को सभा द्वारा प्रकाशित किए जाने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय और उन्हें १२ रु०) प्रति सोलह पेजी डबल क्राउन में छपे फ़र्मे के हिसाब से पुरस्कार दिया जाय।

(१६) निश्चय हुआ कि विशेष कार्यों के लिये यह अधिवेशन १२ कार्तिक १९८० को ६ बजे तक के लिये स्थगित किया जाय।

प्रबन्ध समिति

सोमवार १२ कार्तिक १९८० (२९ अक्तूबर १९२३)

समय संध्या के ६ बजे **स्थान—सभा भवन**

(१) बाबू वेणीप्रसाद के प्रस्ताव तथा बाबू दुर्गाप्रसाद के अनुमोदन पर पंडित मदनमोहन शास्त्री सभापति चुने गए।

(२) भाद्रपद तथा आश्विन १९८० के आय व्यय का निम्नलिखित हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया।

गत मास की बचत	१५३२।)५	अमानत	२३२।)
अमानत	२३५≡)	कार्यकर्त्ताओं का वेतन	२०३॥)॥।
डाक व्यय	९९॥।)॥।	छपाई	३६९२।≈)
नागरी प्रचार	॥-)	जोधसिंह पुरस्कार	१२॥)
पुस्तकालय	३४॥।)	नागरी प्रचार	२०॥।)
पुस्तकालय के लिये अमानत	३०)	पुस्तकालय	५१॥-)॥।
फुटकर	२२≈)॥।	पुस्तकालय के लिये अमानत	२०)
सभासदों का चन्दा	१५५)	फुटकर	७२॥)
हिन्दी पुस्तकों की खोज (संयुक्त प्र०)	१०६१॥।)	विज्ञापन	३६॥)
हिन्दी पुस्तकों की खोज (पंजाब)	२५०)	हिन्दी पुस्तकों की खोज (संयुक्त प्रा०)	२६०)॥।
		हिन्दी पुस्तकोंकी खोज(पंजाब)	५५॥)
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला	२२।-)	देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला	९॥≈)॥
पुस्तकों की बिक्री	९२३॥।≡)	पुस्तकों की बिक्री	४१)
पृथ्वीराज रासो	३८।≈)	मनोरंजन पुस्तकमाला	१७६।-)
भारतेन्दु ग्रन्थावली	१९।≈)।	सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	१५॥।-)

मनोरंजन पुस्तकमाला	३१४।-)	हिन्दी कोश	१५०॥●)॥
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	१०४॥-)।	तुलसीस्मारक	१॥-)
हिन्दी कोश	४८२॥)॥।		४६५७॥-)। ३८५॥≈)
तुलसी स्मारक	१८५८॥≈)॥।		५०५३≈)।
	३४२१॥)११ ३७५४।-)	बचत	२१२२॥।≈)८
	७१७६-)११		७१७६-)११

आश्विन १९८०

गत मास की बचत	२१२२॥।●)८	अमानत	१०७)
अमानत	११४≈)	कार्यकर्त्ताओं का वेतन	४०१॥-)।
नागरी प्रचार	१॥।≈)	छपाई	३२७।)॥।
पुस्तकालय	७२)	डाक व्यय	२०-)॥।
फुटकर	३९।●)॥।	पुस्तकालय के लिये अमानत	१५)
सभासदों का चन्दा	८६)	पुस्तकालय	८६॥●)॥
हिन्दी पुस्तकों की खोज (पंजाब)	२५०)	फुटकर	२४।)।
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला	५७॥)॥।	विज्ञापन	१२।)
पुस्तकों की बिक्री	२१६॥≈)॥।	मरम्मत	७३॥●)॥
पृथ्वीराज रासो	२६।)	हिन्दी पुस्तकों की खोज (संयुक्त प्रा०)	३९२॥≈)॥
भारतेन्दु ग्रंथावली	८॥।●)	हिन्दी पुस्तकों की खोज (पंजाब)	५८॥।≈)
मनोरंजन पुस्तकमाला	१७२।≈)॥।	देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला	७५९॥-)
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	७९)॥।	पुस्तकों की बिक्री	३०)
हिन्दी कोश	१५५॥-)	मनोरंजन पुस्तकमाला	१३१।≈)॥
तुलसी स्मारक	११४२॥-)	सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	६००)
	२६९६।≈)५ १८६०॥-)	हिन्दी कोश	१२९५॥।-)
	४५५७)५		१५१९॥)॥ २८१६॥।-)॥
			४३३६।●)
		बचत	२२०॥≈)५
			४५५७)५

(३) राय कृष्ण जी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि तुलसी ग्रंथावली में पंडित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी का जो लेख छपा है, उसमें गोस्वामी जी के उद्धत वाक्यों में बहुत काट छाँट की गई है और उसमें उन्होंने अपना मत प्रतिपादित किया है जो अनुचित है। अतः तुसली ग्रंथावली में उक्त लेख के पूर्व सभा एक चिट छापकर लगवा दे कि इस लेख के मत-निरूपण और प्रामाणिकता के लिये सभा जिम्मेदार नहीं है। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक लेख लिखा है, उसे सभा चाहे तो प्रकाशित कर दे।

निश्चय हुआ कि (क) सभा जिन लेखों और पुस्तकों को प्रकाशित करती है, उनमें प्रकट किया हुआ मत प्रत्येक अवस्था में लेखक का ही होता है, जब तक कि वह मत प्रबन्ध समिति द्वारा अनुमोदित होकर उसके किसी अधिकारी के हस्ताक्षर से प्रकाशित न हो। अतः पंडित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी जी के लेख के पूर्व चिट छापकर लगाने की आवश्यकता नहीं है। (ख) राय कृष्ण जी का लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक के पास प्रकाशनार्थ भेज दिया जाय।

(४) पुरोहित हरिनारायण शर्म्मा का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उनके यहाँ बुखार का प्रकोप हो जाने से अभी तक वे बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तक-माला के लिये कुछ कार्य न कर सके। पर अब वे "हरिजस" तथा "वृजनिधि ग्रंथावली" को पहले सम्पादित करने का उद्योग करेंगे।

निश्चय हुआ कि पुरोहित हरिनारायण शर्म्मा से प्रार्थना की जाय कि इनमें से किसी ग्रंथ को वे शीघ्र ही सम्पादित करके भेजने की कृपा करें जिसमें इस वर्ष वह ग्रंथ प्रकाशित किया जा सके।

(५) लाला रूपलाल वैश्य का पत्र उपस्थित किया गया जिसके साथ उन्होंने अपने "रूप निघण्टु कोश" की हस्त लिखित ६ कापियाँ भेजी थीं और लिखा था कि इस पुस्तक की समाप्ति करा देने के लिये सभा उन्हें एक लेखक की सहायता दे और इस पुस्तक की भाषा को संशोधित करके उसे प्रकाशित करा दे।

निश्चय हुआ कि लाला रूपलाल वैश्य से पूछा जाय कि (क) इस पुस्तक के समाप्त होने में कितना समय लगेगा; (ख) कितने रुपए की मासिक सहायता मिलने से वह उक्त समय में समाप्त हो जायगी; (ग) पुस्तक के समाप्त हो जाने पर क्या वे सभा को उसके प्रकाशन का सब अधिकार दे देंगे अथवा इस सम्बन्ध में उनकी क्या शर्तें होंगी।

(६) जूड़ा जिला बनारस के बाबू संग्रामसिंह अध्यापक का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि डाकखानों में मीन आर्डर के सफ़ेद और पीले फ़ार्म हिन्दी में छपे हुए नहीं मिलते जिससे सर्व साधारण को बड़ी असुविधा होती है।

निश्चय हुआ कि पोस्ट मास्टर जनरल को लिखा जाय कि वे इस त्रुटि को दूर कर दें।

(७) हिन्दी शार्ट हैंगड की पाठशाला खोलने के सम्बन्ध में उप-समिति की रिपोर्ट उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि मंत्री जी पंडित निष्कामेश्वर मिश्र से परामर्श करके यह पता लगावें की इस पाठशाला के लिये प्रति वर्ष कितने विद्यार्थियों के मिलने की सम्भावना है।

(८) लाहौर के श्रीयुत धर्मवीर जी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने पूछा था कि क्या सभा भाई परमानन्दजी का लिखा हुआ "युरोप का इतिहास" प्रकाशित कर सकेगी; और यदि करेगी तो इसके लिये क्या पुरस्कार देगी।

निश्चय हुआ कि पुस्तक को देखे बिना इस सम्बन्ध में सभा कुछ नहीं कह सकती।

(९) मंत्री के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि सभा के पुस्तकालय और कार्यालय आदि के लिये पड़ोस में जो अंजन चलता है, उससे बिजली की रोशनी करने का प्रबन्ध किया जाय और बिजली के लम्पों आदि के लगवाने के लिये २५०) रु० तक का व्यय स्वीकार किया जाय।

(१०) मंत्री के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि सभा भवन में बिक्री की पुस्तकों के रखने का अब कुछ भी स्थान नहीं है। अतः पुस्तकों का स्टाक रखने के लिये किराए पर कोई स्थान सभा भवन के समीप लिया जाय।

(११) निश्चय हुआ कि अब से सब पुस्तक-विक्रेताओं को सभा की पुस्तकों पर नीचे लिखे अनुसार कमीशन दिया जाय।

११) रु० से	२५) रु० तक	१०) रु० सैकड़े
२६) रु० से	५०) रु० तक	१५) रु० सैकड़े
५१) रु० से	९९) रु० तक	२०) रु० सैकड़े

१००) रु० या इस से अधिक की पुस्तकों पर २५) रु० सैकड़े

तुलसी ग्रंथावली, हिन्दी शब्द सागर, संक्षिप्त हिन्दी व्याकरण, सत्य हरिश्चन्द्र तथा प्रवेशिका पद्यावली पर १०) रु० से अधिक के आर्डरों पर पर १५) रु० सैकड़े कमीशन दिया जायगा। १०) रु० से कम के आर्डर पर किसी पुस्तक पर कोई कमीशन न दिया जायगा और काशी के पुस्तक-विक्रेताओं को प्रत्येक अवस्था में ऊपर लिखी हुई दर का आधा कमीशन दिया जायगा।

(१२) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबन्ध समिति

शनिवार ७ पौष १९८० (२२ दिसम्बर १९२३)

समय संध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन।

(१) १० कार्तिक और १२ कार्तिक १९८० के कार्य विवरण पढ़े गए और स्वीकृत हुए।

(२) कार्तिक १९८० के आय व्यय का निम्न लिखित हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया:—

गत मास की बचत	२२०॥=)५	अमानत	४४०)
अमानत	१४०)	कार्यकर्त्ताओं का वेतन	१३॥)
नागरी प्रचार	०)	छपाई	४॥।)

पुस्तकालय	४॥)	जोधसिंह पुरस्कार	=)
फुटकर	३॥।≈)	डाक व्यय	१॥=)॥
सभासदों का चन्दा	७५)	नागरी प्रचार	३०॥।)
बटुकप्रसाद पुरस्कार	२६॥)	पुस्तकालय के लिये अमानत	१५)
देवीप्रसाद ऐतिहासिक		पुस्तकालय	७-)
पुस्तकमाला	५८॥।≈)	फुटकर	२०॥)॥।
पुस्तकों की बिक्री	१४१॥।≈)	सभासदों का चन्दा	३)
पृथ्वीराजरासो	५१॥-)	हिन्दी पुस्तकों की खोज	
भारतेन्दु ग्रंथावली	४।≈)।	(अं० भा०)	३०॥≈)
मनोरंजन पुस्तकमाला	१०१)।	हिन्दी पुस्तकों की खोज	
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	२८॥।)	,, (पंजाब)	५१॥।)
हिन्दी कोश	१६६।-)॥।	देवीप्रसाद ऐतिहासिक	
तुलसी स्मारक	४५२॥)	पुस्तकमाला	।≈)
	३४८-)५ १०३८।-)।	मनोरंजन पुस्तकमाला	२७०=)॥
	१३८६।≈)८	सूर्यकुमारी पुस्तकमाला	२००)
		हिन्दी कोश	२३०)
			३०२॥।≡)। ७००॥-)॥
			१००३॥)३
		बचत	३८२॥।-)११
			१३८६।≈)८

बचत का ब्योरा

बनारस बंक, चलता खाता	१६५=)८
बनारस बंक, सेविंग बंक	१६४॥।=)७
रोकड़ सभा में	५२॥≡)८
	३८२॥।-)११

(३) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का २-११-२३ का पोस्ट कार्ड उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि अपना पत्र व्यवहार छाँटकर वे सभा को भेज सकेंगे; पर वह ताले कुंजी में बन्द रक्खा जाय, चाभी मंत्री के पास रहे और उसका उपयोग कभी उनके जीवन काल में न किया जाय। साथ ही मंत्री की यह सूचना उपस्थित की गई कि आठ सन्दूक पुस्तकों के द्विवेदी जी के यहाँ से आ गए हैं और शेष मार्च या अप्रैल में आवेंगे।

निश्चय हुआ कि पत्र व्यवहार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के इच्छानुसार ही कार्य किया जाय।

(४) पुरोहित हरिनारायण शर्मा का पत्र उपस्थित किया गया जिस के साथ उन्होंने बारहट बालाबख्श जी के दिए हुए दो हजार रुपए बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तक-माला फंड के लिये और भेजे थे।

निश्चय हुआ कि इसके लिये बारहट बालाबख्श जी को धन्यवाद दिया जाय और इन रुपयों से ३२००) रु० के प्रामिसरी नोट खरीद लिए जाँय जिसमें सब मिलाकर १२०००) के प्रामिसरी नोट इस फंड में हो जायँ।

(५) बाबू रूपलाल वैश्य का पत्र उपस्थित किया गया जिस में उन्होंने लिखा था कि यदि उन्हें एक सहायक के लिये ३०) रु० तक मासिक दिया जाय, तो वे अपना ग्रंथ १८ मास में समाप्त कर सकेंगे। सभा को वे ग्रंथ का पूर्ण अधिकार दे देंगे; पर इसके लिये उचित पुरस्कार की आशा रखते हैं।

निश्चय हुआ कि आगामी वर्ष से बाबू रूपलाल वैश्य को रूप निघण्टु के लिये १८ मास तक ३०) रु० की मासिक सहायता दी जाय, रूप निघण्टु का जितना अंश तैयार हो गया है, वह सभा में रख लिया जाय और आगे का अंश ज्यों ज्यों तैयार होता जाय, त्यों त्यों बाबू रूपलाल वैश्य उसे सभा में भेजते जायँ। ग्रंथकर्ता के पुरस्कार के सम्बन्ध में ग्रंथ के समाप्त होने पर विचार किया जायगा।

(६) गंगा पुस्तक माला के व्यवस्थापक का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि सभा ने पुस्तक-विक्रेताओं के लिये जो कमीशन अब नियत किया है, उससे कुछ अधिक कमीशन उन्हें मिलना चाहिए। साथ ही हिन्दी पुस्तक एजेन्सी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्हों ने पूर्ववत् ३०) सैकड़े कमीशन दिए जाने के लिये लिखा था।

निश्चय हुआ कि सभा ने नवीन नियमों के अनुसार जितना कमीशन देना निश्चित किया है, उससे अधिक कमीशन वह किसी को नहीं दे सकती।

(७) हिन्दी पुस्तकों की खोज की सन् १९२०-२२ की रिपोर्ट उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार की जाय और गवर्नमेंन्ट के पास भेज दी जाय।

(८) निश्चय हुआ कि निम्न-लिखित सज्जनों की एक उप-समिति बना दी जाय जो पुस्तकों पर विचार कर इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति सभा को दे कि इस वर्ष डाकूर छन्नूलाल पुरस्कार किस पुस्तक के रचयिता को दिया जाय।

बाबू फूलदेव सहाय वर्म्मा
पंडित चन्द्रशेखर वाजपेयी
पंडित सुखदेव पांड़े

(९) मंत्री ने सूचना दी की इस सभा के संरक्षक श्रीमान् महाराज साहब बड़ौदा आगामी जनवरी मास में काशी आनेवाले हैं। निश्चय हुआ कि श्रीमान् से प्रार्थना की जाय कि वे सभा भवन में पधारकर सभा का अभिनन्दनपत्र ग्रहण करें। अभिनन्दन-पत्र तैयार करने के लिये निम्न-लिखित सज्जनों की उप-समिति बना दी जायः—

बाबू गौरीशंकर प्रसाद जी
बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०
पंडित रामचन्द्र शुक्ल

(१०) प्रयाग के बाबू शालिग्राम और बाबू ज्ञानचन्द्र का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि सभा बौद्ध साहित्य तथा बौद्ध कालीन भारत के ऊपर एक विशद पुस्तक लिखवाने का प्रबन्ध करे और बौद्ध धर्म के कुछ मूलाधार ग्रंथों को भी प्रकाशित करे।

निश्चय हुआ कि मंत्री से प्रार्थना की जाय कि वे आगामी

अधिवेशन में सभा को यह सम्मति दें कि इस ग्रंथ के तैयार कराने का क्या प्रबन्ध किया जाय।

(११) सभा के हाथ मैदागिन की ज़मीन की बिक्री के लिये बनारस की म्युनिसिपैलिटी ने जो पत्र कमिश्नर साहब के पास भेजा था, उसकी प्रतिलिपि सूचनार्थ उपस्थित की गई।

(१२) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

प्रबन्ध समिति

रविवार २६ फाल्गुन १९८० (९ मार्च १९२४)

समय संध्या के ५ बजे, स्थान—सभा भवन

(१) गत अधिवेशन (७ पौष १९८०) का कार्य विवरण उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

(२) मार्गशीर्ष, पौष और माघ १९८० के आय व्यय का निम्न लिखित हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गयाः—

मार्गशीर्ष १९८०

आय का ब्योरा	साधारण विभाग	पुस्तक विभाग	आय का ब्योरा	साधारण विभाग	पुस्तक विभाग
गत मास की बचत	३८२॥।~)११		अमानत	१५८॥)।	
अमानत	३४२।≈)		कार्यकर्त्ताओं का		
जोधसिंह पुरस्कार	३३)		वेतन	२०९॥।≈)॥।	
नागरी प्रचार	१।≈)॥		छपाई	११०४॥)	
पुस्तकालय	७)		जोधसिंह पुरस्कार	।)	
पुस्तकालय के लिये अमानत	५)		नागरी प्रचार	१५।≈)	
फुटकर	६॥≈)॥		पुस्तकालय के लिये अमानत	५)	
सभासदों का चन्दा	१५)		पुस्तकालय	२७८।~)॥	
देवीप्रसाद ऐतिहासिक			फुटकर	९३≈)॥।	
पुस्तकमाला		३१॥≈)	डाक व्यय	११५।≈)॥।	
पुस्तकों की बिक्री		१६६॥≈)	विज्ञापन	६६)	
पृथ्वीराज रासो		८५)	हिन्दी पुस्तकों की खोज		

(Income, continued)

बालावस्था चारण पुस्तकमाला २०००)
भारतेन्दु ग्रंथावली १६≡)।।
मनोरंजन पुस्तकमाला ६९७।)।।
सूर्यकुमारी पुस्तक माला ८२=)।।।
हिन्दी कोश १२८॥)।।।
तुलसी स्मारक ३२७।≡)।।

७९३।)११ ३५३५=)।।।

४३२८।≡)८

(Expenditure, continued)

(सं० प्रा०) ४१६।≡)।
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला २६॥)
मनोरंजन पुस्तकमाला ४३५॥≡)
हिन्दी कोश १६०॥।-)

२४६६-) ६२३)

३०८९-)।
बचत १२३९।=)५

४३२८।≡)८

पौष १९८०

(Income)

गत मास की बचत १२३९।=)५
अमानत २६०॥)
नागरी प्रचार)।
पुस्तकालय ८॥)
पुस्तकालय के लिये अमानत २०)
बटुकप्रसाद पुरस्कार ।॥=)
फुटकर ७॥≡)७
सभासदों का चन्दा ६)
रत्नाकर पुरस्कार ३१॥=)।।।
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला २५॥।)।।
पुस्तकों की बिक्री १९५।≡)।।
पृथ्वीराज रासो ३५)
बालावस्था राजपूत चारण पुस्तकमाला १५४)
भारतेन्दु ग्रंथावली १३॥।=)।।
मनोरंजन पुस्तकमाला ३४०)।।।
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला ९१।)
हिन्दी कोश १८५॥)।।।
तुलसी स्मारक ९५॥।)।।

१५७७॥≡)। ११३७)।।।

२७१४॥)

(Expenditure)

अमानत ५७।)
कार्यकर्त्ताओं का वेतन २१५॥≡)।।।
छपाई ६४७-)
डाक व्यय २४)।।
नागरी प्रचार १०।=)
पुस्तकालय के लिये अमानत १५)
पुस्तकालय २१४।)।।
फुटकर ६८।)।।
सभा भवन पर टिकस ६०)
हिन्दी पुस्तकों की खोज १५५-)
स्थायी कोश ७०।-)।।।
मनोरंजन पुस्तक माला २४॥।=)।।
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला १५॥-।)।
हिन्दी कोश ४२९=)

१५३७॥।-)।।। ६८७॥।-)।।

२२२५॥≡)।।
बचत ४८९)।।

२७१४॥।)

माघ १९८०

गत मास की बचत	४८९)॥	
अमानत	३८७॥-)॥।	
जोधसिंह पुरस्कार	१२॥≈)	
नागरीप्रचार	१॥≠)	
पुस्तकालय	६६)	
पुस्तकालय के लिये अमानत	५)	
फुटकर	१४)	
सभासदों का चन्दा	१४)	
पुस्तकों पर रायल्टी	३६॥≠)।	
पुस्तकों की बिक्री		१६३॥।≈)।।।
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला		४७२॥≠)
पृथ्वीराज रासो		४०)
भारतेन्दु ग्रंथावली		४)॥।
मनोरंजन पुस्तकमाला		२५०॥।≈)
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला		२५५१)
हिन्दी कोश		२६९।≈)।
तुलसी स्मारक		१०३॥।≠)॥।
	१०२६॥।≈)॥	३८५५।।।-)॥
	४८८२।।।	

अमानत	५५३॥-)	
कार्यकर्त्ताओं का वेतन	१९५≈)।॥	
छपाई	५०)	
डाक व्यय	११३।।।≈)	
नागरी प्रचार	२५।≈)	
पुस्तकालय	२४९।।।≠)॥।	
पुस्तकालय के लिये अमानत	५)	
फुटकर	१०७-)।	
पदक	१२॥≈)	
स्थायी कोश	७१।-)	
पुस्तकों पर रायल्टी	५६॥≠)॥	
हिन्दी पुस्तकों की खोज (सं० प्रा०)	३७३।≠)।	
देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला		१०)
पुस्तकों की बिक्री		३६)
मनोरंजन पुस्तकमाला		८॥)
सूर्यकुमारी पुस्तकमाला		१५५१≠)॥।
हिन्दी कोश		२४५≠)
बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला		९९०)
	१८०४≈)॥	२८३२)॥।
	४६३६≠)।	
	बचत २४६॥)९	
	४८८२।॥)	

बचत का ब्योरा

१५६॥।≠)	बनारस बंक, चलताखाता
३०।)४	„ सेविंग बंक (प्राइज़ फंड)
१०)	„ „
४९।-)५	रोकड़ सभा में
२४६॥)९	

पंडित रामनारायण मिश्र के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि आगामी वर्ष से सभा के आय-व्यय का त्रैमासिक हिसाब ही समिति के सम्मुख उपस्थित किया जाया करे और उसकी छपी हुई प्रतियाँ समिति के अधिवेशन की सूचना के साथ सदस्यों के पास पहले ही भेज दी जाया करें। हिसाब इस प्रकार से छपे जिसमें वर्ष का बजट, गत तीन मासों का जोड़ तथा वर्त्तमान तीनों मासों का अलग अलग हिसाब रहे।

(३) आगामी वार्षिक चुनाव के लिये निम्न-लिखित पदाधिकारी और प्रबन्ध समिति के सदस्यों को निर्वाचित करने के लिये समिति ने ये प्रस्ताव स्वीकृत किए:—

सभापति—बाबू काशीप्रसाद जायसवाल

उप सभापति—राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

मंत्री—बाबू व्रजरत्न दास

उपमंत्री—पंडित बलराम उपाध्याय

प्रबन्ध समिति के अन्य सदस्य—

बाबू वेणीप्रसाद के स्थान पर बाबू वेणीप्रसाद

बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह के स्थान पर बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह

पंडित मदनमोहन शास्त्री के स्थान पर पंडित रामनारायण मिश्र

पंडित अमरनाथ जेतली के स्थान पर बाबू गौरीशंकर प्रसाद

पं० रामनारायण मिश्र के स्थान पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी

(४) बनारस की म्युनिसिपेलिटी का ६ मार्च १९२४ का पत्र नं० $\frac{७५८३}{५-८।२}$ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मैदागिन की जमीन का ४०००) रु० शीघ्र भेजकर सभा उसके बैनामे की रजिस्टरी अपने व्यय से करा ले।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय, बाबू गौरीशंकर प्रसाद जी से प्रार्थना की जाय कि वे बैनामे का मसौदा हिंदी में तैयार कर

दें और मंत्री २७ अक्तूबर १९२३ के निश्चय नं० १० के अनुसार ४०००) रु० का प्रबन्ध करके यह रुपया बनारस म्युनिसिपेलिटी को शीघ्र भेज दें।

(५) निश्चय हुआ कि हिंदी हस्त लिपि परीक्षा के जो पर्चे आए हैं, उन पर विचार कर सम्मिति देने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जायः—

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय
ठाकुर शिवकुमार सिंह और
बाबू ब्रजरत्न दास (संयोजक)

(६) जिन सभासदों के यहाँ दो वर्ष का चन्दा बाकी है, उनकी नामावली उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि यदि चैत्र के अन्त तक इन सज्जनों का चन्दा न आ जाय तो नियमानुसार इन का नाम सूची स में लिखा जाय।

(७) बाबू काशीप्रसाद जायसवाल का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने भवननिर्माण के लिये सभा को १०००) रु० की सहायता देने के लिये लिखा था।

निश्चय हुआ कि इस उदार सहायता के लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाय।

(८) पंडित प्रयागनारायण त्रिवेदी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि अवध की अदालतों में नागरी के प्रचार के लिये सभा को एक प्रभावशाली डेपुटेशन भेजना चाहिए।

निश्चय हुआ कि यह आगामी वर्ष के बजट के साथ विचारार्थ उपस्थित किया जाय।

(९) बाबू श्यामसुन्दर दास जी के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि आगामी वार्षिक अधिवेशन में यह प्रस्ताव उपस्थित किया जाय कि सभा का बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज़ तोड़ दिया जाय और हिसाब जाँचनेवालों का चुनाव अन्य कार्यकर्त्ताओं की भाँति सभा के वार्षिक अधिवेशन में हुआ करे।

(१०) निश्चय हुआ कि नागरीप्रचारिणी पत्रिका के द्वारा एक सूचना सर्व-साधारण को दी जाय कि जिन सज्जनों के पास बाला-बख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला में प्रकाशित किए जाने योग्य पुस्तकें हों, वे उन्हें कृपाकर सभा के पास भेजें। यह सूचना अन्य समाचारपत्रों में भी दी जाय, विशेषतः ऐसे समाचारपत्रों में जिनका प्रचार राजपूताने में अधिक हो।

(११) बाबू व्रजरत्न दासजी का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि यह समिति प्रति वर्ष एक उपसमिति बनाया करे जिसका कार्य पुस्तक-प्रकाशन तथा पुस्तकालय की व्यवस्था करना हो।

निश्चय हुआ कि यह अगले वर्ष से स्वीकार किया जाय और आगामी वर्ष के लिये निम्न-लिखित सज्जनों की उपसमिति बनाई जाय—

बाबू श्यामसुन्दर दास जी बी० ए०
पंडित रामचन्द्र शुक्ल
पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय
बाबू रामचन्द्र वर्म्मा
सभा के उपमंत्री (संयोजक)

(१२) कानपुर के बाबू जयंती सहाय का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने अपना चन्दा क्षमा किए जाने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि यह पत्र आगामी अधिवेशन में उन सदस्यों की नामावली के सहित, जिनका चन्दा क्षमा है, विचारार्थ उपस्थित किया जाय।

(१३) गोस्वामी रामपुरी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने आगामी अप्रैल के पहले सप्ताह में प्रान्तीय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सम्मेलन तथा प्रान्तीय प्रदर्शनी के लिये सभा का मैदान माँगा था।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(१४) मंत्री ने सूचना दी कि काशी के पंडित शिवनाथ मेहता इस सभा को "काशी पत्रिका" की फाइल देना चाहते हैं और इस

के बदले में चाहते हैं कि उन्हें सभा के पुस्तकालय से सदैव एक पुस्तक पढ़ने के लिये ले जाने की आज्ञा दी जाय।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि मराठी ज्ञानकोश के प्रकाशकों से प्रार्थना की जाय कि वे उसका एक संस्करण हिंदी में भी प्रकाशित करें अथवा सभा को ही उसके प्रकाशित करने की अनुमति दें।

(१६) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।